Rajasthan Sanskrit College Granthmala 12.

Shri Bisnu Sharma's

PANCHATANTRA

WITH THE COMMENTARY

ABHINAWARAJALAXMI

Pt. Guru Prasad Shastri,
VYAKARNACHARYA, NYAYACHARYA,
DARSHANACHARYA,
[Principal SHRI RAJASTHAN SANSKRIT COLLEGE, Benares]

PUBLISHED BY

BHARGAVA PUSTAKALAYA,

BENARES CITY.

3rd Edition]   1940   [Price -/14/-

All rights Reserved by the Publisher.

1st Edition	1—6—35	2000.
2nd Edition	1—9—37	2000
3rd Edition	19—6—40	2000.

PRINTED BY

B K. SHASTRI

JYOTISH PRAKASH PRESS, BENARES.

पण्डितराज-श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां [चिरावा-जयपुर] स्मारकं
श्रीराजस्थान-संस्कृत कालेज-ग्रन्थमालायाः फोन : 560283
द्वादशकुसुमम् ।

पञ्चतन्त्रम्

परीक्षोपयोगिन्या अतिमहत्या 'अभिनवराजलक्ष्मी'
टीकया विराजितम् ।

टीकाकारः—
श्रीगुरुप्रसादशास्त्री,
व्याकरणाचार्यः, न्यायाचार्यः, दर्शनाचार्यः ।
[प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट काशी] ।

[अत्युत्तमं शुद्धं सुन्दरं संस्करणम्]

प्रकाशकः
भार्गव पुस्तकालयः,
गायघाट, काशी ।

परिवर्द्धितं तृतीयं संस्करणम् | १९९७ ज्येष्ठपूर्णिमा | मूल्यम् ।।।=)

प्रकाशक—

भार्गव पुस्तकालयः,

गायघाट, काशी।

२५८२

मुद्रकः—

वी० के० शास्त्री;

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी।

पञ्चतन्त्र का जीर्णोद्धार

महामहोपाध्याय श्रीविष्णुशर्मा कृत 'पञ्चतन्त्र' का भारतवर्ष मे ही नही संसार मे सर्वत्र ही विशेष आदर है। फ्रेञ्च, जर्मन, इटेलियन, अंग्रेजी, हिन्दी, ऊर्दू, अरबी, फार्सी, हिब्रू, लेटिन, रसियन, आदि सभी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए है और उनका बड़ा प्रचार भी है।

अत· इसकी उपादेयता और उपकारिता के विषय मे विशेष कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे—यह ग्रन्थ सुन्दर २ कथाओ से, अद्भुत २ उपाख्यानों से बालको के मन को आकृष्ट करता है, वैसे ही धुरन्धर विद्वानों और प्रकाण्ड राजनीतिज्ञो को भी संसार की उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने मे, राजनीति के सूक्ष्म तत्त्वों के विशद विवेचन करने मे, अनुपम सहायता देकर समानरूप से उपकृत करता है।

पञ्चतन्त्र की भीषण दुर्दशा।

यद्यपि इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ रत्न के बहुत से संस्करण हुए है परन्तु उनमे प्राय. अबाध रूप से अशुद्धियो की बहुलता देखने मे आती है।

गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल एवं संस्कृतपरीक्षा बोर्ड के अध्यक्ष माननीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगोपीनाथजी कविराज महोदय ने इस ग्रन्थ के महत्त्व को देखकर सभी विषयों की प्रथमा व मध्यमा-परीक्षाओ में इसको जब से स्थान दिया, तब से इसके पठन-पाठन को और भी विशेष प्रोत्साहन मिला। और—'पञ्चतन्त्र' 'हितोपदेश' ले के का खिलवाड़ कर थौव हो ? ई कुल पुराण हमहन नाही पढाईल । अलबत्ते दशकुमार लिआब ! कादम्बरी पढ ! भारतचम्पू देख–तो हम अलबत्ते पढा सकील। ई तो कुल लडकन कर खिलवाड आय"–इस तरह कह कर पञ्चतन्त्र से पीछा छुडानेवालो को भी जब प्राय अशुद्ध संस्करणो पर से पञ्चतन्त्र पढाना पड़ा, तब तो कठिन समस्या

उपस्थित हुई। क्योंकि-पञ्चतन्त्र के पाठो मे वहुत ही गड़बड़ थी। तव लगी सटीक पञ्चतन्त्रो की खोज होने। चला विमर्श कि-'किस टीका में क्या अर्थ है'? और 'उनमें अर्थों में कौन ठीक है'? इत्यादि। परन्तु पाठ तो प्रायः अशुद्ध थे, उनको चतुर टीकाकारो ने केवल बुद्धि व पाण्डित्य के जोर से तोड़ मरोड़ कर किसी तरह लिख-पढ कर पिण्ड छुडाया था। जो विचारे साधारण छात्र थे उनको तो गुरुजी ने थोडा जोर से बोलकर, या डॉट डपट कर, किसी अंटसंट टीका का हवाला देकर, किसी तरह चुप करा पाठ पढा दिया, पर जो थोड़े विवेचक छात्र थे-वे सदाही उन पाठों को लेकर इतस्ततः पूछते फिरते थे, पर सन्तोष कदाचित् ही किसी का होता था।

साहित्य के काशीस्थ एक विद्वान् ने अपने छात्रो से स्पष्ट ही कहा था कि 'भाई! एक सटीक पञ्चतन्त्र हमारे लिये लेते आया करो, तो हम तुम्हे पढा दिया करेंगे। नही तो तुम अन्यत्र किसी से पढ लिया करो। हमे तो 'कादम्वरी' 'काव्यप्रकाश' पढाने से ही अवकाश नही मिलता है,-तुम देखते ही हो,-क्या करें!' इत्यादि।

इसी प्रकार हमारे एक मित्र ने भी २-३ स्थल निकालकर हम से कहा था कि-'ऐसे २ वहुत से स्थलो पर विद्यार्थियो को हमने-"किसी देश विशेष मे यह प्रसिद्ध है" "किसी वड़े कोश मे देखना। क्या करें, हमारा तो बडका कोश मिल नही रहा है, मिलेगा तो हम स्वयं ही देखेंगे"-इत्यादि शब्दो से ही किसी तरह शान्त किया है। भाई! पाठ तो ऐसा अण्ड-बण्ड था कि कुछ अक्किल नही काम देती थी। अत आप ही कहिए और करते भी क्या?" इत्यादि।

इस प्रकार इस पञ्चतन्त्र की अशुद्धियों से दुर्दशा थी। इसे पढते-पढाते समय अच्छे २ लोगो का हृदय धडकने लगता था। और उसका कारण केवल पाठों की अशुद्धिया थी।

अत. 'श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज' ने विद्वानो और छात्रों के लाभार्थ यह सस्ता और पूर्वापेक्षया नितान्त शुद्ध संस्करण निकाला है।

इसमे ४००-५०० से ऊपर ही पाठ ठीक किए गए है। उसमे से २-४ उदाहरण के रूप में नीचे हम लिखते है,-जिन्हे देखकर सहृदय विद्वानों के मुख से सहसा यह निकले विना न रहेगा कि-हॉ, हॉ, यही पाठ तो ठीक है!, यही तो यहॉ होना चाहिए था!!।

उदाहरण—

सुवृत्तोऽपि सुशीलोपि यात्यदानादधो घटः ।
अथ काणाऽपि कुब्जापि दानादुपरि कर्कटी ॥

यह पाठ प्रचलित सभी पुस्तकों में ऐसा ही है । और पञ्जाब के एक सुप्रतिष्ठित टीकाकार ने इसका अर्थ किया है कि—"घड़ा जब रहेगा तब पलङ्ग के नीचे ही रहेगा, पर ककड़ी को तो पलङ्ग के ऊपर बैठ कर ही लोग खाते है" इत्यादि । कहिए कैसा अर्थ है ? इस अर्थ से आप लोगों को सन्तोष होता है ? । यदि नही तो सुनिए !—यहाँ यह पाठ ही नही है—किन्तु—एक अक्षर बदल दीजिये—'कर्कटी' की जगह 'कर्करी' पढ़िये । (कर्करी=झारी, करुवा, कमण्डलु । जिसे राजपूताना में 'करी' और 'तूतिया' कहते है ।) कविका भाव यह है कि—दान देते समय और जल पिलाते समय घडे से जल नही दिया जाता है, और न पिलाया जाता है । किन्तु करुवा से ही जल दिया जाता है । इसी महत्त्व के कारण (काणा=एक छिद्रवाली, कुब्जा—घडे की अपेक्षा अत्यन्त छोटी भी) कर्करी—करुवा घडे के ऊपर ही रखी जाती है । (सभी जगह प्याऊ पौसरा आदि में नीचे घडा रख कर उसके ऊपर पानी पीने आदि के लिए करी रखते हैं—यह लोक प्रसिद्ध है ।) । अब आप उस अर्थ से और इस अर्थ से तुलना कीजिए । कहिए वह पाठ ठीक है, या हमारा पाठ ठीक है ? ।

और भी—

पूर्णाऽपूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यात्किरातानाम् ॥

[१ तन्त्र श्लो १७]

कहिए यहाँ वैश्यों के वर्णन में किरात का क्या प्रसङ्ग है ? किरात लोग कब से वाणिज्य करने लगे ? । अच्छा अब सुनिए यहाँ 'किरातानां' इस प्रचलित पाठ की जगह 'किराटानाम्'—यह पाठ है । किराट=वैश्य । इसी का अपभ्रंश 'किराड'-'किराणा' आदि शब्द 'मारवाडी' 'गुजराती' 'महाराष्ट्र' एवं बगाली भाषाओ मे मिलते है । क्षेमेन्द्र ने भी 'कलाविलास' में टकार के अनुप्रास के साथ किराट शब्द का प्रयोग किया है—"किराटोऽटति साटोपं चेलाञ्चित-कटीतट·" इत्यादि ।

और भी—

'क्षीणः स्रवति शशी रविवृद्धो वर्द्धयति पाथसां नाथम्'।

[पृष्ठ-४१५]

कहिए-क्षीण चन्द्रमा का झरना कही सुना है? और रवि की वृद्धि भी सुनी है?। यदि नही तो यह श्लोक कैसे लगा?।

अच्छा देखिये जरा यहाँ ऐसे पढ़िये—

'क्षीणः श्रयति शशी रविम्, ऋद्धो वर्द्धयति पाथसां नाथम्।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां, श्रियमनुभवन्त्यन्ये!॥'

'चन्द्रमा विपत्तिकाल में-अमावस्या के दिन-सूर्य के यहाँ आश्रय पाता है, पर जब उसके समृद्धि के दिन लौटते है-जब वह परिपूर्ण होता है पूर्णिमा को-तो-सूर्य को भूल जाता है-अर्थात् उससे दूर हो जाता है, और समुद्र को बढ़ाता है। ठीक ही है, जो लोग विपत्ति काल में धनियों की सहायता करते है उन्हें वे अवसर में याद नही रखते!' यह इसका अर्थ है।

अब आप ही कहिए—यहाँ कितना उत्तम कवि का भाव है, पर उसकी अशुद्ध पाठों से क्या दुर्दशा हो रही थी। प्रचलित पाठ ठीक है या हमारा कल्पित पाठ ठीक है? यह तो आप स्वयं तुलना कीजिए।

और भी—

'यस्मिन् कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिक्षणीयः।
तस्मिन् विनष्टे कुलसारभूते न नाभिपङ्के ह्यरयो वहन्ति॥'

कहिए इस श्लोक का अर्थ बैठता है?। यदि नहीं तो हमारा पाठ निकालिए 'तस्मिन्विनष्टे हि कुलं विनष्टं न नाभिभङ्गे ह्यरका वहन्ति'। 'रथ के चक्र की नाभि टूट जाए तो क्या पहिए की पंखुडी (खाली डंडे) से रथ चल सकेगा? नहीं, इसलिये प्रधान की रक्षापर ध्यान देना चाहिए'। यह इस श्लोक का भावार्थ है। (अरा एव अरकाः)।

इसी प्रकार मूलकी तरह पञ्चतन्त्र के अर्थांश मे भी बहुत जगह टीका-टिप्पणी आदि में मनमानी हुई है। जैसे-'पापर्द्धि' शब्द शिकार का वाचक प्रसिद्ध है। हेमचन्द्र ने भी अपने कोश में 'पापर्द्धिर्मृगयाऽऽखेटः' यह लिखा है। मारवाड़ में बहेलिये को 'पारधी' कहते भी हैं। और महाराष्ट्र भाषा में

भी मृगया को 'पारधी' कहते है। पर कुछ लोगो ने पापर्द्धि का 'पापस्य ऋद्धि-वृद्धि कर्तुं गत इत्यर्थ' ऐसा अर्थ किया है!। कहिए यह अर्थ का अनर्थ नही तो क्या है ? । इसी तरह एक जगह 'चटित' का अर्थ-'टूटा हुआ' किया है, पर इसका अर्थ तो है-'चढा हुआ' और 'हाथ लगा'।

कितना लिखें-इस प्रकार बहुत सी प्रचलित अशुद्धियाँ इस संस्करण में ठीक की गई है। और हमारा यह पञ्चतन्त्र के जीर्णोद्धार[१] का कार्य—विद्वानो को बहुत पसन्द आया है, इसी लिए अत्यल्प समय मे ही इसका पहिला संस्करण व दूसरा संस्करण समाप्त होगए हैं। यह बडे हर्ष की बात है।

इसके संशोधन के समय-बहुत स्थलो मे 'हार्वर्ट-ओरियन्टल-सिरीज' के पञ्चतन्त्र से भी हमने सहायता ली है।

बडे ही हर्ष का विषय है कि—

गुणग्राही विद्वानों नें तथा छात्रो नें हमारे इस पञ्चतन्त्र को इतना अधिक पसन्द किया कि पहिला व दूसरा संस्करण हाथो हाथ बिक गया। और हमे थोडे ही समय मे इसका तृतीय संस्करण करना पड़ रहा है। इस प्रकार विद्वानों द्वारा प्रोत्साहित हो हम पूर्वापेक्षया इसको और भी आकर्षक रूप में निकाल रहे है, तथा प्रथमसंस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण मे तथा तद-

---

१—आठ सौ वर्ष पहले भी इस पञ्चतन्त्र का बड़े २ विद्वानों की देखरेख में जीर्णोद्धार एव सशोधन हुआ था, क्योंकि उस समय भी, यह अति अशुद्ध रूप में ही उपलब्ध था। जैसे—

श्रीसोममन्त्रिवचनेन विशीर्णवर्णमालोक्य शास्त्रमखिल खलु पञ्चतन्त्रम्।
श्रीपूर्णभद्रगुरुणा गुरुणाऽऽदरेण सशोधित नृपतिराततिविवेचनाय ॥ १ ॥
प्रत्यक्षर प्रतिपद प्रतिवाक्यं प्रतिकथ प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णभद्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम् ॥ २ ॥
'प्रत्यन्तरं न पुनरस्त्यमुना क्रमेण कुत्रापि किञ्चन जगत्यपि'-निश्चयो मे।
किन्त्वाद्यसत्कविपदाऽक्षतबीजमुष्टिः सिक्ता मया मतिजलेन जगाम वृद्धिम् ॥ ३ ॥
शरबाणतरणिवर्षे [१२५५ वै०] रविकरवदिफाल्गुने तृतीयायाम्।
जीर्णोद्धार स्वासौ प्रतिष्ठितोऽधितिष्ठितो विबुधैः ॥ ४ ॥

पेक्षया तृतीयसंस्करण मे टीका बहुत बढा दी गई है और बहुत से अवशिष्ट असंलग्न पाठो को इस तृतीय संस्करण में शुद्ध किया गया है। तथा स्थूलाक्षरोसे इसे सुपाठ्य बनाने का पूरा ध्यान रखा गया है अत. पूर्वापेक्षया यह तृतीय संस्करण और भी अधिक उपादेय हो गया है। आशा है— छात्रवर्ग अधिकाधिक इससे लाभ उठाएगा।

श्रीराजस्थान संस्कृत-कालेज,
मीरघाट, काशी।
१९—६—४०

निवेदक—
श्रीगुरुप्रसादशास्त्री।

१९३४

पञ्चतन्त्रे अपरीक्षितकारके प्रश्नाः ।

१ अधोलिखितस्य गद्यस्य शुद्धहिन्दीभाषयाऽनुवादः कार्यः—

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकमासाद्य क्षितितलनिहितजानुचरणो 'नमोऽस्तु' 'वन्दे' इत्युच्चार्य लब्धधर्मवृद्धयाशीर्वादः सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह—'भगवन्नद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेनाऽस्मद्गृहे कर्त्तव्या ।' इति । स आह–'भोः श्रावक, धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि ? किं वयं ब्राह्मणसमाना यत आमन्त्रणं करोषि ? । वयं सदैव तत्कालपरिचर्य्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः । तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियाञ्च कुर्म्मः । तद् गम्यताम् । नैवं भूयोऽपि वाच्यम् ।' २०

२ 'ततश्चैकेनौत्सुक्यादस्थिसञ्चयः कृतः । द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम् । तृतीयोऽपि यावज्जीवनं तत्र सञ्चारयति तावत्सुबुद्धिना निषिद्धः ।'

इत्येतानि वाक्यानि यस्या उद्धृतानि तां कथां सरलसंस्कृतभाषामाश्रित्य संक्षेपेण लिखत ।

३ अधोलिखितस्य गद्यस्य संस्कृतभाषया व्याख्या कार्या—

'माम ! किमनेन वृथानर्थप्रचालनेन ? । यतश्चौरकर्मप्रवृत्तावावाम् । निभृतैश्च चौरजारैः स्थातव्यम् । अपरं–त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरं शङ्खशब्दानुकारं दूरादपि श्रूयते । तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सुप्ताः सन्ति । ते उत्थाय आवयोर्वधं बन्धं वा करिष्यन्ति । तद् भक्षय तावदमृतमयीश्चिर्भटी, मा त्वमव्यापारपरो भव' । २०

४ सोमशर्मपितुः कथा संक्षेपेण संस्कृतभाषया वर्णनीया । २०

५ अधोलिखितवाक्यानां सरलसंस्कृतभाषया व्याख्या कार्या—

(क) महती क्लेशपरम्परैषा राज्यस्थितिः ।

(ख) सर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति ।

(ग) कस्ते दोषः, यत. सर्वोऽपि जनो लोभेन विडम्बितो बाध्यते ।

(घ) यो लौल्यात्कर्म कुरुते नैवावेक्षते चोदर्कं स विडम्बनामवाप्नोति ।

(ङ) शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तं यद्वानरवसयाऽश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति ।

१९३५

पञ्चतन्त्रेऽपरीक्षितकारके प्रश्नाः

१ अधोलिखितसन्दर्भयोः शुद्धहिन्दीभाषायामनुवादः कार्य्यः—

(क) कस्मिंश्चिदधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स्म। तस्य कदाचित् पटकर्माणि कुर्वतः सर्वपटकर्मकाष्ठानि भग्नानि। तत. स कुठारमादाय वने काष्ठार्थं गत । स च समुद्रतटं यावद् भ्रमन् प्रयातः, ततश्च तत्र शिशपापादपस्तेन दृष्टः। ततश्चिन्तितवान् 'महानयं वृक्षो दृश्यते। तदनेन कर्तितेन प्रभूतानि पटकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति।' इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान्। अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्व्यन्तरः समाश्रित आसीत्। अथ तेनाभिहितम्—"भो! मदाश्रयोऽयं पादपः सर्वथा रक्षणीयः, यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकल्लोलस्पर्शनाच्छीतवायुनाप्यायित."।

कौलिक आह—"भोः किमहं करोमि। दारुसामग्री विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते। तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम्। अहमेन कर्तयिष्यामि।" ३३

(ख) कस्मिंश्चिदधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। स च प्रयोजनवशाद्ग्रामे प्रस्थित. स्वमात्राऽभिहित.—'यद्वत्स! कथमेकाकी व्रजसि?। तदन्विष्यता कश्चिद् द्वितीय.'। स आह—"अम्ब! मा भैषी.। निरुपद्रवोऽयं मार्ग', कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि"। अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात्कर्कटमादाय मात्राऽभिहित—"वत्स! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेष कर्कटोऽपि सहायो भवतु। तदेनं गृहीत्वा गच्छ। सोऽपि मातुर्वचनादुभाभ्यां पाणिभ्या तं संगृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्रं प्रस्थितः। अथ गच्छन् ग्रीष्मोष्मणा सन्तप्तः कञ्चिन्मार्गस्थं वृक्षमासाद्य तत्रैव सुप्तः।

२ देवशर्मब्राह्मणनकुलकथा स्वसंस्कृतेन संक्षेपतो वर्णनीया ।
शतबुद्धिसहस्रबुद्धिमत्स्यकथा स्वसंस्कृतेन संक्षेपतो वर्णनीया २०

३ अधोलिखितवाक्येषु कयोश्चिद् द्वयोर्वाक्ययोर्हिन्दीभाषया व्याख्या कार्या- ८

(क) 'विभवक्षयादपमानपरम्परया परं विषादं गतः' ।

(ख) 'किम्पाकरसास्वादप्रायमेतत्सुख परिणामे विषवद्भविष्यति' ।

(ग) यद्यप्येतदस्ति तथापि मित्रवचनमनुलङ्घनीयम् ।

४ अधोलिखितवाक्येषु त्रयाणा संस्कृतेन व्याख्या कार्या— १२

(क) अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वाप समायातो यावत्पश्यति तावत्पुत्र-शोकाभितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति ।

(ख) मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः ।

(ग) दैववशात् सम्पद्यते नृणां शुभाशुभम् ।

(घ) को गुणो विद्याया येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्य अर्थोपार्जना न क्रियते ।

१९३६

अपरीक्षितकारके प्रश्ना ।

१ अधोलिखितसन्दर्भयो. सरलहिन्दीभाषायामनुवाद कार्य्य·—

(क) अथ कदाचित् तेषा गोष्ठीगताना जालहस्तधीवरा प्रभूतैर्मत्स्यैर्व्यापादितैर्मस्तके विधृतैरस्तमनवेलाया तस्मिन् जलाशये समायाता· । तत· सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथ. प्रोचुः—'अहो ! बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते स्वल्पसलिलश्च । तत्प्रभाते अत्र आगमिष्याम ।' एवमुक्त्वा स्वगृहं गता. । मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्रं चक्रु । ततो मण्डूक प्राह— 'भो. शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवद्भ्याम् ? तत्र किमत्र युज्यते कर्तुम् ? पलायनमवष्टम्भो वा ? यत्कर्तु युक्तं भवति तत् आदिश्यतामद्य' । तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धि. प्रहस्य प्राह—'भो मित्र ! मा भैषीर्यतो वचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्य्यम् । ३५

(ख) अस्त्येतत् , परं न वेत्सि त्वं गीतं केवलमुन्नदसि । तत् किं तेन

स्वार्थभ्रंशकेन ?। रासभ आह—'धिक् धिङ्मूर्ख ! किमहं न जानामि गीतम् ?। तत् कथं भगिनीसुत ! मामनभिज्ञं वदन्निवारयसि' ?। शृगाल आह—'माम ! यद्येवं तदहं तावद्वृतेर्द्वारस्थित क्षेत्रपालमवलोकयामि। त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु'। तथा अनुष्ठिते रासभरटनमाकर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधाद्दन्तान् घर्षयन् प्रधावित। यावद्रासभो दृष्टस्तावल्लगुडप्रहारैस्तथा हतो यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतित। ततश्च सच्छिद्रोलूखलं गले बद्ध्वा क्षेत्रपाल प्रसुप्तः। रासभोऽपि स्वजातिस्वभावाद्गतवेदनः क्षणेन अभ्युत्थितः। ३५

२ 'वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः'।
अमुं श्लोकमुद्दिश्यैका कथा स्वसंस्कृतेन वर्णनीया। १८

३ अधोलिखितवाक्येषु त्रयाणां स्वसंस्कृतेन व्याख्या कार्या—

(क) ते च दारिद्र्योपहता परस्परं मन्त्रं चक्रु।

(ख) तत्स्थानं खनित्वा निधिं गृहीत्वा व्याघुट्यताम्।

(ग) यदा त्वमिव कश्चित् धूतसिद्धवर्तिरेवमागत्य त्वामालापयिष्यति तदा तस्य मस्तके चटिष्यति।

(घ) वयं सर्वविद्यापारे गताः, तदुपाध्यायमुत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छाम १२

१९३७

अपरीक्षितकारके प्रश्नाः

१ निम्नाङ्कितगद्यभागयोः सरलहिन्दीभाषायामनुवाद कार्य्यः—

(क) अथ स समालोक्य प्रहृष्टमना यथासन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरसि अताडयत्। सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणाद्भूमौ निपतित। अथ तं स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच, 'तदेतद्धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण, भद्र! पुन कस्यचिन्नाख्येयो वृत्तान्त।' नापितोऽपि स्वगृहे गत्वा व्यचिन्तयत्, नूनमेते सर्वेऽपि

नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति। २४

(ख) अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्व्यन्तरः समाश्रित आसीत्। अथ तेन अभिहितं भो! मदाश्रयोऽयं पादपः, सर्वथा रक्षणीयः। यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकल्लोलस्पर्शनात् शीतवायुना आप्यायितः। कौलिक आह—भोः! किमहं करोमि, दारुसामग्री विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते। तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम्। अहमेनं कर्त्तयिष्यामि। व्यन्तर आह—भोः! तुष्टस्तवाहम्, तत् प्रार्थ्यतामभीष्टं किञ्चित्। रक्षैनं पादपमिति।

२ 'अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुलार्थतः॥'
इत्यमुं श्लोकमुद्दिश्यैका कथा स्वसंस्कृतेन लेख्या। १०

३ अधोलिखितवाक्येषु त्रयाणां स्वसंस्कृतेन व्याख्या कार्य्या। १२

(क) मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः।

(ख) अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत् पश्यति।

(ग) अतोऽहं ब्रवीमि, नैकान्ते बुद्धिरपि प्रमाणम्।

(घ) कथमहं तस्य नृपापसदस्यानृणताकृत्येनापकृत्य करिष्यामि।

४ अथ तस्मिंश्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्यान्वेषणपरस्तत्पदपङ्क्त्या यावत्किञ्चिद्वनान्तरमागच्छति तावद्रुधिरप्लावितशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः क्वणन् उपविष्टस्तिष्ठति।

सन्दर्भ एष सरलसंस्कृतेन व्याख्यातव्यः। १०

१९३१

मध्यमपरीक्षा प्रथमखण्डे

पञ्चतन्त्रस्य प्रथमतन्त्रे प्रश्नाः ।

१ अधोलिखितं गद्यं शुद्धहिन्दीभाषयाऽनूद्यताम्—

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने एकः कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स कदाचित्प्रमादादर्द्धभग्नघटकर्परतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन् पतितः । ततः कर्परकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लावितततनुः कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्चापथ्यसेवनात् स प्रहारस्तस्य करालतां गतः, कृच्छ्रेण नीरोगतां नीतः । अथ कदाचिद्दुर्भिक्षपीडिते देशे स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चिद्राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास यत्—वीरः पुरुषः कश्चिदयम् । नूनं तेन ललाटपट्टे संमुखप्रहारः । अतस्तं संमानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां पश्यतां विशेषप्रसादेन पश्यति स्म । तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमीर्ष्याधर्म्मं वहन्तो राजभयान्न किञ्चिदूचुः ।

अथान्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेः वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां विग्रहे समुपस्थिते प्रकल्प्यमानेषु गजेषु सन्नह्यमानेषु वाजिषु योधेषु प्रगुणीक्रियमाणेषु तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्टो निर्जने ।

३ उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसावसाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥
अथ पद्यस्य सरलहिन्दीभाषाया भावार्थो लेख्यः । ५

४ पञ्चतन्त्रीयपञ्चमतन्त्रान्तर्गता कापि कथा स्वसंस्कृतभाषाया लिख्यताम् ।
सा च पञ्चाशत्पङ्क्तिभ्योऽधिका न भवेत् । १०

५ सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वातौ सागरशुक्तिसम्पुटगतं तज्जायते मौक्तिकं
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥
अस्य पद्यस्य सरलसंस्कृतभाषया व्याख्या क्रियताम् । ५

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिभिः परिष्कृतं पञ्चतन्त्रकम् ।

—:※:—

* श्रीगणेशाय नमः *

पञ्चतन्त्रकम्

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचितया—

अभिनवराजलक्ष्मीटीकया विराजितम् ।

अथ कथामुखम्

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ॥१॥

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता—

अभिनव-राजलक्ष्मीः

वन्देऽनवद्यसद्धृद्यविद्योद्योतितदिङ्मुखान् ।
मरुमण्डलमार्त्तण्डस्नेहिरामाभिधान् गुरून् ॥ १ ॥

कथायाः—मुखं=प्रारम्भः । भूमिकेति यावत् । 'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निस्सरणास्ययोरि'ति हैमः ।

ब्रह्मेति । कुमारः=स्कन्दः । हरिः=विष्णुः । सरस्वती=शारदा । समुद्राश्चत्वारः सागराः । युगाः=सत्य-त्रेता-द्वापर-कलियुगाः । उर्वी=पृथ्वी । भुजङ्गाः=सर्पाः । नद्यः=गङ्गाद्याः । दितिः=दैत्यमाता । अदितिसुताः=देवाः । मातरः=चण्डिकाद्याः । 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा । वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः' ॥ इति । गणाः=गणचारिणो देवाः—आदित्याद्याः, शिवगणाश्च । वसवः=अष्टौ वसवः । मुनयः=देवब्रह्मर्षयोऽन्ये च सिद्धा मुनयः । नव ग्रहाश्च=आदित्याद्याः—संसारमस्मान्—अध्येतृपाठकाश्च । पान्तु=रक्षन्तु ॥ १ ॥

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः ॥२॥
सकलाऽर्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ॥३॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तत्र सकलाऽर्थिकल्पद्रुमः, प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगलः, सकलकलापारङ्गतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव । तस्य पुत्राः परमदुर्मेधसो—बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः ।

मनवे=राजर्षये मनुस्मृतिकर्त्रे । वाचस्पतये=बृहस्पतये । ससुताय=पुत्रयुताय पराशराय । (पराशरसुत =व्यास)। चाणक्याय=कौटल्याय। एभ्यो नयशास्त्रकर्तृभ्य =नीतिशास्त्रप्रणेतृभ्य –नम =नमोऽस्तु ॥ २ ॥

सकलेति । सकलाना=सर्वेषा श्रेष्ठानाम् । अर्थशास्त्राणा=नीतिशास्त्राणाम् । इदं=वक्ष्यमाणं । सारं=तत्त्व । जगति=संसारे । समालोक्य=अनुभूय, अधिगत्य च । सुमनोहरं=बालादिमनोहारि । एतत्=पञ्चतन्त्राख्यं । शास्त्रं=नीतिशास्त्रं । पञ्चभिस्तन्त्रै =प्रकरणै । चक्रे । सकलनीतितत्त्वमत्र यथावदनुभूतं लोके परम्पराप्राप्तं च बालोपकृतये–निरूपितमित्याशय ॥ ३ ॥

तत्=पञ्चतन्त्राख्य शास्त्रम् । यथाऽनुश्रूयते=यथा प्रारभ्यते, प्रचलति च गुरुपरम्परया । 'तथोपदिशाम' इति शेष । वृद्धपरम्पराऽनुश्रुता कथा कथयाम इति भाव ।

यद्वा–तत्=वक्ष्यमाणं पञ्चतन्त्रवर्णितं कथाजातं, यथा=येन प्रकारेण जगति प्रसिद्धं । 'तथोपदिशाम' इति शेष । अनुश्रूयते=कर्णाकर्णिकया श्रूयते–यत्–'दाक्षिणात्ये जनपदे=मण्डले, महिलारोप्यं नाम नगरमस्ती'त्यन्वय ।

तत्र=नगरे । सकलानाम्–अर्थिना=याचकाना–कल्पद्रुम इव सकलार्थिकल्पद्रुम =अर्थिसार्थमनोरथाना पूरक । प्रवराणा=श्रेष्ठाना राज्ञा, ये मुकुटमणय =किरीटरत्नानि, तेषा मरीचय =कान्तय एव मञ्जर्य , ताभिश्चर्चितं=रञ्जितं–पूजितं–चरणयोर्युगलं यस्य स =सकलराजमान्य । सकलाना–कलाना=विद्याना, पारङ्गत =तत्त्वदर्शी । तस्य=अमरशक्तिभूपते. । दुष्टा मेधा–बुद्धि –येषान्ते दुर्मेधस ।

अथ राजा तान्शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच-'भोः! ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च, तदेतान्पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताऽजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय, यावज्जीवं जडो दहेत्॥ ४॥

वरं गर्भस्रावो, वरमृतुषु नैवाभिगमनं,
वरं जातः प्रेतो, वरमपि च कन्यैव जनिता।
वरं वन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान्रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः॥ ५॥

किन्तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन? यो न विद्वान्न भक्तिमान्॥ ६॥

'नित्यमसिच्प्रजामेधयो'रित्यसिच्। परमाश्च ते दुर्मेधसश्चेति विग्रहः। अतिजडबुद्धयः। उच्छृङ्खलाः। अविनीताश्च।

तान्=त्रीनपि पुत्रान्। सचिवान्=मन्त्रिणः। आहूय=आकार्य-('बुलाकर')। शास्त्रविमुखाः=विद्याभ्यासपराङ्मुखाः, अत एव विवेकरहिताः=ज्ञानशून्याः। सौख्यं=सुखम्। आवहति=ददाति।

साधु=युक्तमेव। इदं=वक्ष्यमाणं। केनापि=विदुषा। (किसी ने ठीक ही कहा है,)।

तदेवाह—अजातेति। अजात—मृत—मूर्खेषु=त्रिविधेषु पुत्रेषु—अजातो-मृतश्च पुत्रः किञ्चित्-श्रेष्ठो, न मूर्खः, यतोऽजाते मृते च पुत्रे सति स्वल्पं दुःखं, मूर्खस्तु सर्वदा दहति=मनस्तापयति॥ ४॥ गर्भस्य स्रावः=नाशः, वरं=श्रेष्ठं, ऋतुकाले पुत्रार्थं भार्यायाः सविधेऽगमनं वा, वरं=मनाक्श्रेष्ठं, जातोपि तदा सद्यो मृतश्चेत्, मृत एव वा जातश्चेत्—तदपि वरं। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इतिकोशः। यद्वा—कन्यैव जाता न पुत्रस्तदापि वरं। यद्वा—भार्या=पत्नी, वन्ध्या=पुत्रादिजननाऽसमर्था, तदापि वरं। यद्वा—गर्भे एव बालस्तिष्ठति, रोगादिना न बहिर्भवति—तदपि वरं=श्रेष्ठं, परन्तु रूप-धनादिसौभाग्ययुक्तोऽपि मूर्खः पुत्रो—न वरं=न युक्तः॥ ५॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमा यस्य।
तेनाऽम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम्। अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति। ततो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथानुष्ठीयताम्'-इति।

तत्रैकः प्रोवाच—'देव! द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते, ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि-चाणक्यादीनि, काम-

---

यथा-दुग्धवत्सादिफलरहितया धेन्वा=गवा, न किमपि क्रियते, तथा-मूर्खेण, अविनीतेन च पुत्रेण किम्?। न किमपि फलमित्यर्थः। न सूते=न बलवद्वत्सान् जनयति। न दुग्धदा=नैव प्रभूतं दुग्धं ददाति ॥ ६ ॥

वरमिति। सुतस्य=पुत्रस्य मरणमिह लोके-वरं=मनाक् प्रियं, न तु सत्कुलप्रसूतस्यापि पुत्रस्य मूर्खत्वं। येन=मूर्खत्वेन, विबुधजनमध्ये=पण्डितसमाजे, जारज इव=व्यभिचारजनित इव-पुमान् लज्जते=जिहेति। 'जारस्तूपपतिः समौ' इत्यमरः ॥ ७ ॥

गुणीति। गुणिनां गणाः, तेषां गणना, तस्या आरम्भे=विद्वज्जनगणनावसरे। कठिनी=खटिका ['खडिया']। यस्य-'नामन्युच्चरिते स्मृते वे'ति शेषः, ससम्भ्रमा=सत्वरा। न पतति=लेखनपट्टे न प्रचलति। तेन=पुत्रेण। यदि,-तस्य अम्बा। सुतिनी=पुत्रवतीति भण्यते, तर्हि वन्ध्या कीदृशी भवति? इति वद=कथय। मूर्खजननी वन्ध्यैवेत्याशयः। 'सुसम्भ्रमा यस्ये'ति पाठान्तरम् ॥ ८ ॥

तत्=तस्मात्। एतेषां=मत्पुत्राणां। बुद्धिप्रकाशः=बुद्धिवर्धनम्। अत्र=मदीयराजधान्यां, वृत्तिं=जीविकाम्, वर्षाशनञ्च। भुञ्जानानां=उपभुञ्जानानाम्। मम मनोरथाः='मत्पुत्राः पठन्त्वि'ति ममाभिलाषः। सिद्धिं=साफल्यम्।

तत्र=मन्त्रिषु। एकः=कश्चन मन्त्री। देव! = राजन्। व्याकरणं श्रूयते=व्याकरणशास्त्रं श्रूयते। गुरोः श्रोतुं शक्यते। पठ्यते इति यावत्। 'व्याकरणशास्त्रमध्येतुं शक्यते इति श्रूयते'इत्यर्थो वा। ततः=व्याकरणाध्ययनानन्तरं।

शास्त्राणि मन्वादीनि। एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते, ततः प्रतिबोधनं भवति।

अथ तन्मध्यतः सुमतिर्नाम सचिवः प्राह–'अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः, प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि, तत्सङ्क्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेतेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यता'मिति।

उक्तञ्च यतः—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारन्ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाऽम्बुमध्यात् ॥१॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गमः छात्रसंसदि लब्धकीर्तिः, तस्मै समर्पयतु एतान्। नूनं द्राक्प्रबुद्धान्करिष्यति'–इति।

धर्मशास्त्रादीनि। 'श्रूयन्ते' इति शेष। पठ्यन्ते इति तदर्थ। ततः=श्रवणानन्तरं। ज्ञायन्ते=तत्त्वतो ज्ञायन्ते। शास्त्राणि गुरोरधीत्य लोके व्यवहरन्नेव शास्त्रतत्त्वं ज्ञातुं शक्नोति, न पठनमात्रेणेति भाव। तत=व्यवहारादिना शास्त्रतत्त्वज्ञानेन। प्रतिबोधनं=बुद्धिवैशद्यं। भवति=जायते। एवञ्चेत्थं भूयान् कालोऽपेक्ष्यते शास्त्रतत्त्वज्ञाने,–इमे च प्ररूढवयसो राजपुत्रा सञ्जाता इति कथमेतेषा बुद्धिप्रकाश शक्यते कर्तुम्—इत्याशय.।

अथ=एतद्वाक्यश्रवणानन्तरम्। तन्मध्यत=मन्त्रिगणमध्यत। सचिव=मन्त्री। अशाश्वत=क्षणभङ्गुर। जीवितव्यविषय=जीवनकाल.। प्रभूतेन=भूयसा। कालेन=समयेन। ज्ञेयानि=ज्ञातुं शक्यानि। शब्दशास्त्राणि=व्याकरणादिशास्त्राणि। सङ्क्षेपमात्रं=सङ्क्षिप्तमेव। एतेषा=राजपुत्राणा। चिन्त्यताम्=अनुसन्धीयताम्।

शब्दशास्त्रं=व्याकरणादि। अनन्तं पार यस्य तत् अनन्तपारम्=अतिगहनमनन्तञ्च। स्वल्पम्=परिमितञ्च। आयु=जीवितकाल। तत्रापि परिमितेऽप्यायुषि। बहवो विघ्ना सन्ति। तत=तस्मात्। फल्गु=नि.सारम्। अपास्य=विहाय। सारं=तत्त्वं, ग्राह्यं। यथा हंसैर्जलमिलिते क्षीरे–(जलं विहाय) दुग्धं–गृह्यते तद्वत् ॥ १ ॥

छात्राणा संसत्=परिषत्, तस्या–छात्रसंसदि=विद्यार्थिमण्डले। द्राक्=झटिति।

स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच-'भो भगवन्! मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्रं प्रति द्राग्यथाऽनन्यसदृशान्विदधासि तथा कुरु। तदाऽहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि।'

अथ विष्णुशर्मा तं राजानमूचे-'देव! श्रूयतां मे तथ्यवचनं. नाऽहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि। पुनरेतांस्तव पुत्रान्मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि।

किं बहुना! श्रूयतां ममैष सिंहनादः-नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि, ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्। त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोदं करिष्यामि। तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः,-'यद्यहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान्न करिष्यामि, ततो नाऽर्हति[1] देवो देवमार्गं सन्दर्शयितुम्'।

प्रबुद्धान्=सुबोधान्। तत्=मन्त्रिवाक्यम्। आकर्ण्य=श्रुत्वा। अर्थशास्त्रं प्रति=नीतिशास्त्रे, राजशास्त्रे च। अनन्यसदृशान्=अनुपमान्। शासनशतेन=ग्रामशताधिकारेण। ग्रामशतं तुभ्यं दास्यामीति यावत्। (सौ गाव आपको इनाम दूंगा।) देव!=राजन्। तथ्यवचनं=सत्यं वाक्यम्। पुनः=किन्तु। मासषट्केन=षड्भिर्मासैरेव।

स्वनामत्यागं=यशसः पाण्डित्यगर्वस्य, स्वनाम्नश्च त्यागम्। एष=वक्ष्यमाणः, क्रियमाणश्च। सिंहगर्जितमिव वादिगजेन्द्रवारणं सुस्पष्टं गभीरं वाक्यम्। श्रूयतां=भवताऽऽकर्ण्यताम्। स्ववाक्ये विश्वासार्थं स्वस्मिन्नाप्तत्वं सूचयति-नाहमिति। कुत एतदत आह-ममेति। व्यावृत्ता सर्वे इन्द्रियाणामर्था यस्मात् तस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य=विषयपराङ्मुखस्य। अर्थेन=धनादिना। त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं=पालकस्य सतो भवतोऽभीष्टसिद्ध्यर्थमेव। सरस्वतीविनोदं=विद्याशक्तिप्रदर्शनकौतुकमात्रं। सिंहनादोपमं वाक्यमिदानीमाह-यदीति। नयशास्त्रं प्रति=नीति-

---

१ 'अर्हति मे देवो देवमार्गं' मित्येव लिखितपुस्तके पाठः। तत्र-देवः=भवान् राजा, मे=मह्य, देवमार्गं=यमराजराजधानीमार्गं, सन्दर्शयितुमर्हति=प्रतिज्ञाभङ्गे मृत्युदण्डं निर्वासनदण्डं वा दातुमर्हतीत्यर्थः। शोभनश्चायं पाठ इति-गौडाः।

अथाऽसौ राजा तां ब्राह्मणस्याऽसंभाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा-ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयाऽन्वितस्तस्मै सादरं तान्कुमारा-न्समर्प्य परां निर्वृतिमाजगाम।

विष्णुशर्मणाऽपि-तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काको-लूकीय लब्धप्रणाशा-ऽपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा-पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्-केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततःप्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं[1] नाम नीति शास्त्रं बालाऽवबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्। किं बहुना—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन॥ १०॥

❀ इति कथामुखम् ❀

अथ पञ्चतन्त्रके[1] मित्रभेदः।

अथाऽतः प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम्। यस्यायमादिमः श्लोकः—

वर्द्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृषयोर्वने।
पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

शास्त्रम् प्रति। अनन्यसदृशान्=अनुपमान्। दैवं=धर्मराज। देवमार्गं=सद्गति। सन्दर्शयितुं=प्रदातुम्। असम्भाव्याम्=अतर्क्याम्, अद्भुताञ्च। पराम्=अत्यन्ता। निर्वृतिं=सुखं। तदर्थं=कुमारशिक्षणार्थम्। तानि=पञ्च तन्त्राणि। यथोक्ता= नीतिशास्त्रपारङ्गता.। संवृत्ता=जाता। भूतले=जगति। प्रवृत्तं=प्रचलितम्। किमिति। एतत्पञ्चतन्त्रकप्रशंसाया बहुनोक्तेन—किं=न किमपि फलमित्यर्थ। सङ्क्षिप्यैव किञ्चिद्ददामीत्यर्थ। शक्रात्=इन्द्रात्॥ १०॥ * इतिकथामुखम् *

मित्रयोर्मित्राणाञ्च भेद—मित्रभेद। उपचारात्प्रकरणे प्रयोग.। सिंहश्च गोवृषश्च—सिंहगोवृषौ, तयो। गोवृष—श्रेष्ठो बलीवर्द। पिशुनेन=सूचकेन, खलेन च।

---

१ पञ्च तन्त्राणि यस्मिन् प्रकरणे तत् पञ्चतन्त्र (क)म्।

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्द्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव। तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना, यत्—प्रभूतेऽपि वित्तेऽर्थोपायाश्चिन्तनीयाः, कर्तव्याश्चेति। यत उक्तञ्च—

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत्॥ २॥
यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्याऽर्थाः स च पण्डितः॥ ३॥
न सा विद्या न तद्दानं न तच्छिल्पं न सा कला।
न तत्स्थैर्यं हि धनिनां याचकैर्यन्न गीयते॥ ४॥
इह लोके हि धनिनां परोऽपि सुजनायते।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते॥ ५॥
अर्थेभ्योऽपि प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः।
प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवाऽऽपगाः॥ ६॥
पूज्यते यदपूज्योऽपि, यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, स प्रभावो धनस्य च॥ ७॥

-जम्बुकेन=शृगालेन (गीदड, सियार) ॥ १॥ धर्मेणोपार्जितो भूरि विभवो येनासौ—धर्मोपार्जितभूरिविभव =सदुपायलब्धधनराशि । वणिक्पुत्र =वैश्य । शय्यारूढस्य=पर्यङ्कविश्रान्तस्य। चिन्तामेवाह—यदिति। (यत्='कि')। प्रभूते=प्रचुरे। अर्थोपाया =धनार्जनोपाया. । एकं=केवलं। प्रसाधयेत्=उपार्जयेत्। स्थैर्य=गाम्भीर्यादिकम्। (सुजन इवाचरति—) सुजनायते=आत्मीयभावमवलम्बते। दुर्जनायते=क्लेशप्रदो भवति।

प्रवृद्धेभ्य =वाणिज्यादिना सञ्चितेभ्य । संवृत्तेभ्य =तत्तत्कर्मसु यज्ञादिपु सम्यग्विनियुक्तेभ्यः। यद्वा—ततस्तत. संवृत्तेभ्य.=नानोपायैरुपलब्धेभ्य.। अत एव—प्रवृद्धेभ्य.=वृद्धिं प्राप्तेभ्य इत्यर्थ। गौडास्तु—तत संवृत्तेभ्य =नानामार्गैर्व्ययमुपगच्छद्भ्य इत्यर्थमाहु । आपगा =नद्य.। अशनात्=भोजनात्। अर्थार्थी=धन-

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात्कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥
गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।
अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥१०॥

स चार्थः पुरुषाणां षड्भिरुपायैर्भवति-भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येनाऽतिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात् । उक्तञ्च यतः—

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो !
कृषिः क्लिष्टा, विद्या गुरुविनयवृत्त्याऽतिविषमा ।
कुसीदाद्दारिद्र्यं परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्त्तनमिह ॥११॥
उपायानाञ्च सर्वेषामुपायः पण्यसङ्ग्रहः ।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥१२॥

मभिवाञ्छन् । जीवलोकः=प्राणिसङ्घः । निःस्वं=निर्धनं । जनयितारं=पितरमपि । गतवयसां=वृद्धानाम् । दरिद्रास्तु यौवनेऽपि वृद्धाः स्युरित्यन्वयः ॥१०॥

व्यवहारः=कुसीदार्थं धनादिदानम् । वणिक्कर्मणा=देशान्तरादितो वस्तून्यादाय देशान्तरे विक्रयादिना । तेषाम्=पूर्वोक्तोपायानां मध्ये । अतिरस्कृतः=श्रेष्ठ, अनुपहतश्च ।

कृतेति । भिक्षुकाणामाधिक्यात् यथेच्छं धनलाभो न भवतीत्यर्थः । उचितं=यथेप्सितं, न वितरति=न ददाति । गुरुषु विनयः, तेन या वृत्तिः=वर्त्तनं, तया विषमा=कठिना । गुरुकुलवासक्लेशबहुलेति यावत् । कुसीदं=धनवृद्धि [व्याज 'सूद'] । परेषां करेषु गतो यो ग्रन्थिः=मूलधनं, तस्य शमनं=विनाशः, तस्मात्, अन्यहस्तगतधनस्य प्रायो दुर्लभत्वादित्याशयः । वर्त्तनं=जीवनोपायं

१ 'हता भिक्षा ध्वाङ्क्षैर्विचलति नृपाणामपि मनः' इति लिखिते पाठान्तरम् । तत्र-ध्वाङ्क्षाः=भिक्षुकाः । 'ध्वाङ्क्षः काके बकेऽर्थिनि' इति हैमात् ।

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात्। तद्यथा- (१) गान्धिकव्यवहारः (२) निक्षेपप्रवेशः (३) गौष्ठिककर्म (४) परिचितग्राहकागमः (५) मिथ्याक्रयकथनं, (६) कूट-तुलामानम्, (७) देशान्तराद्भाण्डानयनञ्चेति। उक्तञ्च-

पण्यानां गान्धिकं पण्यं, किमन्यैः काञ्चनादिभिः।
यत्रैकेन च यत्क्रीतं तच्छतेन प्रदीयते ॥१३॥
निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम्।
निक्षेपी म्रियते,-तुभ्यं प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥१४॥

न मन्ये=न श्रेष्ठं मन्ये ॥

पण्यानां=विक्रेयवस्तूना, संग्रह.=सञ्चय.। तदन्य.= कुसीदादि ॥ १२ ॥

अर्थागमाय=धनलाभाय। गन्ध. पण्यमस्य-गान्धिक, तस्य व्यवहार= व्यवसाय, धातुरसौषधसुगन्धद्रव्यादिविक्रय इति यावत्। निक्षेपप्रवेश.-कुसी-दादिलोभेन परैर्दत्तानां धनाना स्वनिकटे स्थापनं। ['धरोहर रखना' 'दूसरे के रुपए जमा करना' 'आभूषण आदि रखकर रुपए ऋण देना' आदि]। गोष्ठे नियुक्तो गौष्ठिक, तस्य कर्म। राजभाण्डागाराधिकारादिना-['भण्डारी' 'मोदी' 'बोहरा'] गवाध्यक्षतया वा धनागम। परिचिताना=चिरविश्वस्ताना। ग्राहका-णां=क्रेतॄणाम्। आगम=निरन्तरं समागम। ["नामी वनिया"]। मिथ्या-क्रयकथनं=अल्पमूल्यस्य रत्नादेर्मिथ्यैव महार्घत्वख्यापनं, विक्रयश्च। केचित्तु-मिथ्यैव क्रयार्थं ग्राहकप्रोत्साहनं, 'क्रयणीयमिदं शीघ्रं महर्घं भविष्यती'त्याहु। ('शीघ्र खरीद लीजिए, अन्यथा यह महँगा हो जायगा')।

सप्तविधमर्थोपायं पृथक्पृथक्स्तौति-पण्यानामिति। कूटं=कपटघटितं तुला-मानं-तुलामानसाधनादिकं। मानं='बाट' 'बटखरा' इति लोके। ['डण्डी मारना' 'पासंग' 'कम बटखरा रखना']। देशान्तरात्=द्वीपान्तरादित., भाण्डानयनं= विक्रेयद्रव्यानयनम्। (बाहर से माल लाना, मंगाना)। पण्याना=विक्रेयद्रव्याणा मध्ये, गान्धिकं=सुगन्धिद्रव्यमौषधादिकञ्च ['इत्र' आदि] पण्यं। श्रेष्ठमिति शेष.। यत्र=गान्धिकव्यवहारे, एकेन=रूप्यकादिना, यत्=वस्तु, क्रीतमानीतञ्च, तत् शतेन=शतरूप्यकै। प्रदीयते='ग्राहकेभ्य' इति शेष. ॥ १३ ॥

१ 'म्रियता'।

गौष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा मयाऽद्य लब्धा, किमन्येन ॥ १५ ॥
परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्याऽसौ ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

अन्यच्च—

पूर्णाऽपूर्णैर्मानैः परिचितजनवञ्चनं, तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथनं, प्रकृतिरियं स्यात्किराटानाम् ॥ १७ ॥

अन्यच्च—

द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डक्रयविचक्षणाः ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥

निक्षेपे=वृद्ध्यर्थं परैर्निक्षिप्ते धने । हर्म्ये=स्वभवने । पतिते=आगते सति । श्रेष्ठी=धनी वणिक् (सेठ) । स्वदेवता=स्वेष्टदेवताम् । स्तौति=उपयाचते । तदेवाह–निक्षेपी=धनस्थापक, म्रियते (चेत्) तुभ्य=देवतायै, उपयाचितम्= उपहारं, [भेंट 'परसाद' 'शीरनी'] ॥ १४ ॥

अद्य=गौष्ठिककर्मणि नियुक्तेन मया । वसुधा=पृथिवी । वसुसम्पूर्णा=धान्य-धनपूर्णा । लब्धा=प्राप्ता । अन्येन=इतोऽन्येन, किं=न किमपि प्रयोजनं । नातोऽधिकं वाञ्छामि, सिद्धो मे हन्त ! मनोरथ इत्याशय । (गौष्ठिककर्म=राजभण्डार की रखवाली, राजभाण्डार में अनाज इकट्ठा करना । खजाने की रक्षा, सेना आदि को रसद देना । या तहसीलदारी) । परिचितं ग्राहकमागच्छन्तमुत्कण्ठया विलोक्य असौ=श्रेष्ठी, ['सेठ'] तस्य=ग्राहकस्य धने, लुब्ध =अभिलाषवान् ॥ १६ ॥

पूर्णैश्च अपूर्णैश्च पूर्णाऽपूर्णै =कपटघटितै , मानै.=तुलामानसाधनादिभि । [तराजु–' 'बटखरा'] परिचितजनाना=विश्वस्तग्राहकाणा । वञ्चनं=लुण्ठनम् । तथा=किञ्च, क्रयस्य=मूल्यस्य, मिथ्याकथनं=मिथ्या वर्द्धितैर्मूल्यै शपथशतैर्ग्राहकाणा वञ्चनं । किराट =वणिक् । (किराड) । यथा–'किराटोऽटति साटोपं चेलाञ्चितकटीतट' इति क्षेमेन्द्रस्य कलाविलासे वैश्यवर्णने ॥ १७ ॥

भाण्डानां=विक्रेयद्रव्याणा । क्रये=सङ्ग्रहे । विचक्षणाः=कुशला । लोका =

---

१ 'पूर्णाऽपूर्णे माने' इत्यपि पाठ क्वचित ।

-इत्येवं सम्प्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभायां तिथौ गुरुजनाऽनुज्ञातः सुरथाऽधिरूढः प्रस्थितः। तस्य च मङ्गल-वृषभौ सञ्जीवक-नन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोढारौ स्थितौ।

तयोरेकः सञ्जीवकाऽभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सन्पङ्क-पूरमासाद्य कलितचरणो युगभङ्गं विधाय निषसाद।

अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्द्धमानः परं विषादमगमत्। तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयस्त्रिरात्रं प्रयाणभङ्गमकरोत्।

अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्—'भोः श्रेष्ठिन्! किमेवं वृषभस्य कृते सिंह-व्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन्वने समस्तसार्थस्त्वया सन्देहे नियोजितः?। उक्तञ्च—

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवाऽत्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम्॥ १९॥

अथाऽसौ तदवधार्य सञ्जीवकस्य रक्षापुरुषान्निरूप्याऽशेषसार्थं

-वणिग्जनाः, श्रेष्ठिन। देशान्तरं गत्वा मूल्यादपि द्विगुणं चतुर्गुणं वा धनं प्राप्नु-वन्तीत्यर्थः।

इत्येवम्=इत्थं विचार्य, देशान्तराद्भाण्डानयस्य सर्वथा श्रेष्ठता सम्प्रधार्य=निश्चित्य। मथुरागामीनि=मथुरापुर्यां विक्रेयाणि, तदुचितानीति यावत्। भाण्डानि=पण्यानि। 'भाण्डं क्लीबममत्रेऽश्वभूषणे तथा। वणिङ्मूलधनेऽन्ये तु पण्ये केचिदु-पस्करे॥' इति केशवः। धूर्वोढारौ=बलिष्ठौ बलीवर्दौ। स्थितौ=आस्ताम्। यमुना-कच्छः=कालिन्दीतीरप्रदेशः। 'कच्छो जलाशयप्रान्ते पार्श्वे' इति केशवः। पङ्क-पूरं=कर्दमकदम्बम्। ['दलदल']। कलितचरणः=खण्डितचरणः। युगस्य=स्वस्कन्धावसक्तरथाग्रभागस्य। (जूआ) भङ्गः=त्रोटनं। निषसाद=भूमौ पपात।

वर्धमानः=तन्नामा श्रेष्ठी। विषादं=दुःखम्, प्रयाणभङ्गं=अवस्थानम्। ['पड़ाव डालना']। तं=श्रेष्ठिनम्। सार्थे भवाः=सार्थिकाः, तैः=सहचरैर्वणिग्जनैः। ['साथी']। 'सार्थस्त्वर्थवति त्रिषु। समूहभेदे तु पुमान् प्राणिनामिति केशवः। बह्वपाये=नानाशङ्कातङ्कप्रदे। सन्देहे=प्राणसङ्कटे। नियोजितः=निक्षिप्तः। स्वल्पात्=स्वल्पमुपेक्ष्य। ल्यब्लोपे पञ्चमी॥ १९॥

असौ=वर्द्धमानः। तत्=नियुज्य निश्चित्य स्वानुयायिजनोक्तम्। अवधार्य='युक्त'-

नीत्वा प्रस्थितः। अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वाऽन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याऽऽहु — 'स्वामिन् ! मृतोऽसौ सञ्जीवकः। अस्माभिस्तु 'सार्थवाहस्याऽभीष्ट' इति मत्वा वह्निना संस्कृतः'—इति।

तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्यौर्ध्वदेहिकक्रिया वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार।

सञ्जीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैराप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे। तत्र मरकतसदृशानि बालतृणाऽग्राणि भक्षयन्कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इव पीनः ककुद्मान्बलवांश्च संवृत्तः। प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि श्रृङ्गाभ्यां विदारयन्गर्जमान आस्ते। साधु चेदमुच्यते—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥२०॥

अथ कदाचित्पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः सञ्जीवकस्य गम्भीरतररावं दूरादेवाऽश्रृणोत्। तच्छ्रुत्वाऽतीव व्याकुलहृदयः ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनाऽवस्थितः। चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्-सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवर्गः, किंवृत्ताश्चेति।

मिति निश्चित्य। रक्षापुरुषान्=रक्षकान्। ('सिपाही' 'रखवाले')। निरूप्य=स्थापयित्वा। पृष्ठत =अनुपदमेव। (पीछे)। अन्येद्यु =अपरदिने (दूसरे दिन)। इति=इत्थं। सार्थवाहस्य=वणिक्संघाधिपतेर्वर्द्धमानस्य भवत । अभीष्ट =प्रियोऽय वृषभ । इति=इत्थं विचार्य। संस्कृत =दग्ध । और्ध्वदेहिकक्रिया =पिण्डदानादिका। वृषोत्सर्ग = तत्स्मरणार्थ धर्मवृषमोचनं। मरकत =मणिभेद ['पन्ना']। ककुद्मान्=मासल। वल्मीकं=वामलूर। (ढूह)। तस्य शिखराणा=श्रृङ्गाणामग्राणि=अग्रभागान्। सर्वे मृगा =वन्यजन्तव । गम्भीरतररावं=बलवद्धुङ्कारध्वनि । ससाध्वसं=सभयम्। आकारं=निजभाव। चतुर्मण्डलावस्थानेन=मण्डलचतुष्टयाख्यव्यूहं निर्माय, तेनात्मानं गोपायित्वा च। सिंह'—सर्वदेशवनाधिपति, सिंहानुयायिन –राज्य-

अथ तस्य करटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनावास्ताम्। तौ च परस्परं मन्त्रयतः।

तत्र दमनकोऽब्रवीत्-भद्र करटक! अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थितः। स किं निमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्त्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थितः?। करटक आह-भद्र! किमावयोरनेन व्यापारेण?। उक्तञ्च यतः—

X अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्त्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः॥ २१॥

दमनक आह-कथमेतत्?'। सोऽब्रवीत्-

१ कीलोत्पाटिवानरकथा[१]।

कस्मिंश्चिन्नगराभ्याशे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुषण्डमध्ये देवताऽऽयतनं कर्तुमारब्धम्। तत्र च ये कर्मकराः स्थपत्यादयस्ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति। अथ कदाचिदानुषङ्गिकं वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम्। तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्धस्फाटितोऽर्जुनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति। एतस्मिन्नन्तरे ते वानरास्तरुशिखरप्रासादशृङ्गदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारब्धाः।

तन्त्रधारा अधिकारिणः। काकरवर्गः=मध्यमश्रेणिप्रजा। किंवृत्ताः=वनान्तस्थानवासिनः सीमापालाः, उत्तमाऽधममध्यमभेदात्त्रिविधा इति प्राचीनटिप्पणीकृतः। वृत्तनिर्देशका गुप्तचराः-देशान्तरादागता वा इति तु गौडाः। दौर्मनस्येन=विषादेन। अव्यापारेषु=स्वव्यापारसीमाबहिर्भूतेषु। व्यापारं=रक्षणावेक्षणचेष्टादिकं। निधनं=मरणम्। नगराभ्याशे=नगरसन्निधौ। तरुषण्डमध्ये=ग्रामसीमाकानने। 'षण्डोऽस्त्री वृक्षनिकरे' इति कोशः। देवतायतनं=मन्दिरम्। स्थपत्यादयः=वर्द्धकिप्रभृतयः। ('बढई' 'कारीगर')। आनुषङ्गिकं=यदृच्छया। आगतं=

---

१. इयं कथाऽश्लीलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठ्यग्रन्थाद् बहिर्भूता। २.'अञ्जन'।

एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात्तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भे उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पाटयितुमारेभे, तावत्तस्य स्तम्भमध्यगतवृषणस्य स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम्। अतोऽहं ब्रवीमि-'अव्यापारेषु' इति।

आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्येव, तत्किमनेन व्यापारेण?'। दमनक आह-भवानाहारार्थी केवलमेव ?। तन्न युक्तम् । उक्तञ्च-

सुहृदामुपकारकारणाद्द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ॥ २२ ॥

किञ्च—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहव. सोऽत्र जीवतु ।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ? ॥ २३ ॥

तथा च-यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै—
विज्ञानशौर्यविभवाऽऽर्यगुणैः समेतम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते ॥ २४ ॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे,
दीने दयां न कुरुते न च भृत्यवर्गे ।

प्रासम् । अर्धस्फाटित =किञ्चिद्विदारित । (आधा चीरा हुआ)। अर्जुनवृक्ष-दारुमय =अर्जुनाख्यतरुकाष्ठघटित ।(स्तम्भ ='धरण' खम्भा)। एक =कश्चिद्वानर । यद्वृत्तं=यज्जातं । निवेदितं=कथितमेव । मृत. स इत्यर्थ । भक्षितशेष =सिंहभुक्ता-वशिष्ट । अनेन='तिष्ठती'त्यादिविचाररूपेण । व्यापारेण=वितर्केण । आहारार्थी= औदरिक,-भोजनमात्रपरायणोऽलस । सुहृदामिति । सुहृदामुपकाराय शत्रूणा निग्रहायैव च पण्डितै राजसेवा क्रियते, उदरपोषणन्तु को न करोति ?। उदरपोषणं सर्वैरेव क्रियते इत्याशय ॥ २२ ॥

वयांसि=पक्षिण । प्रथित=सर्वातिशायि-यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । तज्ज्ञा =लोकव्यवहारविद पण्डिता । प्रवदन्ति=स्तुवन्ति । चिराय=बहुकालम् ॥२४॥

दीने=बन्धुवर्गे, दीने भृत्यवर्गे च य आत्मना-परेण वा=परद्वारा वा । दया न कुरुते=नोपकरोति ॥ २५ ॥

किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके ?
काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते ॥ २५ ॥
सुपूरा स्यात्कुनदिका, सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेणापि तुष्यति ॥ २६ ॥
किञ्च-किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ? ।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याऽग्रे-ध्वजो यथा ॥ २७ ॥
परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥
किञ्च—जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
यत्सलिलमज्जनाऽऽकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ २९ ॥
तथा च-स्तिमितोन्नतसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥ ३० ॥

कुनदिका=क्षुद्रा नदी । सुपूरा=अल्पेनैव जलेन पूरयितुं शक्या । मूषिकस्य अञ्जलि=मूषकेण भोजनसङ्ग्रहाय बद्धोऽञ्जलि. । एवं कापुरुष=अनुद्यमशील. पुमान् ,-स्वल्पेनैव सन्तुष्यतीत्यर्थ ॥ २६ ॥

जातु-निश्चये, वाक्यालङ्कारे, प्रसिद्धौ वा । वंशस्य=कुलस्य । ज्ञातिबान्धववर्गस्य, वंशाख्यमहीरुहस्य [वंश=‘कुल’ ‘बाँस’] वा । यथा ध्वजो वंशस्याऽग्रभागे स्फुरति, तथा यो निजवंशस्य मुख्यो न भवति, तेन जातेन खलु मातुर्यौवनापहार एव कृत. । एवञ्च व्यर्थं तस्य जन्मेत्याशय ॥ २७ ॥

स एव ‘जात’इति गण्यते य. श्रिया=सर्वगुणसम्पदा, स्फुरेत्=जगति प्रसिध्येत् ॥ २८ ॥

यत्=तृणं, तदपि जले निमज्जतो जनस्य आलम्बनाय प्रभवति । यस्तु पुमान् समर्थ सन्नपि नाऽन्यविपन्नजनोपकारमाचरति तस्य वृथैव जन्मेति भाव ॥ २९ ॥

स्तिमितेति । सज्जनपक्षे-स्तिमित'=दयार्द्र । उन्नत=दानदाक्षिण्यादि-गुणगणोपबृंहित । सञ्चार'=व्यवहार आचरणं च येषामिति ।

मेघपक्षे स्तिमितः=जलभरमन्थर, उन्नतश्च-गगनप्रान्तचुम्बी च । सञ्चारः=प्रसारो व्याप्तिश्च येषामित्यर्थो वोध्य ॥ ३० ॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ ३१ ॥
अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥

करटक-आह,-आवां तावदप्रधानौ, तत्किमावयोरनेन व्यापारेण ? ॥ उक्तञ्च—

अपृष्टोऽत्राऽप्रधानो यो ब्रूते राज्ञः पुरः कुधीः ।
न केवलमसंमानं-लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

तथा च—

वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।
स्थायी भवति चाऽत्यन्तं-रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥

दमनक आह-मा मैवं वद ।

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम् ।
प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जित. ॥ ३५ ॥

यत उक्तञ्च—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा ।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥ ३६ ॥

य.=गर्भं । तदुद्भूतो बाल इति यावत् ॥ ३१ ॥

अप्रकटितेति । शक्तोऽपि यदि अप्रकटितशक्तिश्चेज्जनैस्तिरस्क्रियते, यस्तु शक्तिमात्मनोऽकुण्ठिता विस्तारयति स एव तु संमानभाजनमित्याशयः । अरणि-काष्ठादौ हि वह्निर्निवसतीति प्रसिद्धिः ॥ ३२ ॥ केवलमसंमानं=तिरस्कारमेव न । विडम्बनम्=उपहासमपि ॥ ३३ ॥

प्रयोक्तव्यं=वक्तव्यम् । फलं लभते=सफल भवति । राग=नीलीमञ्जिष्ठा-दिराग ('रंग')। पार्थिवं=राजानम् ॥ ३५ ॥ असंस्कृत=दुष्टमविनीतञ्च । यत्=किमपि वस्तु योग्यमयोग्यं वा तदेव भजन्ति । प्रमदा.=स्त्रिय ॥ ३६ ॥

तथा च—

कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः ।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद्धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम् ।
सेवावृत्तिविदां चैव नाश्रयः—पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥
ये जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च ।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥
ये च प्राहुर्दुरात्मानो—'दुराराध्या महीभुजः' ।
प्रमादाऽऽलस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥४०॥
सर्पान्व्याघ्रान्गजान्सिंहान्पश्योपायैर्वशीकृतान् ।
'राजे'ति कियती मात्रा ? धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥
राजानमेव संश्रित्य विद्वान्याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥
धवलान्यातपत्राणि, वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः, प्रसन्ने सति भूपतौ' ॥ ४३ ॥

कोपस्य=क्रोधस्य, य. प्रसाद =दूरीकरणं, तदुपयोगीनि वस्तूनि=धैर्यादिगुणान्, मधुरघासग्रासादींश्च, ये सेवका , शूराश्च—विचिन्वन्ति=भजन्ते, सङ्गृह्णन्ति, तेषा पुरत. स्थापयन्ति च । ते पुरुषा., अश्वसादिनश्च । अश्वादिपक्षे—पश्चात्=पश्चात्पादौ, ('दुलत्ती मारना) धुन्वन्तं=प्रक्षिपन्तम् । राजपक्षे—तिरस्कुर्वन्तं च—पार्थिवं=राजानं, पर्वतं (लक्षणया) अश्वञ्च । शनै =कियता कालेन, आरोहन्ति= अधिरोहन्ति । तानावर्जयन्ति, अधिकुर्वते चेत्यर्थ ॥ ३७ ॥ विद्यावतां=विदुषा, महेच्छाना=महोदयाना, प्रौढोन्नतिमभिलष्यताञ्च ॥ ३८ ॥

जात्यादिमहोत्साहात्=जात्यादिगर्वात् उपयान्ति=सेवन्ते ॥ ३९ ॥

महीभुज =राजान., दुराराध्या =आराधयितुमशक्या ,—इति ये दुरात्मान = कापुरुषा कथयन्ति । तै. स्वाऽयोग्यतैव प्रकटीक्रियते इत्याशय ॥ ४० ॥

व्याघ्रादयोऽप्युपायैर्वशीभवन्ति तदा राजेति नाम—कियती मात्रा ? ("कौन बडी वस्तु है") ॥ ४१ ॥ परा=श्रेष्ठा । गतिं=सम्मानम् ॥ ४२ ॥

आतपत्राणि=छत्राणि, वाजिन =अश्वा । मातङ्गा =हस्तिन. । 'लभ्यन्ते' इति

करटक आह–'अथ भवान् किं कर्तुमनाः ? ।'

सोऽब्रवीत्–'अद्याऽस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो, भीतपरिवारश्च वर्तते। तदेनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय सन्धि-विग्रह-याना-ऽऽसन-संश्रयद्वैधीभावानामेकतमेन-संविधास्ये।'

करटक आह—'अथ कथं वेत्ति भवान्-यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ?'। सोऽब्रवीत्-ज्ञेयं किमत्र ? । यत उक्तञ्च—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४४ ॥

तथा च—

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य च निजां साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि।

करटक आह—'अनभिज्ञो भवान्सेवाधर्मस्य, तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि ?।' सोऽब्रवीत्–'कथमहं सेवानभिज्ञः ?। मया

शेष ॥ ४३ ॥ अथेति प्रश्ने। (अच्छा तो)। किङ्कर्तुमना ?=किङ्कर्तुमिच्छति ? सन्धि =मित्रता, विग्रह =युद्धं, यानम्=आक्रमणं, ('चढाई')। आसनं=दुर्गाद्याश्रयण, ('किले बन्दी')। सश्रय =बलवत्स्वमित्राश्रयणं, द्वैधीभाव =शत्रुसेनादिषूपजापो, विरोधोत्पादनञ्च। संविधास्ये=कार्यं करिष्ये।

उदीरित =कथित, अर्थ =विषय, गृह्यते=ज्ञायते, हयाश्च–अश्वा अपि, नागाश्च=हस्तिनोऽपि, नोदिता =प्रेरिता =सन्त। चोदिता इति पाठेऽपि स एवार्थ। नुद प्रेरणे। वहन्ति=नयन्ति। पण्डित –अनुक्तमपि वस्तु–ऊहति=विजानाति, तर्कयति। परस्य यदिङ्गितं=भाव, तस्य ज्ञानमेव फलं यासान्ता बुद्धय इत्यर्थ ॥४४॥

आकारै =मुखादिसंस्थानविशेषै, इङ्गितै =भावविकारै, चेष्टया=हस्तपादादिचालनै, नेत्रवक्त्रविकारै =मुखभङ्गी–नेत्रारुण्यप्रसादादिभिश्च। मन =मनोगतं भयादिकं। लक्ष्यते=ज्ञायते ॥ ४५ ॥

हि तातोत्सङ्गे क्रीडताऽभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठतां यच्छ्रुतं सेवा-धर्मस्य सारभूतं-हृदि स्थापितम् । श्रूयताम् । तच्चेदम्—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वति नरास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥
ये सेवकाः[1] प्रभुहिता ग्राह्यवाक्या विशेषतः ।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नाऽन्यथा ॥ ४७ ॥
यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाऽन्वितः ।
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥
अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन्परिगतः क्षुधा ।
न त्वेवाऽनात्मसंपन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥
सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि[2] कृपणं परुषाक्षरम् ।

तातस्य=पितुः—उत्सङ्गे=क्रोडे ('गोद में') । 'तद्धृदि स्थापित'मिति-सम्बन्ध । तच्च=सेवाधर्मतत्त्वञ्च । राजसभासु सदाऽनुसन्धेयं रहस्यभूतमुपदेशमाह—सुवर्णेति । सुवर्णमेव पुष्पाणि—सुवर्णपुष्पाणि, तानि सञ्जातानि यस्या सा ता—सुवर्णपुष्पिताम्=सुवर्णपूर्णाम्, विचिन्वन्ति=स्वायत्तीकुर्वन्ति ॥४६॥ ग्राह्यवाक्याः=आप्ततमा । पार्थिवं—राजानम् । तद्वारेणैव=राजप्रियजनद्वारैव । अन्यथा=स्वयमेव ॥ ४७ ॥ सुकृष्टात्=समुचितेन कर्षणादिना संस्कृतात् । ऊपरात्=सस्योत्पत्त्ययोग्यक्षारबहुलभूमेरिव । ('ऊखर भूमि की तरह') । फलं=सस्यादिकं धनं च । न=नैव भवति ॥४८॥ द्रव्यस्य प्रकृतिः=प्रवृद्धि । तया हीनोऽपि=अल्पधनोऽपि । सेव्यगुणैः=औदार्यादिभिः । अन्वितः=युक्तः । आजीवनं=जीविकात्मकं फलं । कालान्तरादपि=कालान्तरेऽपि । तस्मात्=राजादेर्भवति ॥ ४९ ॥

क्षुधा=अन्नजलबुभुक्षादिना । परिगतः=व्याप्तः । स्थाणुवत्=निष्पत्रवृक्षवत् । शुष्येत्=दुःखमनुभवेत् । अनात्मसम्पन्नात्=युक्तायुक्तविवेकरहितात्—राज्ञः । वृत्तिः=जीविकाम् । न ईहेत=न वाञ्छेत् ॥५०॥ यः सेवको दुष्टं स्वामिनं निन्दति

१. 'प्रिया हिताश्च ये राज्ञाम्' इति पाठान्तरम् ।
२. स्वामिन द्वेष्टि सेवकाधम इत्यसौ'—इति पाठान्तरम् ।

आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥५१॥
यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्त्ता यान्ति सेवकाः ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥
राजमातरि देव्याञ्च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥
'जीवे'ति प्रब्रुवन्प्रोक्तः कृत्याऽकृत्यविचक्षणः ।
करोति निर्विकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥
अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥
प्रभुप्रसादजं वित्तं सत्पात्रे यो नियोजयेत् ।
वस्त्राद्यञ्च दधात्यङ्गे स भजेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥
द्यूतं यो यमदूताभं, हालां हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान्वृथाकारान्स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥
युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात्सदापृष्ठाऽनुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥
'सम्मतोऽहं विभोर्नित्य' मिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥

स सेव्यासेव्यविवेकशून्यं स्वात्मानमेव कुतो न निन्दति ? ॥ ५१ ॥ अर्कवत्= अर्कवृक्षवत् । ('मदार' 'आक')॥ ५२ ॥ देवी=राजमहिषी । कुमारे=राजपुत्रे, प्रतीहारे=राजरक्षापुरुषाध्यक्षे, द्वारपाले च ॥ ५३ ॥

राजानुरागसिद्ध्युपायमाह–जीवेत्यादि । प्रोक्तः=कार्ये नियुक्तः । जीवेति= चिरंजीवेति ब्रुवन् । निर्विकल्पं=निःसंशयं यः कृत्यं करोति स राजप्रियो भवति । द्यूतं यमदूताभं पश्येत् । हाला=सुरा, हालाहलोपमा=विषोपमा पश्येत् । दारान्= राजप्रमदाः । वृथाकारान्=चित्रलिखितपुत्तलिकावत् पश्येत् स राजप्रियो भवति ॥५७

अग्रगः=अग्रणी । पुरे=नगरे । हर्म्ये=राजगृहे । द्वाराश्रितः=सर्वदा सन्निहितः ॥५८॥ कृच्छ्रेष्वपि=आपत्कालेष्वपि यो मर्यादां=राजादिसन्मानमर्यादां, नियमञ्च न व्यतिक्रमेत्=उल्लङ्घयेत्; स राजवल्लभो भवति ॥ ५९ ॥

१ 'कर्तव्य राजवत्सदा'। २ 'सुप्राप्त यो निवेदयेत् ।'पा०। ३ 'यथाकारान्'। ४ 'व्यतिव्रजेत्'।

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥
प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाऽऽह विरुद्धं प्रभुणा च यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥
यो रणं शरणं यद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
प्रवासं स्वपुराऽऽवासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥
न कुर्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह सङ्गतिम् ।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥

करटक आह—'अथ भवांस्तत्र गत्वा किन्तावत्प्रथमं वक्ष्यति तत्तावदुच्यताम् ।' दमनक आह—

'उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्बीजाद्बीजमिवाऽपरम् ॥ ६४ ॥
अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसन्दर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिविदः प्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥६५॥

राज्ञो–द्वेषिषु=शत्रुषु, द्वेषपरः । राज्ञ–इष्टाना=मित्राणाम् । इष्टकर्मकृत्=प्रियकृत् राजवल्लभ ॥६०॥ प्रभुणा विरुद्धम्=अनुचितम्–उक्तोऽपि य प्रत्युत्तर नाह=न ब्रूते, स राजवल्लभो भवति ॥६१॥ यो निर्भय पुमान्–रणं=युद्धं, शरणं=गृहमिव मन्यते । प्रवासं=दूराध्वयात्राञ्च, स्वपुरनिवासमिव–मन्यते स राजप्रियो भवति ॥ ६२ ॥ तावत्=आदौ । वक्ष्यति=अभिधास्यति । वदता=परस्परं कथा कुर्वताम् । उत्तरं श्रुत्वैव प्रत्युत्तरं स्फुरति, यथा सुवृष्टिनिष्पन्नादुत्तमाद्बीजात्क्षेत्रे-निक्षिप्ताद्बीजान्तरं भवति ॥ ६४ ॥

अपगतोऽय.=शुभावहो विधिर्यस्मादसौ–अपाय । 'अपायोऽपगमे तथा । पलायनेऽथाऽपेताये' इति केशवः । 'अयः शुभावहो विधि' रित्यमरश्च । अपायस्य सन्दर्शनं, तस्माज्जाताम्–अपायसन्दर्शनजाम्=अनिष्टमन्त्रनिर्धारणानुष्ठानोद्भूताम् । विपत्तिं=राज्यादिहानिम् । उपायसन्दर्शनजा=समुचितसन्धिविग्रहाद्यनुष्ठानसमुद्भूता । प्रयुक्ता=याथातथ्येन निर्धारिता, सिद्धिं=शत्रुवधादिसिद्धि,लाभं च ।

१ 'उत्तरादेव जायते' । २ 'नीतिगुणे'ति–'नीतिविधानि' च पाठान्तरम् ।

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि मूकवत् ।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः ॥ ६६ ॥

न चाऽहमप्राप्तकालं वक्ष्ये । आकर्णितं मया नीतिसारं पितुः पूर्वमुत्सङ्गं हि निषेवता—

'अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बह्ववज्ञानमपमानं च पुष्कलम्' ॥ ६७ ॥

करटक आह—

दुराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।
व्यालाऽऽकीर्णाः सुविषमाः कठिना दुष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

तथा च—भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रूरचेष्टिताः ।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पन्नगा इव ॥ ६९ ॥

पुर स्फुरन्तीमिव=करतलामलकवच्चक्षुषा विभाव्यमानामिव वर्णयन्ति । अनुचिताचरणजन्या विपदं, श्रेष्ठनिर्धारितोपायानुष्ठानजां सिद्धिञ्च, तत्त्वविदो=नीतिविशारदा प्रथममेव प्रदर्शयन्तीति भाव । 'नीतिगुणप्रयुक्ता'मिति पाठान्तरम् । तत्र–नीतिगुणै प्रयुक्ताम्=षाड्गुण्यशालिनीमित्यर्थो बोध्य. ॥ ६५ ॥

वल्गु=मनोरमं यथा स्यात्तथा– । वल्गन्ति=प्रस्फुरन्ति ॥ ६६ ॥

उत्सङ्ग=क्रोडं । निषेवता=भजमानेन । बाल्यावस्थायामिति यावत् । पुष्कल=बहुलम् ॥६७॥

व्यालै=खलै, हिंस्रसिंहादिपशुभिर्वनगजैश्च । आकीर्णा=व्याप्ता । 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे शठे श्वापदसिंहयो' इति हैम । सुविषमा=अपायबहुला, निम्नोन्नतप्रदेशविषमाश्च । कठिना=क्रूरा, शिलासङ्कुलाश्च । दुष्टसेविता=नटविटादिक्रूरजनपरवशा, सर्पादिदुष्टजन्तुदुर्गमाश्च ॥ ६८ ॥

भोगिन=भोगशालिन । 'अहे शरीरं भोग स्यात्' इत्यमर. । 'भोगी भुजङ्गमेऽपि स्यात् ग्राममात्रनृपे पुमान्' इति विश्व । कञ्चुकाविष्टा=धृतकवचा, कञ्चुकावृताश्च । 'कञ्चुको[2] वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च'ेति विश्व । पन्नगा=सर्पा ॥ ६९ ॥

---

१ 'भोगिन कञ्चुकासक्ता· क्रूरा कुटिलगामिन । सुरौद्रा मन्त्रसाध्याश्च'–इति पाठा । २ कञ्चुक='चोला' 'अंगरखा' 'सापकी केंचुली' ।

द्विजिह्वाः क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिणः ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥
स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥ ७१ ॥
दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥
दुराराध्या श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिताः ॥ ७३ ॥

दमनक आह—सत्यमेतत् । किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरन्[1] ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥
भर्तुश्चित्तानुवर्तित्वं सुवृत्तं चाऽनुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्यं छन्दाऽनुवर्तिभिः ॥ ७५ ॥

द्विजिह्वा =जिह्वाद्वययुता , कूटभाषिणश्च । अनिष्टा =अनिष्टकारका । छिद्रानुसारिण =विलेशया , दोषदर्शिनश्च । 'छिद्रं दोषे च विवरे' इति हैम. ॥ ७० ॥

राज्ञ प्रिया अपि यदि स्वल्पमपि राज्ञोऽपकुर्वन्ति तदा पतङ्गा वह्नाविव दह्यन्ते=स्वयमेव विनश्यन्ति । 'राजकोपानले' इति शेष ॥ ७१ ॥

ब्राह्मण्यं=ब्रह्मतेज , दुष्यति=विकारं भजते, दूषयतीति वा ॥ ७२ ॥

राज्ञा श्रिय =राजलक्ष्म्य । दुरापा =दुर्लभाः । दुष्परिग्रहा =दु खेन रक्षणीया । आत्मनि संस्थिता =स्वयं निरीक्षिता., स्ववशे स्थापिता एव च—जलाधारे जलमिव । चिरं तिष्ठन्ति । यथा जलाधार एव जलं चिरं तिष्ठति, नान्यत्र, एवं विनीत एव राजनि श्रीस्तिष्ठति नान्यत्रेत्याशय ॥ ७३ ॥

अनुप्रविश्य=तदनुकूलाचरणं कृत्वैव । क्षिप्रं=शीघ्रम् ॥ ७४ ॥

भर्त्तु =स्वामिन । चित्तानुवर्त्तित्वम्=मनोऽनुकूलकर्तृत्वम् । अनुजीविनां=सेवकाना । सुवृत्तं=सुशीलम् । राजवशीकरणसाधनम् । छन्दमनुवर्त्तन्ते तच्छीलै —छन्दानुवर्त्तिभि =अभिप्रायपरिपालकै । 'अभिप्रायश्छन्द आशय ' इत्यमरः । (छन्दानुवर्त्ती='खुशामदी' 'चापलूस') ॥ ७५ ॥

---

१ तेन तेन हित नरम् ।

सरुपि नृपे स्तुतिवचनं,तदभिमते प्रेम, तद्विषि द्वेषः ।
तद्दानस्य च शंसा, अमन्त्रतन्त्रं वशीकरणम् ॥ ७६ ॥

करटक आह-'यद्येवमभिमतं तर्हि शिवास्ते पन्थानः सन्तु, यथाभिलषितमनुष्ठीयताम् ।'

अप्रमादश्च कर्त्तव्यस्त्वया राज्ञः समाश्रये ।
त्वदीयस्य शरीरस्य वयं भाग्योपजीविनः ॥

सोऽपि तं प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुखं प्रतस्थे ।

अथाऽऽगच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वाःस्थमब्रवीत्-'अपसार्यतां वेत्रलता, अयमस्माकं चिरन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेश , तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी'ति ।

स आह-'यथाऽवादीद्भवान्'-इति । अथ प्रविश्य दमनको निर्दिष्टे आसने पिङ्गलक प्रणम्य प्राप्ताऽनुज्ञ उपविष्ट । स तु तस्य नखकुलिशालङ्कृतं दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच-'अपि शिवं भवतः ?, कस्माच्चिराद्दृष्टोऽसि ? ।'

दमनक आह-'यद्यपि न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तदपि भवतां प्राप्तकालं वक्तव्यं, यत उत्तममध्यमाधमैः सर्वैरपि राज्ञां प्रयोजनम् । उक्तञ्च—

नृपे=राजनि, सरुषि=क्रुद्धे सति, स्तुतिवचन=मृदुमधुरप्रशंसा, स्तुतिवाक्यप्रयोग । तदभिमते=राजवल्लभे । प्रेम=अनुराग । तद्विषि=राजविरुद्धे वस्तुनि जने च । तद्दानस्य=राजदानस्य च, शसा=प्रशंसा । न स्त. म न्त्रत न्त्रे यस्मिन् तत्-अमन्त्रतन्त्रं=मन्त्रतन्त्ररहितं, मन्त्रतन्त्राभ्या विनाऽपि । वशीकरणं=वशीकरणोपाय. । अभिमतम्=अभिप्राय । पन्थानस्ते-शिवा =शोभना कुशलप्रदा शुभप्रदाश्च । सन्तु=गम्यतामित्यर्थ । स =दमनक । द्वा स्थ=द्वारपाल । वेत्रलता=वेत्रयष्टी । (छडी) अव्याहत =अनवरुद्ध प्रवेशो यस्यासौ तथा । द्वितीयमण्डले=अनुयायिमण्डले प्रवेशमर्हति । अतस्तत्रासन देहीत्याशय । मन्त्रिणस्तत्समानाश्च द्वितीयमण्डलभागिन । स =सिंह । नखान्येव कुलिशानि=वज्राणि, तैरलङ्कृतं, पाणि=हस्तम् । उपरि=मस्तकोपरि । मानपुर सरं=ससत्कारम् । तस्य=दमनकस्य । देवपादाना=

१ 'सरुषि नतिस्तुति' । २ 'अमन्त्रमूल'मिति पाठान्तरम् । ३ 'पर' ।
४ 'यतो न खलु राज्ञामुपयोगकारणं किञ्चिन्न भवति' । पा०।

दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण ॥७७॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादानामेतद्युक्तं न भवति । उक्तञ्च—

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाऽऽभरणानि च ।
नहि चूडामणिः पादे 'प्रभवामी'ति बध्यते ॥ ७८ ॥

यतः—अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते ।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥७९॥

उक्तञ्च—असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमानसत्कारः ।
धुरि चाऽनियुज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥८०॥

यच्चाऽविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीनाऽधमस्थाने नियोजयति, न ते तत्रैव तिष्ठन्ति, स भूपतेर्दोषो, न तेषाम् ।

प्रभूणां भवतां, न प्रयोजनं=नास्ति किमपि कार्यं । नास्माकं महाराज स्मरतीत्याशय । प्राप्तकालम्=उचितम् । परं=किन्तु । तदपीत्यपि पाठ । वक्तव्यं=मया किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीत्याशय । दन्तस्येति । निष्कोषणकेन=दन्तासक्तोच्छिष्टनिरासादिना, कण्डूयनकेन=कर्णफलकण्डूनिराकरणेन च । ईश्वराणां=राज्ञा, जनानामिति यावत् । अङ्गेति सम्बोधने । वाग्घस्तवता=पाणिवाणीसंयुतेन । (समय पर तृण से भी काम पड़ता है, आदमी की तो बात ही क्या है) । राज्ञा प्रयोजन–'भवती'ति शेष । अन्वयागता =कुलक्रमागता । स्वमधिकारं=मन्त्रिपदादिकम् । प्रभवामि='अहं प्रभुरस्मि' इति कृत्वा । चूडामणि =शिरोभूषणं–पादे न बध्यतेऽनौचित्यात् ॥ ७८ ॥ क्रमायात=कुलपरम्परागतोऽपि भूपति गुणाना=गुणतारतम्यस्य अनभिज्ञश्चेत्–भृत्यैर्नाश्रीयते । समीयमान =समन्वीयमान । असदृशजनतुल्यतया गण्यमान इति यावत् । समै =स्वसमापेक्षया । परिहीयमान सत्कारो यस्यासौ तथा । धुरि=अग्रे । स्वसमुचिते स्थाने । अर्थपति=स्वामिनम् । भृत्य त्रिभि कारणैस्त्यजतीत्यर्थ । उत्तमपदयोग्यान्=उत्कृष्टाधिकारसमुचितान्,

---

१ 'यत्ते तत्रैव तिष्ठन्ती'त्यपि केचित्पठन्ति । **तत्रैव**= अयोग्यस्थाने ।

उक्तञ्च—

कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते ।
न स विरौति न[1] चापि न शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥८१॥

यच्च स्वाम्येवं वदति—'चिराद्दृश्यसे' इति, तदपि श्रूयताम् ।

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्वसेत् ? ॥ ८२ ॥
काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते ।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ८३ ॥

परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नाऽर्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥ ८४ ॥

लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चाऽन्तरम् ।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ? ॥ ८५ ॥

हीने=अनुत्तमे । अधमे=नीचतमे । स्थाने=अधिकारे । ते=उत्तमा, तत्रैव=स्वोचिताधिकारे, न तिष्ठन्ति=न नियुज्यन्ते,—एतद्वयं भूपतेरेव दोष । तेषाम्=उत्तमाना सेवकानाम् ।

कनकेति । कनकमये भूषणे यत्संग्रहण=स्थापनं । तस्योचित =योग्य । त्रपुणि=वङ्गे ('रागा')। स मणिर्न विरौति=नैव किञ्चिद्वदति । किञ्च न शोभते इति न, किन्तु शोभते एव । वचनीयता=निन्दा ॥ ८१ ॥ तदपि=तद्विषयेऽपि । श्रूयता=मदुक्तं श्रुत्वाऽवधार्यताम् । सव्य =वाम । विशेष =भेद । विद्यमाना गतिर्यस्यासौ–विद्यमानगति =आश्रयान्तरान्वेषणयोग्य ,–समर्थ । आर्य =सज्जन । नैव वसेदित्याशय ॥ ८२ ॥ बुद्धि विकल्पते=सन्दिह्यते । येषामीदृशं संशयात्मकं ज्ञानमुत्पद्यते , तेषा=भ्रान्तानाम् , नाममात्र.=भृत्यनामधारी कोऽपि ॥८३॥ यत्र परीक्षका न सन्ति तत्र समुद्रजानि रत्नानि=मौक्तिकादीनि न अर्घन्ति=न स्वोचितं मूल्य लभन्ते । आभीरदेशे पश्चिमसमुद्रतीरवर्त्यपरान्तप्रदेशे ('कच्छ–भुज' 'काठियावाड')। चन्द्रकान्तमणिं । वराटै =कपर्दिकाभि । ('तीन कौडी में')। गोपा =आभीरा ('अहीर')। विपणन्ति=विक्रीणन्ति' ॥ ८४ ॥ लोहिताख्य =लोहितनामा मणि , ('लाल')। लोहिताक्षस्ये'ति पाठान्तरम् । पद्मराग =पद्मरागमणि ('मानिक')। उभयोस्तुल्यवर्णत्वेऽपि पद्मरागाल्लोहितमणि-

---

1 'नचापि विशोभते' इति पाठान्तरम् ।

निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ८६ ॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ८७ ॥
भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकाऽनुग्रहकारिभिः ।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥
अरैः सन्धार्यते नाभिर्नाभौ चाऽराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिताः ।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः, किं न सेवकाः? ॥ ९० ॥
राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु संमानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ! ॥ ९१ ॥
एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥

महर्घ इति भाव. ॥ ८५ ॥ उत्तमाधमेषु निर्विशेषं=भेदशून्यं यथा स्यात्तथा-सममेव=तुल्यमेव यदि स्वामी=प्रभु प्रवर्त्तते तदा उद्योगसमर्थानाम्=उद्योगशालिनामुत्तमाना भृत्यानामुत्साह परिहीयते=नश्यति। 'सर्वभृत्येषु इति केचित्पठन्ति। ॥ ८६ ॥ परस्परनिबन्धन.=अन्योन्याश्रित । लोकानुग्रहकारिभि =लोकोपकारिभि । मयूखै =किरणैर्विना । दीप्तांशु =सूर्यइव-तेजस्वी अपि=प्रतापवानपि राजा, लोकानुग्रहकारिभिर्भृत्यैर्विना न शोभते ॥ ८८ ॥ अरै =रथचक्रावयवैर्दण्डायमानै । नाभि =रथचक्रमध्यभागपिण्डिका-धार्यते। नाभौ च अरा =रथाङ्गचक्रदण्डा । प्रतिष्ठिता =संनिविष्टा । वृत्तिचक्रं=लोकयात्रारूपं चक्रं । जीविका च । प्रवर्त्तते=प्रचलति ॥८९॥ शिरसा विधृता =मस्तके स्थापिताः, नितरां सत्कृताश्च । स्नेहेन=तैलादिना च । निःस्नेहा =तैलादिरहिता । अनुरागवैकल्ये सति, किं न विरज्यन्ते=किं न विकृतवर्णा भवन्ति, अपितु विरज्यन्ते एव। केशा यदि स्नेहरहिता , अनुरागवैकल्ये सति विरज्यन्ते तर्हि सेवका' किं नु ?। तेषा विरागे किमु वक्तव्यमित्याशय ॥ ९० ॥ अर्थमात्रं=धनमेव केवलं। संमानमात्रेण=संमानेन तोषिता । प्राणैरपि=स्वप्राणपरित्यागेनाऽपि । उपकुर्वते='राजान'-

य: कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
लज्जया वक्ति नो किञ्चित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥
यस्मिन्कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा ।
आस्यते, सेवक: स स्यात्कलत्रमिव चाऽपरम् ॥ ९४ ॥
योऽनाहूत: समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।
पृष्ट: सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥
अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरं च य: ।
यतते तस्य नाशाय, स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥
ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा ।
यो न चिन्तयते पापं, स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥
न गर्वं कुरुते माने, नाऽपमाने च तप्यते ।
स्वाऽऽकारं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥
न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन ।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९९ ॥
श्रुत्वा साङ्ग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति ।
प्रसन्नाऽऽस्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१००॥

मिति शेष ॥ ९१ ॥ विचक्षणा =कुशला ॥ ९२ ॥ यो भृत्यो राज्ञो दुष्करं=परै कर्तुमशक्यम् , उत्तमं हितं सुकृतं=सुसम्पादितं यथा स्यात्तथा कृत्वाऽपि राज्ञ पुरतो लज्जया स्वकृत्यं न वक्ति, तेनैव भृत्येन राजा सहायवान्=स एव भृत्यो राज्ञोऽनुरूपो भृत्य इति भाव । निर्विशङ्कं यथा स्यात्तथा आस्यते=स्थीयते । 'राज्ञे'तिशेष । अपरं=स सेवक , अपरं=द्वितीयं कलत्रमिव=पत्नीव हितकारीति मन्तव्य. ॥ ९४ ॥

अनादिष्टोपि=राज्ञाऽनाज्ञप्तोऽपि राज्ञो हानिकरं व्यसनादिकमत्याहितमुपस्थितं दृष्ट्वा तस्य विनाशय=प्रतीकाराय यतते स भृत्यो राजयोग्य ॥ ९६ ॥ स्वाकारं=स्वमनोभावं । रक्षयेत्=निगूहेत् । विकारं नाप्नुयात् , न प्रदर्शयेच्च ॥ ९८ ॥

भविष्या साङ्ग्रामिकी=भविष्यद्युद्धविषयिणी, श्रुत्वा यो भृत्य प्रसन्नवदनो भवति स भृत्य श्रेष्ठ. ॥ १०० ॥

सीमा वृद्धिं समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।
नियोगसंस्थिते यस्मिन्स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१०१॥
सीमा सङ्कोचमायाति वह्नौ चर्म इवाऽऽहितम् ।
स्थिते यस्मिन्स तु त्याज्यो भृत्यो राज्यं समीहता ॥ १०२ ॥

तथा 'शृगालोऽय'मिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यवज्ञा क्रियते, तदप्ययुक्तम् । उक्तञ्च यतः—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलाद्दूर्वाऽपि गोरोमतः
पङ्कात्तामरसं शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना,
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति, किं जन्मना॥१०३॥
मूषिका गृहजाताऽपि हन्तव्या स्वाऽपकारिणी ।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत्प्रार्थ्यतेऽन्यतः ॥ १०४ ॥
एरण्डभिण्डाऽर्कनडैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः ।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाऽज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥

यस्मिन् भृत्ये नियोगसंस्थिते=अधिकारारूढे सति राज्ञो राज्यस्य सीमा (राज्यं) प्रत्यहं वर्धते स भृत्य श्रेष्ठ ॥१०१॥ यस्मिन् नियोगस्थे=अधिकार-स्थिते, यथा वह्नौ क्षिप्तं चर्म सङ्कोचमेति तथैव-राज्यं हीयते-स भृत्योऽधम = त्याज्य· ॥ १०२ ॥ अवज्ञा=तिरस्कार । कौशेय=कृमिजं पट्टसूत्रं ('रेशम') । कृमेरुत्पद्यते । सुवर्णमुपलप्रायात्पर्वतादुद्भवति । पुराणेषु गोरोमतो दूर्वोत्पत्तिर्गीयते । तामरसं=पङ्कजम् । उदधे =क्षारजलाविलात्सागरात्-चन्द्रोत्पत्ति । इन्दीवरं=नीलोत्पलं नाम स्थलकमलभेदः । गोमयात्=अवस्करात् ('खाद' 'कूडा कर्कट' 'गोबर आदि से') । रोचना=गोरोचना । 'भवती'ति शेष । एवञ्च स्वगुणोदयेनैव गुणिन प्राकाश्यं=पूजा प्रसिद्धि च, गच्छन्ति । तत्र जन्मादिचिन्ता न कर्तव्या ॥१०३॥

गृहजातापि-अपकारकारितया मूषिका-हन्यते, मूषकविनाशकतयोपकारी मार्जारश्च अन्यतोऽपि=गृहान्तरादपि आनीय स्वगृहे रक्ष्यते इति उपकारापकाराभ्यामेवानुरागविरागौ न सम्बन्धितयेति भाव ॥१०४॥ एरण्डस्य ('रेंडी') । भिण्डस्य=तरुभेदस्य, अर्कस्य=मन्दारस्य ('आक' 'मन्दार') नडै =काण्डै

---

१ 'उपप्रदानै'रिति पाठे—भक्ष्यादिदानै. । २ 'एरण्डकाण्डार्क' इति गौडा ।

किं भक्तेनाऽसमर्थेन किं शक्तेनाऽपकारिणा ? ।
भक्तं शक्तञ्च मां राजन्नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ १०६ ॥

पिङ्गलक आह—'भवत्वेवं तावत्, असमर्थः समर्थो वा, चिरन्तनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्र', तद्विश्रब्धं ब्रूहि—यत्किञ्चिद्वक्तुकामः।'

दमनक आह—'देव! विज्ञाप्यं किञ्चिदस्ति।'

पिङ्गलक आह—'तन्निवेदयाऽभिप्रेतम्।' सोऽब्रवीत्—

'अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत्पृथिवीपतेः ।
तन्न वाच्यं सभामध्ये' प्रोवाचेदं बृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

तदेकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः—

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन षट्कर्णं वर्जयेत्सुधीः ॥ १०८ ॥

अथ पिङ्गलकाऽभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृकपुरःसराः सर्वेऽपि तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः, कृताश्च । ततश्च दमनक आह—'उदकग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्याऽवस्थानम्?'। पिङ्गलकः सविलक्षस्मितमाह—'न किञ्चिदपि।'

('डण्ठल' 'फरडा')। 'एरण्डपिण्डार्कनलै' रिति पाठान्तरम्। तत्र डलयोरैक्यात्—नला=नडा एव। दारुकृत्यं=स्तम्भादिनिर्माणगृहधारणादि कार्यम्। 'एरण्डकाण्डार्कनडै' रिति तु गौडा पठन्ति ॥ १०५ ॥ असमर्थः समर्थो वा त्वं नात्र मे विचार, केवल 'पुराणमन्त्रिपुत्र' इत्येव मे प्रियोऽसि—इत्याशय ।

विश्रब्ध=निर्भयं। षट्कर्णो यत्र—('श्रोतृतये'ति शेष,—) असौ षट्कर्ण=त्रिभिर्जनै श्रुत । भिद्यते=परैर्ज्ञायते। षण्णा कर्णाना समाहार—षट्कर्ण—पुरुषत्रय, वर्जयेत्- 'मन्त्रणावसरे' इति शेष । यद्वा 'षट्कर्ण मन्त्रं वर्जये'दिति सम्बन्ध । व्याघ्र=शार्दूल ('बघेरा')। वृक=ईहामृग ('भेडिया')। द्वीपी=व्याघ्रभेद ('चीता' 'लकडबग्घा')। तद्वच=दमनकवचनं, संसदि=सभाया। कृता=ये भावानभिज्ञा मूर्खास्ते द्वारपालैर्दूरीकृताश्च। सविलक्षस्मित=स्वाकारप्रच्छादनार्थं किञ्चिद्धासं कृत्वा ('सूखी हंसी हंसकर')। 'आह' इति शेष । न 'किञ्चिदपि'—'कारणमस्ती'ति शेष । अत्र यत्कारणमस्ति तन्नाख्येयं कस्यापीत्याशय ।

सोऽब्रवीत्—'देव ! यद्यनाख्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तञ्च—

दारेषु किञ्चित्स्वजनेषु किञ्चिद्गोप्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।
'युक्तं' 'न वा युक्त'मिदं विचिन्त्य वदेद्विपश्चिन्महतोऽनुरोधात् १०९

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकश्चिन्तयामास—'योग्योऽयं दृश्यते, तत्कथयाम्येतस्याऽग्रे आत्मनोऽभिप्रायम् ।' उक्तञ्च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते, गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं-सुखी भवति ॥ ११० ॥

(प्रकाशं-) भो दमनक ! शृणोषि शब्दं दूरान्महान्तम् ?' । सोऽब्रवीत् स्वामिन् ! शृणोमि, ततः किम् ?' । पिङ्गलक आह- 'भद्र ! अहमस्माद्वनाद्गन्तुमिच्छामि ।' दमनक आह- कस्मात् ?'।

पिङ्गलक आह-'यतोऽद्याऽस्मद्वने किमप्यपूर्वं सत्त्वं प्रविष्टं, यस्यायं महाञ्छब्दः श्रूयते, तस्य च शब्दस्याऽनुरूपेण सत्त्वेन भाव्यं, सत्त्वानुरूपेण च पराक्रमेण (भाव्यम्')-इति ।

दमनक आह—'यच्छब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वामी, तदप्ययुक्तम् । उक्तञ्च-

---

तिष्ठतु=आस्तां तावत्, मा वद ।

दारेष्विति । दारेषु किञ्चिद्गोप्यं भवति स्वजनेषु किञ्चिद्गोप्यं भवति, महतामनुरोधादपि-युक्तायुक्तं विचार्यैव-वदेत, न सहसेत्यर्थ । पाठान्तरे-प्रत्ययिन = विश्वस्ता एव । 'तथापी'ति शेष । संप्रकाश्यं=कथनीयम् । कस्य किञ्चिदाख्येयं, कस्य किञ्चित् न सर्वस्य सर्वमाख्येयम् भवतीत्यर्थ ॥१०९॥ निरन्तरं वित्तं यस्यासौ निरन्तरवित्त, तस्मिन्=स्वार्पितधने, नितरामभेदभावमापन्ने इति यावत् । निरन्तरचित्ते' इति पाठे अनुकूलचित्ते इत्यर्थ । अनुवर्त्तिनि=स्वानुकूले । कलत्रे=दारासु च । दुःखं=क्लेशं दुःखकारणं च । निवेद्य=उक्त्वा । जन' सुखी भवति ॥११०॥

सत्त्वं=जन्तुभेद, पिशाचादिर्वा । 'सत्त्व द्रव्ये पिशाचादौ गुणे जन्तुषु' इति कोशः । उपगत =प्राप्तवान् । आतुर =व्याकुल, ('घबडाया हुआ') वाग्मि =

---

१ 'दारेषु किञ्चित्पुरुषस्य वाच्यं किञ्चिद्वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।
सर्वेऽपि ते प्रत्ययिनो भवन्ति सर्वं न सर्वस्य च संप्रकाश्यम् ॥'-पाठान्तरम् ।

अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो भिद्यते वाग्भिरातुरः ॥ १११ ॥

तन्न युक्तं स्वामिनः पूर्वपुरुषोपार्जितं कुलक्रमागतं वनमेकपदे एव त्यक्तुम् । यतो भेरीवेणुवीणामृदङ्गतालपटहशङ्खकाहलादि-भेदेन शब्दा अनेकविधा भवन्ति, तन्न केवलाच्छब्दमात्रादपि भेतव्यम् । उक्तञ्च–

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते ।
धैर्यं यस्य–महीनाथो न स याति पराभवम् ॥ ११२ ॥
दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

तथा च—

यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥११४॥

तथा च—शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥

अपि च—अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाऽऽभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ?॥११६॥

वाङ्मात्रेणैव। भिद्यते=पलायते, निग्रहीतुं शक्यते वा ॥१११॥ भेर्यादि=वाद्यभेद । तेषा भेदेन शब्दोऽपि नानाविध इत्यर्थ । अत्युत्कटे=बलीयसि, साहसपरे, रौद्रे=क्रूतरे च । 'अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ यस्य न हीयते । धैर्यं प्राप्ते महीपस्ये'ति–पाठान्तरम् ॥ ११२ ॥

धातरि=जगन्नियन्तरि विधौ । दर्शितं भय येन तस्मिन्–दर्शितभये=प्रति-कूले–संत्रासयति सत्यपि । निदाघे=ग्रीष्मसमये । सिन्धु=समुद्र ॥ ११३ ॥ शक्तिवैकल्येन=शक्त्यभावात् । नम्रस्य=प्रणतस्य । अन्त सारशून्यतया लघीयस=क्षुद्रस्य, मानहीनस्य । जन्मिन=शरीरिण । तृणस्य च तुल्यता ॥ ११५ ॥ जतुजाभरणस्य=लाक्षानिर्मिताऽऽभूषणस्य । ('लाख का बना गहना' नकली गहना)। रूपेण=सघटनाविशेषेण । (बाहरी नकली तड़क भड़क से) किं ?=न किमपि प्रयोजनमित्यर्थ ॥ ११६ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्याऽवष्टम्भः कार्यः, न शब्दमात्राद्भेतव्यम् ।

पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च ॥ ११७ ॥

पिङ्गलक आह–'कथमेतत् ?' । सोऽब्रवीत्—

२. गोमायुदुन्दुभिकथा

कश्चिद्गोमायुर्नाम शृगालः क्षुत्क्षामकण्ठ इतस्तत आहारक्रियार्थं परिभ्रमन्वने सैन्यद्वयसङ्ग्रामभूमिमपश्यत् । तस्याञ्च दुन्दुभेः पतितस्य वायुवशाद्वल्लीशाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमशृणोत् ।

अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास–'अहो ! विनष्टोऽस्मि, तद्यावन्नाऽस्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो व्रजामि । अथवा नैतद्युज्यते सहसैव—

भये वा यदि वा हर्षे सम्प्राप्ते यो विमर्शयेत् ।
कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

तत्तावज्जानामि कस्याऽयं शब्दः ? । इत्थं धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावन्मन्दं मन्दं गच्छति तावद्दुन्दुभिमपश्यत् । स च तं परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकादताडयत् । भूयश्च हर्षादचिन्तयत्–'अहो ! चिरादेतदस्माकं महद्भोजनमापतितं, तन्नूनं प्रभूतमांसमेदोऽसृग्भिः परिपूरितं भविष्यति ।' ततः परुषचर्मावगुण्ठितं तत्कथमपि विदार्यैकदेशे छिद्रं कृत्वा संहृष्टमना मध्ये प्रविष्टः । परं चर्मविदारणतो दंष्ट्राभङ्गः समजनि ।

यावत्=साकल्येन । क्षुधा क्षाम–क्षीण–शुष्क कण्ठो यस्यासौ–क्षुत्क्षामकण्ठ=क्षुधातृषार्त्त । दुन्दुभे=वाद्यभेदस्य=('नगाड़ा') । वल्लीभि=लताभि, शाखाग्रैश्च । हन्यमानस्य=ताड्यमानस्य । विनष्ट=मृतोऽस्मि नूनम् । प्रकर्षेण उच्चारित. शब्दो येनासौ तस्य=शब्दायमानस्य सत्त्वस्य । विमर्शयेत्=विचारयेत् । वेगात्कृत्यं न कुरुते ॥११८॥ प्रभूते=बहुले । असृक्=रुधिरम् । परुषेण–कठिनेन चर्मणा, अवगुण्ठितं=समाच्छादितं, तत्=वाद्यभाण्डं । दंष्ट्राभङ्ग=दन्तभङ्ग । ('दाढ'

अथ निराशीभूतस्तद्दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—

'श्रुत्वैव[1] भैरवं शब्दं मन्येऽहं मेदसां निधिम्।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च॥'

प्रतिनिर्गत्याऽन्तर्लीनमवहस्याऽब्रवीत्-'पूर्वमेव मया ज्ञातम्'-इति। अतोऽहं ब्रवीमि-न शब्दमात्राद्भेतव्यम्।

पिङ्गलक आह—'भोः! पश्याऽयं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति, तत्कथमह धैर्यावष्टम्भं करोमि?। सोऽब्रवीत्-स्वामिन्! नैतेषामेप दोषः। यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः। उक्तञ्च—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च॥ ११९॥

तत्पौरुषाऽवष्टम्भं कृत्वा त्वं तावदत्रैव प्रतिपालय, यावदहमेतच्छब्दस्वरूपं ज्ञात्वाऽऽगच्छामि, ततः पश्चाद्यथोचितं कार्यमिति। पिङ्गलक आह-'किन्तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते?।'

स आह—'किं स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य कृत्यमकृत्यमस्ति किञ्चित्?। उक्तञ्च-

स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य न भीः संजायते क्वचित्।
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम्॥ १२०॥

तथा च—

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विपममेव च।
मन्यते-न स सन्धार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता॥ १२१॥

जाड' 'तीखे दाँत' 'नेश')। दारुशेष=काष्ठमात्रावशिष्ट-चर्मणो विदारितत्वात्। परिग्रह=अनुयायिवर्ग। स्वामिसदृशा=राजानुरूपा। पुरुषविशेषं=योग्यमयोग्यञ्च प्राप्य। योग्यं प्राप्य योग्या, अयोग्य प्राप्य अयोग्याश्च भवन्तीत्याशयः॥११९॥ सुभृत्यस्य स्वाम्यादेशात्=दुष्करमपि राजानुशासनं निशम्य, भयं न जायते स हि सुभृत्य। अहे=सर्पस्येदम्-आहेयं मुख, दुस्तरं समुद्रं वा प्रविशेत्। सम्भावनाया लिङ्। 'प्रविशेद्धव्यवाहेऽपी त्यपि पाठ॥ १२०॥ समं=सरलं, विषम=कठिनमसम्भवि च न मन्यते स सन्धार्य=निकटे संस्थाप्य॥ १२१॥

---

1 'श्रुत्वैवम्' पा०।

पिङ्गलक आह–'भद्र! यद्येवं तद्गच्छ, शिवास्ते पन्थानः सन्तु'—इति।

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्गलकश्चिन्तयामास–'अहो! न शोभनं कृतं मया यत्तस्य विश्वासं गत्वाऽऽत्माऽभिप्रायो निवेदितः। कदाचिद्दमनकोऽयमुभयवेतनत्वान्ममोपरि दुष्टबुद्धिः स्याद्भ्रष्टाधिकारत्वाद्वा। उक्तञ्च—

ये भवन्ति महीपस्य संमानितविमानिताः।
यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा॥ १२२॥

तत्तावदस्य चिकीर्षितं वेत्तुं स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि, कदाचिद्दमनकस्तमादाय मां व्यापादयितुमिच्छति। उक्तञ्च—

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि।
विश्वस्तास्त्वेव[1] बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः॥ १२३॥
बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासं व्रजेन्नरः।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च॥ १२४॥
शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः॥ १२५॥

उभयत्र वेतनं, यस्यासौ तथा। शत्रुपक्षात्स्वपक्षाच्च गृहीतवेतन–उभयत्र भृत्यत्वमास्थित, तस्य भावस्तत्त्वात्। पूर्वं संमानिता, पश्चाद्विमानिता, भ्रष्टाधिकारा। तस्य=राज्ञ। कुलीना=सत्कुलप्रसूता, कुलक्रमागताश्च॥१२२॥

तं=मच्छत्रुं। व्यापादयितुं=निहन्तुम्। विश्वासमुपगता बलिनोऽपि–निर्बलै–बध्यन्ते=हन्यन्ते॥ १२३॥ बृहस्पतेरपि=सुरगुरोरपि, तत्तुल्यबुद्धेर्देवगुरुतुल्यप्रभावस्यापि च, न विश्वासं व्रजेत्। 'यद्वा नीतिविदो बृहस्पतेरपि एतन्मतमस्ति यत्–कस्यापि विश्वासो न कार्य' इतीत्यर्थ। सन्धितस्य=उत्पादितविश्वासस्य। राज्यलाभोद्यत=इन्द्रपदाभिलाषी। वृत्र–इन्द्रेण शपथैर्विश्वासं ग्राहयित्वाऽवसरे हत॥ १२५॥

---

१ 'विश्वस्तास्तु प्रबध्यन्ते'। पा०।

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ १२६ ॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ ।

दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा 'वृषभोऽय'मिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत्-'अहो! शोभनमापतितम्, अनेनैतस्य सन्धिविग्रहद्वारेण मम पिङ्गलको वश्यो भविष्यती'ति। उक्तञ्च—

न कौलीनान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥
सदैवाऽऽपद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः साऽऽपदं नृपम् ॥ १२८ ॥
यथा वाच्छंति नीरोगः कदाचिन्न चिकित्सकम् ।
तथाऽऽपद्रहितो राजा सचिवं नाऽभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एवं विचिन्तयन्पिङ्गलकाऽभिमुखः प्रतस्थे । पिङ्गलकोऽपि तमायान्त प्रेक्ष्य स्वाकार रक्षन्यथापूर्वमवस्थितः । दमनकोऽपि पिङ्गलकसकाशं गत्वा प्रणम्योपविष्टः ।

पिङ्गलक आह-'किं दृष्टं भवता तत्सत्त्वम् ?'। दमनक आह-'दृष्टं स्वामिप्रसादात् ।' पिङ्गलक आह-'अपि सत्यम् ?'। दमनक-

सिध्यति=वशे गच्छति ॥ १२६ ॥ सम्प्रधार्य=निश्चित्य । शोभनमापतितं=युक्तं जातम् । ('अच्छा हुआ' अच्छा मौका आया)। अनेन=वृषभेण । एतस्य=सिंहस्य । सन्धिविग्रहद्वारेण=मैत्री-युद्धादिप्रसङ्गेन । कौलीन्यात्=सत्कुलप्रसूतत्वान्मन्त्रिणाम् । सौहार्दात्=मन्त्रिणा सुहृद्भावेन वा, वाक्ये न प्रवर्त्तते=तेषां वाक्यं नानुरुध्यते । व्यसनं=विपत्तिम् ॥ १२७ ॥ भोग्यो भवति=वशे तिष्ठति । नीरोग =स्वस्थ ॥ १२९ ॥ स्वाकार रक्षन्=स्वमनोभावं गूहमान, निर्भयमिवात्मानं दर्शयन् । यथापूर्वं=चतुर्मण्डलव्यूहेन । स्वामिप्रसादात्=भवत्प्रतापेनानुग्रहेण च । अपि सत्यम् ?=किं सत्यमुच्यते भवता एतत् । ('क्या यह सच

१ 'यथा नेच्छति' इति पा० । २ 'सुचिकित्सकम् । पा० ।

आह-किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते ! । उक्तञ्च—

अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवानाञ्च-विनश्येत स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च—

सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तितः ॥
तस्मात्तं देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥
सर्वदेवमयस्याऽपि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाऽशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥

पिङ्गलक आह-'अथवा सत्यं दृष्टं भविष्यति भवता, न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्ति, अतो न त्वं तेन निपातितः । यतः—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं 'महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्' ॥१३३॥

अपिच—

गण्डस्थलेषु मदवारिषु वद्धरागमत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तवलोऽपि नागस्तुल्ये वले तु वलवान्परिकोपमेति॥

दमनक आह-'अस्त्वेवं स महात्मा, वयं कृपणाः, तथापि

है' १) । स्वामिपादाना=मान्याना प्रभूणा । देवाना=देवताना, भूभुजा=राज्ञा च पुरतोऽल्पमपि असत्यं वदन् द्रुतं=शीघ्रं, विनश्यतीत्यर्थ ॥ १३० ॥

तं=राजानं, व्यलीकेन=वैपरीत्येन, दुष्टभावेन ॥ १३१ ॥ नृपात्सद्य इहैव च फलं, देवात्तु भवान्तरे=जन्मान्तरे, नरकस्वर्गादिरूपं फलं भवति । एवञ्च देवादपि महान् भूपतिरित्याशय ॥ १३२ ॥

दीनोपरि=तुच्छजनोपरि । तेन=महता तेन सत्त्वेन । प्रभञ्जन =वायु , सर्वतोभावेन प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, स्तब्धान् वृक्षास्तु नाशयति । उन्नतचेतसां=महताम् । महत्सु विक्रमदर्शनं स्वभाव =प्रकृति ॥ १३३ ॥ गण्डस्थले प्रवहत्सु मदवारिझरेषु वद्धो राग =स्पृहा यैस्तेषा मत्ताना भ्रमता भ्रमराणा-पादतलैराहतोऽपि=ताडितोऽपि, नितान्तवलोऽपि=महावलोऽपि नाग =कुञ्जरो न कोपं गच्छति=भ्रमरोपरि न क्रुध्यति । वलवान् हि तुल्यवल एव कोपमधिगच्छतीत्याशय ॥ १३४ ॥ महात्मा=वलीयान् । कृपणा =दीना । योजयामि-'त'-

स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वेन योजयामि।' पिङ्गलक आह सोच्छ्वासं-'किं भवाञ्छक्नोत्येवं कर्तुम्?।

दमनक आह-किमसाध्यं बुद्धेरस्ति?। उक्तञ्च—

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः।
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम्॥ १३५॥

पिङ्गलक आह-'यद्येवं तर्ह्यमात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम्। अद्य प्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्यमिति निश्चयः।'

अथ दमनकः सत्वरं गत्वा सञ्जीवकं साक्षेपमाहूतवान्-'एह्येहीतो दुष्टवृषभ!, स्वामी पिङ्गलकस्त्वामाकारयति, किं निःशङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नर्दसि वृथा'-इति। तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकोऽब्रवीत्-'भद्र! कोऽयं पिङ्गलकः?। दमनक आह-(सविस्मयं)-किं स्वामिनं पिङ्गलकमपि न जानासि?। पुनश्च सामर्षमाह-क्षणं प्रतिपालय, फलेनैव ज्ञास्यसि। नन्वयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्गलकनामा सिंहस्तिष्ठति।'

तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवाऽऽत्मानं मन्यमानः सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। आह च-'भद्र! भवान्साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते, तद्यदि मामवश्यं तत्र नयसि-तदभयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात्प्रसादः कारयितव्यः।' दमनक आह-'भोः! सत्यमभिहितं भवता, नीतिरेषा। यतः—

मिति शेषः। सोच्छ्वासं=दीर्घं श्वासं विमुच्य।-आह=जगाद। पदातयः=पादचारिणः सैनिकाः॥ १३५॥ प्रसादनिग्रहादिकं=पारितोषिकदानवधबन्धनादिकम्। प्रसादः=पारितोषिकवितरणं। निग्रहः=दण्डपातनम्। निश्चयः। 'ममे'ति शेषः।

अथ=सिंहप्रतिज्ञानन्तरम्। साक्षेपं=सभर्त्सनम्। तं=वृषभम्। इदम्=इत्थम्। इतः=इह (यहाँ) आकारयति=आह्वयति। नर्दसि=शब्दं करोषि। भद्र!=साधो ('भाई' 'भले आदमी')। क्षणं=किञ्चित्कालं। प्रतिपालय=स्थिरो भव। ननु=निश्चये। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। मृगाः=

---

१ 'भृत्यत्वे नियोजयामि'-इति पाठान्तरम्।

पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समुद्रस्य गिरेरपि ।
न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित्क्वचित् ॥ १२६ ॥

तत्त्वमत्रैव तिष्ठ, यावदहं तं समये धृत्वा ततः पश्चात्त्वामानयामी'ति । तथाऽनुष्ठिते दमनकः पिङ्गलकसकाशं गत्वेदमाह–'स्वामिन् ! न तत्प्राकृतं सत्त्वम्, स हि भवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभः-इति । मया पृष्ट इदमूचे-महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरेशष्पाग्राणि भक्षयितुं समादिष्टः । किं बहुना,-मम प्रदत्तं भगवता क्रीडार्थं वनमिदम् ।' पिङ्गलक आह-सभयम्–'सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना, न देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवंविधे वने निःशङ्कं नर्दन्तो भ्रमन्ति । ततस्त्वया किमभिहितम् ? ।' दमनक आह–'स्वामिन् ! एतदभिहितं मया–यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिनः पिङ्गलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतम्, तद्भवानभ्यागतः प्रियोऽतिथिः । तत्तस्य सकाशं गत्वा भ्रातृस्नेहेनैकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेयः'-इति । ततस्तेनापि सर्वमेतत्प्रतिपन्नम् ।

वन्यजन्तवः । साधुसमाचारः=सज्जनोचितव्यवहारशीलः । प्रसादः=अनुग्रहः । एषा=वक्ष्यमाणा 'राज्ञो विश्वासो न कार्य' इत्येवंरूपा । पर्यन्तः= प्रान्तभागः, चित्तान्तः=हृद्गतो भागः । क्वचित्=कुत्रचिदपि ॥ न प्राकृतं=न साधारणं, किन्तु दिव्यं, तदेवाह–स हीति । सः=सत्त्वं । वृषभः । विधेयगतलिङ्गोपादानात्पुंस्त्वमत्र । मया=दमनकेन । पृष्टः=गर्जनकारणं पृष्टः सः वृषभः । इदं=वक्ष्यमाणम् । परितुष्टेन=प्रसन्नेन । कालिन्दीपरिसरे=यमुनाकूले । शष्पाग्राणि कोमलघासाङ्कुराग्राणि । किं बहुना भाषणेन–अस्य वनस्य प्रभुरहमेव शम्भुना कृतोऽस्मि 'इदमाहे'ति पूर्वेण सम्बन्धः ।

शष्पभोजिनः=घासभोजिनो बलीवर्दादयः । व्यालाकीर्णे=हिंस्रजन्तुभिः परिवृते । एवंविधे=अतिगहने । ततः=वृषभवचनश्रवणानन्तरं । चण्डिकावाहनभूतस्य=दुर्गावाहनस्य सिंहस्य । विषयीभूतम्=अधिकारान्तर्गतम् । तस्य=सिंहस्य । सकाशं=समीपे । कालो नेयः=समयो यापनीयः । प्रतिपन्नं=स्वीकृतम् । उक्तञ्च=

---

१ समये धृत्वा=अभयवचनमादाय । 'दृष्ट्वे'ति पाठान्तरम् ।

उक्तश्च सहर्षम्-'स्वामिनः सकाशादभयदक्षिणा दापयितव्या'-इति। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलक आह-'साधु सुमते! साधु मन्त्रिश्रोत्रिय! साधु! मम हृदयेन सह संमन्त्र्य भवतेदमभिहितम्। तद्दत्ता मया तस्याऽभयदक्षिणा। परं सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणां याचयित्वा द्रुततरमानीयताम्-इति। अथ साधु चेदमुच्यते—

अन्तः सारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्यं-सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥ १३७॥

तथा च—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, स्वस्थे को वा न पण्डितः?॥ १३८॥

दमनकोऽपि तं प्रणम्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः सहर्षमचिन्तयत्, अहो! प्रसादसमुखीनः स्वामी, वचनवशगश्च संवृत्तः, तन्नास्ति धन्यतरो मम। उक्तञ्च—

अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम्।
अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम्॥ १३९॥

स्वीकृत्य पुनरुक्तञ्च। स्वामिनः=सिंहस्य। अभयमेव दक्षिणा-दापयितव्या। 'मह्य'मिति शेषः। सुमते=सुबुद्धे! दमनक! साधु=शोभनन्त्वया कृतम्। हृदयेन सह संमन्त्र्य=मदीयेन मनसा सहालापं कृत्वेव। मया यदभिधेयं तदेव त्वयोक्तमिति यावत्। तस्य=तस्मै वृषभाय। मदर्थे=मत्कृते।

अन्तःसारैः=ज्ञाननिधिभिः, दृढतरैश्च। अकुटिलैः=सरलाशयैः, अवक्रैश्च। सुपरीक्षितैः=चिरं परीक्षितैः, भारधारणसमर्थैश्च। स्तम्भैः-आधारस्तम्भैः, मन्दिरमिव=भवनमिव अमात्यैः राज्यं धार्यते॥१३७॥

भिन्नस्य=विरुद्धस्य, भेदं गतस्य च। सन्धाने=सान्त्वने, मेलने च। प्रज्ञा=बुद्धिचातुर्यं, व्यज्यते=अभिज्ञायते। सान्निपातिके कर्मणि=सन्निपातरोगचिकित्सायां। भिषजां=वैद्यानां। बुद्धेः परीक्षा भवति। स्वस्थे=साधारणावस्थापन्ने ज्वरादिचिकित्सारूपे कर्मणि। कः पण्डितो न? अपि तु सर्व एव साधारणोऽपि जनः 'पण्डितः (किं पुनर्वैद्यनामधारी) इत्यर्थः॥१३८॥ प्रसादसमुखीनः=प्रसन्नः।

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच—'भो मित्र ! प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वामी, अभयप्रदानं दापितश्च । तद्विश्रब्धं गम्यतामिति । परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण वर्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम् । अहमपि तव सङ्केतेन सर्वां राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्धरिष्यामि । एवं कृते द्वयोरप्यावयो राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति ।' उक्तञ्च—

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।
नृपतीन् प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥

तथा च—

यो न पूजयते गर्वादुत्तमाऽधममध्यमान् ।
भूपसंमानमान्योऽपि भ्रश्यते-दन्तिलो यथा ॥ १४१ ॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत् ?।' सोऽब्रवीत्—

सप्रश्रयं=सस्नेहं । 'प्रश्रयप्रणयौ समौ' इत्यमरः । असौ स्वामी–सिंह –मया भवदर्थम् । अभयप्रदानं प्रार्थित –याचित । मिलिता चाऽभयदक्षिणेति यावत् । विस्रब्धं=विस्रम्भसहितं यथा स्यात्तथा । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमर । **समयधर्मेण** =प्रतिज्ञानुसारेण । इदानीं याऽऽवयो शपथादिना प्रतिज्ञापूर्वक मैत्री सञ्जाता, सा त्वया सर्वदा पालनीयेति भाव । गर्वमासाद्य=अभिमानमालम्ब्य । स्वप्रभुतया=स्वातन्त्र्येण । सङ्केतेन=अनुमत्या । राज्यधुरं=राज्यभारम् । उद्धरिष्यामि=आत्मनि धारयिष्यामि ।

आखेटकस्य = मृगयाया । धर्मेण=व्यवहारेण । तद्वत् । नृणा=मनुष्याणा । वशे=प्रभुत्वे । विभवा =सम्पद स्यु । मृगयाधर्ममेवाह–नृपतीनिति । नृपतीन्= पशुधर्माणो राज , धनिनश्च । एक प्रेरयति=विश्वासं ग्राहयति, स्वलाभप्रदेषु शुभाऽशुभेषु कर्मसु योजयति च । मृगयापक्षे–उत्थापयति । विश्वस्ताश्च पक्षे उत्थापिताश्च तानन्यो हन्ति=वञ्चयति, स्वकार्यं साधयति च । तद्वदावाभ्या राजलक्ष्मीर्भोक्तुं शक्यते, परस्परसाहाय्येनेत्याशय । 'नृपघ्न' निति केचित्पठन्ति ॥ १४० ॥

---

१. 'प्रसादितोऽसौ' । २. 'यथौचित्यं नृपाश्रितान् । स प्राप्नोति पदभ्रंशं भूपतेर्दन्तिलो यथा ॥' पा.

३. दन्तिल-गोरम्भ-कथा[1] ।

अस्त्यत्र धरातले वर्द्धमानं नाम नगरम् । तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसति स्म । तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टिं नीतास्तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च । किं बहुना–न कोऽपि तादृक्केनापि चतुरो दृष्टो नापि श्रुतो वेति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

'नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः' ।
–इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचित्कन्याविवाहः संप्रवृत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजसन्निधिलोकाश्च संमानपुरःसरमामन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च । ततो विवाहानन्तरं राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीयाऽभ्यर्चितः ।

अथ तस्य नृपतेर्गृहसंमार्जनकर्ता गोरम्भो[2] नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेनानुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञयाऽर्द्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः ।

सोऽपि ततः प्रभृति निःश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिशेते । 'कथं मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्तव्ये'ति चिन्तयन्नास्ते ।

नानाभाण्डपतिः=राजकीयगोष्ठागारधनागाराध्यक्षः । ['भण्डारी' 'खजाची'] सकलपुरनायकः=नागरिकजननिवहप्रधानः ('पञ्च–मुखिया')। तादृक्=दन्तिलतुल्यः ।

नरपतीति । जनपदानां=लोकानां । 'भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयो'-रिति विश्वः । हितकर्ता=कल्याणकर्ता ॥ १४२ ॥

राजसन्निधिलोकाः=राजसेवकाः । राजपुरुषाः । अन्तःपुरेण सहितः–सान्तःपुरः=सपुत्रकलत्रः । अभ्यर्चितः=पूजितः । सत्कृतश्च । अनुचितस्थाने=स्वायोग्ये उच्चपदे । अवज्ञया=अपमानेन । अर्धचन्द्रं=गलहस्तं दत्वा । (गर्दनिया देकर) ।

---

१ कथेयमश्लीलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठ्यग्रन्थवहिर्भूता । २. 'गोरभनामा' ।

अथवा किमनेन वृथा शरीरशोषणेन ? । न किञ्चिन्मया तस्याऽपकर्तुं शक्यमिति । अथवा साध्विदमुच्यते—

यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः ? ।
उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम् ? ॥१४३॥

अथ कदाचित्प्रत्यूषे योगनिद्रां गतस्य राज्ञः शय्याऽन्ते मार्जनं कुर्वन्निदमाह–'अहो ! दन्तिलस्य महद्दृप्तत्वं यद्राजमहिषीमालिङ्गति ।' तच्छ्रुत्वा राजा ससम्भ्रममुत्थाय तमुवाच–'भो भो गोरम्भ ! सत्यमेतद्यत्त्वया जल्पितम् ?, किं देवी दन्तिलेन समालिङ्गिता ? ।' इति ।

गोरम्भः प्राह–'देव ! रात्रिजागरणेन द्यूताऽऽसक्तस्य मे बलान्निद्रा समायाता, तन्न वेद्मि किं मयाऽभिहितम् ? ।'

राजा सेर्ष्यं स्वगतम् [अचिन्तयत्]–'एष तावदस्मद्गृहेऽप्रतिहतगतिः, तथा दन्तिलोऽपि । तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति, तेनेदमभिहितम् । उक्तञ्च—

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा ।
तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद्ब्रूते वाऽथ करोति वा ॥१४४॥

तथा च—

शुभं वा यदि वा पापं यन्नृणां हृदि संस्थितम् ।
सुगूढमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥१४५॥

सोऽपि=गोरम्भोऽपि । भाण्डपते=अर्थपते ['राजभण्डारी'] । राजप्रसादहानि = राजानुग्रहभङ्ग । अपकर्तुं=विहन्तुम् । असौ= निर्लज्जो जन । किम्=किमर्थं कुप्यति १ । उत्पतितोपि=ऊर्ध्वं प्लुतोऽपि । भ्राष्ट्रकम्=अम्बरीषम् (भाड) । ['चना उछलकर भाड को नही फोड सकता'] ॥ १४३ ॥ प्रत्यूषे=प्रभाते, योगनिद्राम्=अप्रगाढनिद्राम् । ध्यानावस्था वा (योगनिद्रा=सचेत निद्रा) । शय्यान्ते=पर्यङ्कसमीपे । दृप्तत्वं=धृष्टत्वम् । अप्रतिहता गतिर्यस्यासौ तथा=अवारितगमन । सुगूढ=रहस्यभूतमपि, स्वप्नवाक्यं=सुप्तप्रलाप , मदात्=मद्यादिमदात् ['नशा'] ॥ १४५ ॥

---

१ 'स नरस्य निर्लज्ज ' पा० । २ कश्चिन्न ।

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सन्देहः—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं–प्रियः को नाम योषिताम् ! ॥१४६॥

अन्यच्च—

एकेन स्मितपाटलाऽधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्तेऽन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचनाः ।
दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चाऽन्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमाऽस्ति वामभ्रुवाम् ? ॥१४७॥

तथाच—

नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥१४८॥

जल्पन्तीति । अन्येन सह भाषन्ते, अन्यं कटाक्षादिविभ्रमेण पश्यन्ति, हृदि अन्यं चिन्तयन्ति, स्वभावचञ्चला स्त्रियस्तासां को नाम प्रियः ? । न कोऽपीत्यर्थः ॥१४६॥

अमुमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह–एकेनेति । स्मितेन पाटला अधरस्य रुक् यासां ताः,–स्मितपाटलाधररुचः =ईषद्धासपाटलिताधराः । स्मिता=विकसिता या पाटला (‘गुलाबका फूल’) तस्या इव अधरस्य रुक् यासान्ता इति वा विग्रहः । अनल्पाक्षरं=बहुलं यथा स्यात्तथा । एकेन=केनचित्पुरुषेण । जल्पन्ति=भाषन्ते । इतः=अस्मात् । अन्यं=भिन्नं । स्फुटन्ती चासौ कुमुदिनी च–स्फुटत्कुमुदिनी= विकाशिनीलकमललता, सा इव–फुल्लानि–अत एव–उल्लसन्ति लोचनानि यासां ताः, स्फुटत्कुमुदिनी–फुल्लोल्लसल्लोचनाः =विकसितकमलिनीपुष्पानुकारिफुल्लोल्लासिलोलनयनाः सत्यः । वीक्षन्ते=पश्यन्ति । दूरम्=अत्यन्तम् । उदारं=विशालं, यत् चरित्रं तेन चित्रः=आश्चर्यप्रदः, विभवः=सौन्दर्यादिसम्पत् यस्यासौ तं=सौन्दर्यादिगुणनिधिम्–अन्यं । धिया=चेतसा । ध्यायन्ति=चिन्तयन्ति । इत्थम्=इत्थञ्च । परमार्थतः=वस्तुतस्तु । अर्थवदिव=सत्यं नाम । प्रेम=स्नेहः । वामभ्रुवां=विलासिनीनां । केन=केनास्ति ? । तासां सत्यं केनापि स्नेहो नास्ति, परं जगद्वञ्चयन्तीमाः कपटस्नेहप्रदर्शनेन केवलमित्याशयः ॥ १४७ ॥

काष्ठानां=काष्ठैः, आपगानां=नदीभिः, तृप्यति=पूर्यते । अन्तकः=कालः, सर्वभूतैर्न तृप्यति । पुंसां=पुरुषैः, वामलोचनाः=प्रमदाः, न तृप्यन्तीत्यर्थः ॥ १४८ ॥

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥
यो मोहान्मन्यते मूढो 'रक्तेयं मम कामिनी'।
स तस्या वशगो नित्यं भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥ १५० ॥
तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि।
करोति, यैः कृतैर्लोके लघुत्वं याति सर्वतः॥ १५१ ॥
स्त्रियञ्च यः प्रार्थयते सन्निकर्षञ्च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः॥ १५२ ॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा॥ १५३ ॥
नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासाञ्च वयसि स्थितिः।
विरूपं रूपवन्तं वा 'पुमा'नित्येव भुञ्जते॥ १५४ ॥
रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटको यथा।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशितः॥ १५५ ॥

रह =एकान्तं स्थानं, नास्ति= न लभ्यते। क्षण =अवसर.। प्रार्थयिता=कामुक। तेन=तेनैव ॥१४९॥ मोहात्=मौर्ख्यात्,मूढ =मूर्ख, मम=ममोपरि, रक्ता=अनुरक्ता। इत्थं यो मन्यते स तस्या =प्रमदाया, क्रीडाया, शकुन्त =पक्षी शुकादि, तद्वत्। ('हाथकी कठपुतली' खिलौना) ॥ १५० ॥ लोक तासा स्वल्पान्यपि वाक्यानि, सुगु रूणि कृत्यानि च करोति। तेन च सर्वतो, लघुत्वं=लाघवं याति ॥ १५१ ॥

संनिकर्प=सामीप्यम्। ईषत्=किञ्चिदिव ॥१५२॥ **अनर्थित्वादिति**। अर्थिना= कामुकानामभावात्, परिजनस्य=बन्धुवर्गादे, मर्यादाया=कुलधर्मपालने, अमर्यादा = मर्यादाशून्या, प्रोद्दामदर्पा प्रमदा ॥१५३॥ न वयसि स्थिति =नाऽवस्थायामा- स्थाऽस्ति। बालोऽयं वृद्धोऽयमिति विचारो नास्तीत्यर्थ। 'पुमानय मित्येव दृष्ट्वा, भुञ्जते=सेवन्ते। यद्वा आगा यौवनवार्धक्ययोर्भेदो नास्तीत्यर्थ. ॥ १५४ ॥

रक्त इति। रक्त =अनुरक्त, मञ्जिष्ठादिना रक्तश्च। भोग्य =उपयोगार्ह, धारणयोग्यश्च। शाटक'=वस्त्रविशेष 'साड़ी')। य शाटक, दशालम्वी= प्रान्तभागावलम्वन, ('किनारी') नितम्बे=कटिपश्चाद्भागे, विनिवेशित =स्थापितः सन्, घृष्यते= घर्पणेन पीड्यते, एवमनुरक्त पुमानपि नितम्बसारूढ =जघनारूढ,

अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा।
अबलाभिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते' ॥ १५६ ॥

एवं स राजा बहुविधं विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सञ्जातः। किं बहुना-राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः।

दन्तिलोऽप्यकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास-'अहो! साधु चेदमुच्यते—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्यापदोऽस्तङ्गताः?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः, को नाम राज्ञां प्रियः?।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः, कोऽर्थी गतो गौरवं,?
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्? ॥१५७॥

तथा च—

काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा? ॥१५८॥

अपरं-मया अस्य भूपतेः, (अथवा) अन्यस्यापि कस्यचित्

दशालम्वी=कामदशामूढ, धृष्यते=पीड्यते। नानाविधैर्वाक्यैर्मर्कटवन्निदेशं कार्यते चेत्यर्थ। धृष्यते' इति पाठ ॥ १५५ ॥

यथा रक्तोऽलक्तक=यावक, (यावक='महावर' 'मेहदी' 'अलता')। निष्पीड्य=नितरा पीडयित्वा, अवलाभि—पादमूले=पादप्रान्ते। निपात्यते=संयोज्यते, निक्षिप्यते च एवमनुरक्त पुमानपि प्रमदाभि पादयोर्निपात्यते=तिरस्क्रियते ॥१५६॥

विलप्य=विलापं कृत्वा। प्रसादपराङ्मुख=विरक्त। अर्थान्=धनं प्राप्य। को न गर्वित ?। सर्वोपि गर्वितो भवति। विषयिण=विषयलम्पटस्य कस्य पुंस, आपद=विपत्तय, अस्तङ्गता=विनष्टा ?। न कस्यापि। खण्डित=विकृतिमापादितम्। कालस्य=मृत्यो, गोचरान्तरगत=विषयीभूत, अर्थी=याचक, दुर्जनाना वागुरासु=जालेषु। 'वागुरा मृगवन्धनी'त्यमर'। पतित=प्रपतित ('फंसा हुआ')। क्षेमेण=कुशलेन। को यात=को निर्यात ? (कौन निकला है ?) ।१५७।

काके=वायसे। शौचं=शुद्धि। क्षान्ति=क्षमा। क्लीवे=कातरे। धैर्य=साहसं।

राजसम्बन्धिनः स्वप्नेऽपि नाऽनिष्टं कृतम्, तत्किमिति पराङ्मुखो मां प्रति भूपतिः' ?-इति।

एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे विष्कम्भितं विलोक्य संमार्जनकर्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे-'भो भो द्वारपालाः! राजप्रसादाऽधिष्ठितोऽयं दन्तिल[१] स्वयं निग्रहाऽनुग्रहकर्ता च। तदनेन निवारितेन यथाऽहं तथा यूयमप्यर्धचन्द्रभागिनो भविष्यथ'।

तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास-'नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते।
अपि संमानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते॥ १५९॥
अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानवः'॥ १६०॥

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमनाः सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं गत्वा निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन संमान्येदमुवाच-'भद्र! मया न तदा त्वं रागवशान्निःसारितः। यतस्त्वं ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानितः, तत्क्षम्यताम्।' सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वस्त्रयुगलमासाद्य परं परितोषं गत्वा तमुवाच—'भोः श्रेष्ठिन्! क्षान्तं मया ते तत्, तदस्य सन्मानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादं च।' एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः। साधु चेदमुच्यते—

तत्त्वचिन्ता=विवेक। विष्कम्भित=द्वारपालैर्निवारितम्। ('दर्वाजे पर रोके गये')। राजप्रसादाधिष्ठित=राजानुगृहीत। अर्धचन्द्रभागिन=अनेन स्वाधिकाराच्च्याविता भविष्यथ। सोपहासं सेर्ष्यञ्च वाक्यमेतत्स्वापमानस्मारणाय गोरम्भेण प्रयुक्तम्। इदं=राजविरागजननं। कापुरुष=नीच॥ १६०॥

विलक्षमना=लज्जित। सोद्वेग=शोकाकुल। गतप्रभाव=निग्रहाऽनुग्रहसामर्थ्यरहित। तदा=कन्याविवाहकाले। रागवशात्=वैरानुबन्धात्, क्रोधाच्च। दृष्ट=

---

१ 'अस्य प्रसादस्याऽचिरादेव द्रक्ष्यसि राजप्रसादादि फल'मिति लिखिते पाठ।

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो ! सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टेः खलस्य च ॥ १६१ ॥

ततश्चान्येद्युः स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रां गतस्य भूपतेः संमार्जनक्रियां कुर्वन्निदमाह—'अहो ! अविवेकोऽस्मद्भूपतेः, यत्पूरीषोत्सर्गमाचरंश्चिर्भटीभक्षणं करोति ।' तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मयं तमुवाच—'रे रे गोरम्भ ! किमप्रस्तुत लपसि ? । गृहकर्मकरं मत्वा त्वां न व्यापादयामि, किं त्वया कदाचिदहमेवंविधं कर्म समाचरन्दृष्टः ?' । सोऽब्रवीत्—'देव ! द्यूतासक्ततया रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम बलान्निद्रा समायाता, तयाऽधिष्ठितेन मया किंचिज्जल्पितं, तन्न वेद्मि । तत्प्रसादं करोतु स्वामी मम निद्रापरवशस्य'—इति ।

एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितवान्—'यन्मया आजन्मतोऽपि पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता । तद्यथाऽयं व्यतिकरोऽसंभाव्यो ममाऽनेन मूढेन व्याहृतः, तथा दन्तिलस्याऽपीति निश्चयः । तन्मया न युक्तं कृतं यत्स वराकः सम्मानेन वियोजितः । न तादृक्पुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं संभाव्यते । तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां व्रजन्ति ।

एवमनेकधा विमृश्य[2] दन्तिलं समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणा-

मया दृष्ट । तत्=अपमानकारि त्वदीयं चेष्टितम् । उन्नति=प्रसन्नताम्, औन्नत्यञ्च । अधोगति=वैरं, नीचैर्गतिश्च । सुसदृशी=नितरा तुल्या । चेष्टा=व्यवहार' । तुलायष्टे =तुलादण्डस्य । (तराजू)। खलस्य=नीचस्य, पिशुनस्य च ॥१६१॥

अन्येद्यु =अपरदिने । अविवेक =अनुचितकारित्वं । पुरीषोत्सर्ग=मलोत्सर्गं । चिर्भटीभक्षणं=कर्कटीभक्षणं ('टट्टी में बैठकर ककडी खाता है') । सविस्मयं=साश्चर्यम् । अप्रस्तुतम्=अनुचितं । व्यापादयामि=मारयामि । एवंविध=मलोत्सर्गसमये चिर्भटीभक्षण । जन्मान्तरे[1]=जन्मत आरभ्याऽद्य यावत् । व्यतिकर =सम्बन्ध । आचारवैपरीत्यं वा (गड़बडी)। वराक =दीन ('वेचारा गरीब') । समानेन=राजसत्कारेण । तदभावेन=दन्तिलागमनविरहेण । पौरकृत्यानि=पुरवासि-

---

१ अत्र 'जन्मान्तरे' इति पाठस्तु नातीवोचित । २ 'विनिश्चित्य' ।

दिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास। अतोऽहं ब्रवीमि 'यो न पूजयते गर्वात्'—इति। ❀

सञ्जीवक आह—'भद्र! एवमेवैतत्, यद्भवताऽभिहितं तदेव मया कर्तव्यम्'—इति। एवमभिहिते दमनकस्तमादाय पिङ्गलकसकाशमगमत्। आह च-'देव! एष मयाऽऽनीतः स सञ्जीवकः, अधुना देवः प्रमाणम्।' सञ्जीवकोऽपि तं सादरं प्रणम्याऽग्रतः सविनय स्थितः।

पिङ्गलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालङ्कृत दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा संमानपुरःसरमुवाच-'अपि शिवं भवतः?' कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायातोऽसि?। तेनाप्यात्मवृत्तान्तः कथितः, यथा सार्थवाहेन वर्धमानेन सह वियोगः सञ्जातस्तथा सर्वं निवेदितम्।

एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सादरतरं तमुवाच वयस्य! न भेतव्यं, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितेऽस्मिन् वने यथेच्छं त्वयाऽधुना वर्त्तितव्यम्। अन्यच्च-नित्यं भवता मत्समीपवर्तिना भाव्यं, यतः कारणात् बह्वपायं रौद्रसत्त्वनिषेवितं वनं गुरूणामपि सत्त्वानामसेव्यं, कुतः शष्पभोजिनाम्।' इति।

लोककार्याणि। विमृश्य=विचार्य। एवमेवैतत्=यथा भवानाह तत्तथैव। अभिहिते=उक्ते सति। तं=सञ्जीवकम्। स=शिवाऽनुचरो बली। अधुना=सम्प्रति करणीयेषु। प्रमाणम्=प्रभु। अग्रे यत्कर्त्तव्यं तदनुतिष्ठतु भवान्। ('आगे आप जो उचित समझें करें')। तं=सिंहम्। सविनयं=सादरम्। विनयावनत। तस्य=सञ्जीवकस्य। पीना=स्थूला, आयता=विपुला च ककुदस्यासौ-पीनायतककुद्मान्, तस्य। 'उपरी'ति सम्बध। 'अथ ककुत् स्त्रियाम्, पुंसि चोक्ष्ण स्कन्धदेशे' इति केशव। 'पीनवृत्तायत मिति पाठे दक्षिणपाणिविशेषणमेतत्। पीन=पीवर। (मोटा) वृत्त=वर्त्तुल। आयत=दीर्घ। नखान्येव कुलिशानि, तैरलङ्कृतम्। शिव-कल्याणम्। विजने=निर्जने। तेन=वृषभेण। पञ्ज=शलाकागृहं ('पिंजरा')। (यत कारणात्=इस लिए कि)। बह्वपायं-विपत्तिबहुलम्। रौद्रै=क्रूरै। सत्त्वै=जन्तुभि।

---

१ 'न पूजयति यो गर्वात्'। २ 'पीनवृत्तायत'। ३ 'परिरक्षितेन' पा०।

एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्य प्रकाममुदकपानावगाहनं कृत्वा स्वेच्छया पुनस्तदेव वनं प्रविष्टः। ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभारः, सञ्जीवकेन सह सुभाषितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते—

यदृच्छयाऽप्युपनतं सकृत्सज्जनसङ्गतम्।
भवत्यजरमत्यन्तं नाऽभ्यासक्रममीक्षते॥ १६२॥

सञ्जीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोकैरेवाऽहोभिर्मूढमतिः पिङ्गलको धीमान् (तथा-) कृतः। (यथा) अरण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः। किं बहुना-प्रत्यहं पिङ्गलकसञ्जीवकावेव केवलं रहसि मन्त्रयतः, शेषः सर्वोऽपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति, करटकदमनकावपि प्रवेशं न लभेते।

अन्यच्च सिंहपराक्रमाऽभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एकां दिशमाश्रित्य स्थिताः। उक्तञ्च—

फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम्।
सन्त्यज्याऽन्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाऽण्डजाः॥१६३॥

निषेवितं=परिवृतम, आश्रितम्। गुरूणा=महता,=सत्त्वाना-व्याघ्रादीनाम्।

एवम्=इत्थम्। उक्त्वा=सञ्जीवकायाऽभयवाचं दत्त्वा। सकलमृगपरिवृत = सकलपशुगणपरिवृत। 'मृग. पशौ कुरङ्गे च करि-नक्षत्रभेदयो। अन्वेषणायां याच्ञायां'मिति विश्व। सुभाषितगोष्ठीसुख=काव्यालापगोष्ठीसुखम्॥ यदृच्छयेति। यदृच्छया=अकस्मात्। उपनत=प्राप्तं। सकृत्=एकवारम्। सज्जनसङ्गत=सज्जनसङ्गम। अत्यन्त=नितराम्। अजरं-दृढम् भवति। अभ्यासक्रमं=पौन. पुन्येन सङ्गतम्। नेक्षते=न प्रतीक्षते॥१६२॥

अनेकशास्त्रावगाहनात्=नानाशास्त्राभ्यासात्। स्तोकै=अल्पै। मूढमति = मूर्ख। पिङ्गलक = तन्नामा स सिंह। धीमान्=विवेकी। अरण्यधर्मात्=पशुवधादे। ग्राम्यधर्मेषु=दयाकारुण्यादिषु। बहुना गदितेन किं प्रयोजनं-संक्षिप्य कथयामीत्यर्थ। रहसि=विजने। मृगजन =व्याघ्रवृकादि। क्षुधारूपेण व्याधिना=

---

१ 'उदकग्रहण'।

तथा च—

अपि संमानसंयुक्ताः कुलीना भक्तितत्पराः ।
वृत्तिभङ्गान्महीपालं त्यजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—

कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः ।
कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥ १६५ ॥

तथा-न केवलं सेवका इत्थंभूताः-यावत्समस्तमप्येतज्जगत् परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तद्यथा—

देशानामुपरि क्ष्मापा[1] आतुराणां चिकित्सकाः ।
वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः ॥ १६६ ॥
प्रमादिनां तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम् ।
गणिकाः कामिनां चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥
सामाद्यैः[2] सज्जितैः पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम् ।
उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलजानिव ॥ १६८ ॥

रोगेण । बाधिता =पीडिता । एका दिशम्=एकस्मिन् प्रदेशे । अण्डजाः=पक्षिण· ॥१६३॥ संमानसंयुक्ता =संमानिता अपि । वृत्तिभङ्गात्=जीविकाविनाशात् । वृत्ते =जीविकाया ('पेटिया' 'तनखाह')। कालातिक्रमणं=समयोल्लङ्घनं ('कई महीने तक तनखाह न देना') भर्त्सिता =तर्जिता ॥ १६५ ॥

इत्थम्भूता =भृत्या एव जीविकार्थमेव राजानं सेवन्ते इति, न किन्तु-यावत्= दृश्यमानम्, इदं जगत्=संसार । परस्परम्=अन्योन्यं । भक्षणार्थं=वञ्चयित्वा स्वोदरपूरणार्थमेव । सामादिभि·=साम-दान-दन्ड-भेदाख्यैरुपायै, सज्जितं तिष्ठतीत्यर्थ ।

देशानां=ग्रामनगरादिनिवासिनाम् उपरि । क्ष्मापा =राजान-उपजीवनाय प्रतीक्षन्ते=अवसरं प्राप्य स्वजीवनाय धनं गृह्णन्ति । आतुराणा=रोगार्त्तानामुपरि । चिकित्सका =वैद्या । 'प्रतीक्षन्ते' इति शेष । वणिज =वैश्या । प्रमादिनाम्=अव-धानशून्याना । चौरा =तस्करा । गृहमेधिना=गृहस्थानाम् । शिल्पिन =स्वर्ण-कारादय । सामादिना=सामदानदण्डभेदादिना । सज्जितै =कल्पितै । पाशै =

१ 'क्ष्माभृत्' । २ 'सामादि' ।

अथवा साध्विदमुच्यते-

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्॥ १६९॥

अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाऽशनम्॥
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद्गृहे
तत्रान्यस्य कथं न?, भाविजगतो यस्मात्स्वरूपं हि तत्॥१७०॥

ततः[1] स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते। तत्र दमनको ब्रूते-'आर्य करटक! आवां तावदप्रधानतां गतौ। एष पिङ्गलकः सञ्जीवकवचनाऽनुरक्तः-स्वव्यापारपराङ्मुखः सञ्जातः। सर्वोऽपि परिजनो[2] गतः। तत्किं क्रियते?'॥ करटक आह-'यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति, तथापि स्वामी

पाशैरिव वञ्चनासाधनैर्व्यवहारैरुपलक्षिता सन्त। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। जलजा=मीनादय। जलजानिव=लघुमीनानिव। उपजीवन्ति=वृत्तये समाश्रयन्ते। तान् भुञ्जते॥१६८॥ खलाना वञ्चकानाम्। अभिप्राया=मनोरथा। जगद्विनाशवैक्लव्यादय। वर्त्तते=जीवति॥ १६९॥

अत्तुमिति। शम्भोरयं-शाम्भव-फणी=सर्प। गणपते=गणेशस्य। आखुं=मूषकम्। अत्तुं=भक्षयितुम्। वाञ्छति=इच्छति। त=शिवकण्ठाभरणं सर्प। क्रौञ्चरिपो=कुमारस्य। 'वाहन'मिति शेष। शिखी=मयूर। 'अत्तु वाञ्छति।' नागाशन=मयूर। गिरिसुताया ('वाहनं')। सिह-अत्तुं वाञ्छतीति सम्बन्ध। इत्थम् एव प्रकारेण, यत्र-शम्भोरपि=जगदीश्वरस्यापि-गृहे-परिग्रहस्य=कुटुम्बस्य-अनुजीविवर्गस्य च। घटना=सघटन, कलहो-विरोधभावो वा। तत्र अन्यस्य गृहे स्त्रीपुत्रभृत्यादिवर्गे कलह कथ न?। अवश्यमेव स्यात्,। यत-तत्=शम्भुगृहं। भाविनो जगत=सृष्टे उत्पत्स्यमानस्य जगत। स्वरूपम्=आदर्शभूतम्॥१७०॥

स्वामिप्रसादरहितौ=राजानुग्रहशून्यौ। क्षुत्क्षामकण्ठौ=क्षुधाक्षीणगलौ, बुभुक्षादिपीडितौ। स्वव्यापारस्य=मृगवधादे। पराङ्मुख=विरक्त। स्वदोषनिरा-

१ 'तौ च करटकदमनकौ स्वामिप्रसादरहितौ'।
२ 'परिजन' कोऽपि कुत्रापि गत'। इति।

स्वदोषनाशाय वाच्यः। उक्तञ्च—

'अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाऽम्बिकासुतः॥ १७१॥

तथा च—

मन्दोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः।
उन्मार्ग-वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः॥ १७२॥

यत्तु त्वयैष शष्पभोजी स्वामिनः संकाशमानीतः, तत्स्वहस्तेनाऽङ्गाराः कर्षिताः। दमनक आह—सत्यमेतत्, ममायं दोषो, न स्वामिनः। उक्तञ्च यतः—

जम्बुको हुडुयुद्धेन, वयं चाऽऽषाढभूतिना।
दूतिका तन्तुवायेन, त्रयो दोषाः स्वयङ्कृताः॥ १७३॥

करटक आह—कथमेतत्?'। सोऽब्रवीत्—

४. आषाढभूति—जम्बुक—दूती—कथा।

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम्। तत्र देवशर्मा

साय=आत्मदोषनिरासाय। भृत्यकर्त्तव्यपालनायेति यावत्। स्वामी वाच्य =राजोपदेष्टव्य। स्वदोषनाशाय=स्वनिन्दानिवृत्तये। बोद्धव्य =उपदेष्टव्य। यथाऽशृण्वन्नपि अम्बिकासुत =धृतराष्ट्र। विदुरेण प्रतिबोधित =सदुपदेशं श्रावित॥१७१॥ उन्मार्गं गच्छतोर्मदोन्मत्तयोर्भूपगजयो—समीपस्था। महामात्रा =सचिवाः, हस्तिपकाध्यक्षाश्च। ('महावत' 'मन्त्री')। वाच्यता=निन्दनीयताम्। यान्ति=गच्छन्ति। 'महामात्र समृद्धे चाऽमात्ये हस्तपकाधिपे' इति मेदिनी॥ १७२॥

त्वया=करटकेन। एष =सञ्जीवक। शष्पभोजी=घासभोजी। स्वामिन =प्रभोसिंहस्य। तत्=तदेतत्तदानयनम्।

अङ्गाराः कर्षिता =अग्निरुत्त। ('आग बोना' 'अपने हाथ काटे बोना')। स्वहस्तेन मार्गे अग्निवपनेन तुल्यमित्याशय। हुडु =मेष। तन्तुवाय =कौलिक। ('जुलाहा' 'कोली' 'कोष्टी'।) 'दूतिकापरकार्येणे'त्यपि पाठ॥ १७३॥

---

१ 'स्वामिना सह संयोजित.'। २. 'परकार्येण'। ३. इय कथाऽश्लीलतया काशिक मध्यमपरीक्षापाठ्याशबहिर्भूता।

नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । तस्याऽनेकसाधुजन[1]दत्त सूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात्कालेन महती वित्तमात्रा सञ्जाता । ततः स न कस्यचिद्विश्वसिति, नक्तन्दिनं कक्षान्तरात्तां मात्रां न मुञ्चति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दु.खं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रया. ॥ १७४ ॥

अथाऽऽषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रां तस्य कक्षान्तरगतां लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्-'कथं मयाऽस्येयमर्थमात्रा हर्तव्या ?'-इति । तदत्र मठे तावद्दृढशिलासञ्चयवशाद्भित्तिभेदो न भवति । उच्चैस्तरत्वाच्चाऽद्वारेण प्रवेशो नस्यात् । तदेनं मायावचनैर्विश्वास्याहं छात्रतां व्रजामि येन च विश्वस्त. कदाचिन्मम हस्तगतो भविष्यति । उक्तञ्च—

नि स्पृहो नाऽधिकारी स्यान्नाऽकामी मण्डनप्रिय. ।
नाऽविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चक. ॥ १७५ ॥

विविक्तप्रदेशे=निर्जनस्थाने । मठायतन=छात्रादिनिवास (मठ)। परिव्राजक =सन्यासी । साधुजना =श्रेष्ठिन ('साहुकार')। सूक्ष्मवस्त्राणि=चीनांशुकादीनि । यतिभ्यो वस्त्रमेव दक्षिणास्थाने दीयते न काञ्चनादिकमिति प्रसिद्धम् । वित्तमात्रा=धनराशि । नक्तन्दिवम्=अहर्निशम् । कक्षान्तरात्=क्रोडोत्सङ्गात् । (वगल से)। आये=आगमने । व्यये=उपभोगे । अर्था =धनानि। कष्टसंश्रया = क्लेशप्रदा । अतस्तान् धिगिति योजना ॥ १७४ ॥

परवित्तापहारी=परधनतस्कर । धूर्त =वञ्चक ('ठग')। अर्थमात्रा=धनराशि । ('माल-मत्ता' 'रुपया पैसा')। भित्तिभेद =सन्धिभेद । 'सेन्ध')। अद्वारप्रवेश =भित्तिमुल्लङ्घ्य प्रवेश । एनं=देवशर्माण। छात्रता=शिष्यताम्। विश्वस्त =जातविस्रम्भ । हस्तगत =मद्वशग ।

निःस्पृह इति । अधिकारी=अधिकारारूढ । अकामी=कामुकभिन्न । मण्डनप्रिय =शृङ्गाराभरणप्रिय । अविदग्ध =अकुशल । स्फुटवक्ता=स्पष्टवादी ।

---

[1] 'यजमान'।

एवं निश्चित्य तस्याऽन्तिकमुपगम्य-'ॐ नमः शिवाये'-ति प्रोच्चार्य साष्टाङ्गं प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच-'भगवन्! असारः संसारोऽयं। गिरिनदीवेगोपमं यौवनं। तृणाऽग्निसमं जीवितं। शरदभ्रच्छायासदृशा भोगाः। स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रभृत्यवर्ग-सम्बन्धः। एवं मया सम्यक्परिज्ञातं, तत्किं कुर्वतो मे संसार-समुद्रोत्तरणं भविष्यति ?'।

तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह-वत्स! धन्योऽसि त्वम्, यत्प्रथमे वयस्येवं विरक्तभावः। उक्तञ्च यतः—

'पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त' इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ?॥ १७६॥
आदौ चित्ते ततः काये सतां संपद्यते जरा।
असतां तु पुनः काये-नैव चित्ते कदाचन॥ १७७॥

यच्च त्वं मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छसि, तच्छ्रूयताम्-

शूद्रो वा यदि वाऽन्योऽपि चाण्डालोऽपि जटाधरः।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण सभस्माङ्गः शिवो भवेत्॥ १७८॥

(साफ कहने वाला)॥ १७५॥ तस्य=देवशर्मण । सप्रश्रय=सप्रणयम्।

यथा-गिरिनदीवेग शीघ्रमेव शाम्यति, तथा यौवनमपि शीघ्रमेवापयाति। तृणाग्निरपि शीघ्रमेव शाम्यति, तथा=तद्वत् जीवनमपि शीघ्रमेव नश्यति। शरद-भ्रच्छायासदृगा =शरदृतुमेघच्छायासदृशा गीघ्रं विनाशिन.। भोगा =विषया। पूर्वे वयसि=यौवने। संपद्यते=जायते। जरा=श्लथीभाव। काये-जरा सम्पद्यते, मनसि न कदाचनेति सम्बन्ध॥ १७७॥

शिवमन्त्रेण=पञ्चाक्षरेण षडक्षरेण वा। दीक्षित =गृहीतदीक्ष। दीक्षा=संस्कार-विशेष। भस्माङ्ग =भस्मोद्धूलितकाय। 'सभस्माङ्ग' इति पाठान्तरम्। शिव = शिवसदृश। 'द्विज' इति पाठे-चाण्डालादिरपि भस्मधारणादिना द्विजतुल्यो भवतीत्यर्थ॥ १७८॥

---

१ 'एतन्मया'। २.'सजायते'। ३. 'असताञ्च' पाठान्तरम्। ४ 'सागरोत्तरणायोपाय'। ५ 'चण्डालो'। ६ 'भस्माङ्गो द्विजो'।

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम् ।
लिङ्गस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽपि जायते ॥ १७९ ॥

तच्छ्रुत्वा आषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह–'भगवन् ! तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रहं कुरु ।'

देवशर्मा आह–'वत्स ! अनुग्रह ते करिष्यामि, परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यं । यत्कारणं–निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते, तव च ममापि च । उक्तञ्च यतः—

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति, यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
मैत्री चाऽप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रया-
त्स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥१८०॥

तत्त्वया व्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यम्'–इति ।

स आह–'भगवन् ! भवदादेशः प्रमाणं, परत्र हि तेन मे प्रयोजनम् ।'

अथ कृतशयनसमयं देवशर्मा दीक्षाऽनुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत् । सोऽपि हस्तपादावमर्दनेन, पत्रिकानयनादिकया च परिचर्यया त परितोषमनयत् । पुनस्तथापि मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुञ्चति ।

षडक्षरेण मन्त्रेण न जायते=न पुनरपि गर्भयातनामनुभवति ।

पादौ गृहीत्वा=प्रणम्य । सप्रश्रयं=सस्नेहम् । दीक्षया=तदाख्येन संस्कारेण । गर्वात्=रूपादिगर्वात् । त्यागात्=अतिदानात् । प्रमादात्=अनवधानाच्च–धन नश्यतीत्यर्थ ॥ १८० ॥ व्रतग्रहण=दीक्षाग्रहणं । भवदादेश =भवदाज्ञा । परत्र=परलोके । तेन=भवदादेशेन । प्रयोजनं=कार्य–स्वर्गादिफलं–भविष्यतीत्याशय. । पत्रिका=विल्वपत्रम् ।

कृत शयनस्य समयो येन तं=कृतवहिश्शयनप्रतिज्ञ । अनुग्रहं=कृपा । देवशर्मा स्वशिष्यता ग्राहयामास । हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्यया=पादसंवाहना-

---

१ 'व्रतदानेन मे प्रसाद क्रियताम् । इति' । २. 'अवमर्दनादिपरिचर्यया' । पा.

अथैवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—'अहो! न कथञ्चिदेष मे विश्वासमागच्छति, तत्किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि,? किंवा विषं प्रयच्छामि,? किंवा पशुधर्मेण व्यापादयामि'?-इति। एवं चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः[1] कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायातः। प्राह च-भगवन्! पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यताम्[2]'-इति। तच्छ्रुत्वा देवशर्मा आषाढभूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः।

अथैवं तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायाता। तां दृष्ट्वा मात्रां कक्षान्तरादवतार्य, कन्थामध्ये सुगुप्तां निधाय, स्नात्वा, देवार्चनं विधाय, तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह-'भो आषाढभूते! यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि, तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य[3] सावधानतया रक्षणीया'—इत्युक्त्वा गतः।

आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः। देवशर्मापि छात्रगुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति तावद्धुड्डु[4]-(सुवर्णरोमदेह)-यूथमध्ये हुड्डुयुद्धमपश्यत्।

अथ रोषवशाद्धुडयुगलस्य-दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति, तच्च[5] जम्बुको जिह्वालौल्येन रङ्गभूमिं प्रविश्याऽऽस्वादयति। देवशर्मापि तदालोक्य व्यचिन्तयत्-अहो! मन्दमतिरयं जम्बुकः, यदि कथमप्यनयोः संघट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि।'

दिसेवया। तं=देवशर्माणम्। दिवापि=दिन एव। पशुधर्मेण=गलमुखावरोधेन। (गला घोट कर)। आमन्त्रणार्थं=निमन्त्रणार्थं। पवित्रारोपणार्थं=तदाख्योत्सवसम्पादनाय। देवस्य पवित्रारोपणमहोत्सवो भवति शैववैष्णवादीनाम्। कन्थामध्ये=वस्त्रमध्ये। ('झोली में' 'गुदड़ी में')। देवार्चनं=कन्थानिहितस्वेष्टदेवशिवार्चनं। प्रतिवचनम्=उत्तरम्। योगेश्वरस्य=शिवस्य। हुड्डु=मेष। रङ्गभूमि=युद्धभूमि।

---

१ 'देवशर्मशिष्यपुत्र'। २ 'पवित्रारोपणविषये मम गृहम्'। ३ 'योगेश्वरश्च सावधानेन रक्षणीया'। पा०। ४ हुडो हुडुश्च मेडश्चे'ति हैमाद्धुड इत्यादि पाठ शुद्ध एव। ५'तच्च दृष्ट्वाऽऽशाप्रतिबद्धचित्त पिशितलोलुपतया गोमायुस्तयोरन्तरे स्थित्वा रुधिरमास्वादयति।' पा०।

क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशंस्तयोः शिरःसंपाते पतितो मृतश्च शृगालः ।

ततो देवशर्मा प्राह–'जम्बुको हुडुयुद्धेन' इति ।

देवशर्मापि तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषाढभूतिं न पश्यति ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय यावत्कन्थामालोकयति तावन्मात्रां न पश्यति । ततश्च 'हा ! हा ! मुषितोऽस्मि'–इति जल्पन्पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात । ततः क्षणाच्चेतनां लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारब्धः—'भो आषाढभूते ! क्व मां वञ्चयित्वा गतोऽसि ? देहि मे प्रतिवचनम् ।'

एवं बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयन् 'वयं चाऽऽषाढभूतिना' इति प्रजल्पञ्छनैः—शनैः प्रस्थितः ।

अथैवं गच्छन्सायन्तनसमये कञ्चिद्ग्राममाससाद । अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः । देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच–'भो भद्र ! वयं सूर्योढा अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्ताः, न कमप्यत्र ग्रामे जानीमः, तद्गृह्यतामतिथिधर्मः । उक्तञ्च—

अप्रणाय्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिनाम् ।
पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥ १८१ ॥

तथा च–तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १८२ ॥
स्वागतेनाऽग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पादशौचेन पितरो ह्यर्घाच्छम्भुस्तथाऽतिथेः ॥ १८३ ॥

संघट्टे=सम्मर्दे । शिरःसंपाते=शिरःसंघट्टे । ('टक्कर में') । फूत्कर्तुं=रोदितुं । कौलिकः=तन्तुवायः । ('जुलाहा' 'कोली') । सूर्योढः=सूर्यास्तमनवेलायां प्राप्तः । 'अप्रणाय्यः'=माननीयः । तृणानि=पलाल–कटादीनि । ('पुआल' 'चटाई') ।

१ 'अथान्यस्मिन्प्रस्तावे तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्नापसृतस्तयो' । २ 'सम्प्राप्तो योऽतिथिः' । ३ 'प्रीता' । ४ 'गोविन्दो ह्यन्नाद्येनप्रजापति'रिति । ५ 'पितरस्तथार्घादतिथेः शिव' इति च सुन्दरः पाठो लिखितेषु ।

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह-'प्रिये ! गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति, पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैच तिष्ठ, अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्यामि।'

एवमुक्त्वा प्रस्थितः।

सापि भार्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे। अथवा साध्विदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चारासु नगरवीथीषु।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः॥ १८४॥

तथा च—

पर्यङ्कं[१] स्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम्।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धाः॥१८५॥

तथा च—

केलिं प्रदहति लज्जा, शृङ्गारोऽस्थीनि, चाटवः कटवः।
बन्धक्याः परितोषो न किंचिदिष्टे भवेत्पत्यौ॥ १८६॥
कुलपतनं जनगर्हां बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम्।
अङ्गीकरोति कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता॥ १८७॥

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गताऽऽस्तरणां भग्नां च खट्वां समर्प्येदमाह-'भो भगवन्! यावदहं स्वसखीं

सूनृता=मधुरा। 'मधुरं सूनृतं प्रिये' इत्यमर। सता=सज्जनाना। हर्म्येषु=गृहेषु। न उच्छिद्यन्ते=न दूरीभवन्ति। अतिथे स्वागतेन अग्नयस्तृप्यन्ति। शतक्रतु= इन्द्र॥ १८३॥

प्रभूत=वहुलम्। पुंश्चली=असती। देवदत्तं=स्वप्रियं कंचन पुरुषविशेषम्। दुर्दिवसे=मेघच्छन्नेऽहि। घनतिमिरे=निविडान्धकारे। वीथी=रथ्या। ('गली') जघनचपलाना=कुलटानाम्॥ १८४॥ स्वास्तरण=मृदुधवलपरिच्छदयुक्तम्। शयनं= शय्या, रतिमन्दिर वा। चौर्यरतं=जारसम्भोग॥ १८५॥ वन्धक्य=कुलटा। कुलपतन=कुलभ्रंशं। जीवितव्यसन्देह=जीवनसंशयम्॥ १८७॥ गतास्तरणाम्= आस्तरणरहिताम्। (बिछावन के विना)। सम्भाव्य=तया सहाऽऽलापादिकं

---

१ 'पर्यङ्केष्वास्तरण' मिति पा०।

ग्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वयाऽस्मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम् ।'

एवमभिधाय शृङ्गारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति-तावत्तद्भर्ता संमुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन्गृहीतमद्यभाण्डः समभ्येति । तं च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुट्य—स्वगृह प्रविश्य मुक्तशृङ्गारवेषा यथापूर्वमभवत् ।

कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताऽद्भुतशृङ्गारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरम्परया तस्या अपवादश्रवणात् क्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवाऽऽस्ते । ततश्च तथाविध चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच-'आः पापे पुंश्चलि ! क्व प्रस्थितासि'? । सा प्रोवाच-अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता, तत्कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि ? । अथवा साधु चेदमुच्यते—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम् ।
सन्निपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ॥ १८८ ॥
करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजाऽवस्था भानुनाऽप्यनुभूयते ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेषविपर्ययं चाऽवलोक्य

विधाय । अप्रमत्तेन=सावधानेन । देवदत्त=स्वप्रियं कश्चित् । व्याघुटय=परावृत्य । ('बावड कर' 'लौट कर') । श्रुतेन अपवादेन क्षुभितं हृदयं यस्यासौ तथा=स्वपत्नीचरित्रभ्रंशवृत्तान्तश्रवणक्षुब्धदूयमानचेता । स्वाकारं=स्वमनोभावं । निगूहमान =गोपायन् । दृष्टप्रत्यय =जातविश्वास । वैकल्य=विकलता । मद्येन सन्निपातरोगलक्षणानि भूमिपतनादीनि सर्वाणि भवन्तीत्यर्थ ॥ १८८ ॥

करेति । वारुणी=पश्चिमदिशा, मद्यञ्च । सङ्ग =तत्र गमन, पातश्च । करस्पन्द =हस्तकम्प , किरणह्रासश्च । 'करसादः' इत्यपि पाठ । अम्बरत्याग =गगनत्याग , वस्त्रमोचनञ्च । तेजोहानि =कान्तिहानि । सरागता=लौहित्यवत्ता-मुखे, मण्डले च । भानु =सूर्य ॥ १८९ ॥

---

१ 'कृतश्रृङ्गाराम्'। २ 'श्रुतापवादक्षुभितहृदय '। ३ 'नित्यानुचितजल्पनम्'। ४ 'करसाद ।

तामाह-'पुंश्चलि ! चिरकालं श्रुतो मया तवाऽपवादः। तदद्य स्वयं सञ्जातप्रत्ययस्तव यथोचितं निग्रहं करोमि।' इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्तां जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढ-बन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलाङ्गो निद्रावशमगमत्।

अत्राऽन्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशगतं विज्ञाय[1] तां गत्वेदमाह-'सखि ! स देवदत्तस्तस्मिन्स्थाने त्वां प्रतीक्षते, तच्छीघ्रमागम्यताम्'[2]-इति। सा चाह-'पश्य ममाऽवस्थां, तत्कथं गच्छामि, तद्गत्वा ब्रूहि तं कामिनं,—यदस्यां रात्रौ न त्वया सह समागमः।' नापिती प्राह-'सखि ! मा मैवं वद, नायं कुलटाधर्मः। उक्तञ्च—

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम्।
उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥१९०॥

तथा च—

सन्दिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥

स=कौलिक। प्रतिकूलवचन=विरुद्धक्रूरवाक्यं। पुंश्चलि=परपुरुषरते। तस्मिन्स्थाने=सङ्केतस्थले। सञ्जातप्रत्यय=जातविश्वास। निग्रहं=दण्डविधानम, ताडनम्। ता=स्वभार्याम्। स्थूणया=स्तम्भेन। ('खम्भे से' 'थूणी से')। अन्तरे=अवसरे। (इस बीच में)। तस्या=कौलिकभार्याया। ता=कौलिक-पत्नीम्। स=त्वत्प्रिय। तस्मिन्—पूर्व सङ्केतिते। सा=कौलिकजाया। समागमो न। 'सम्भवती'ति शेष।

विषमस्थेति। यथा—दुर्गमस्थानस्थितस्वादुफलपल्लवादिग्रहणव्यापारनिश्चय उष्ट्राणां स्वभाव। तथा—दुर्लभचौर्यरतानन्दानुभवव्यापारनिश्चय. कुलटाना सहजो धर्म। येषा=कुलटाजनाना, व्यवसायिना, चौराणाञ्च। शसित=पूजितम् ॥१९०॥ परलोके किं भवितेति न निश्चय, जनापवादस्तु बहुविधश्चलत्येव, एवं च स्वाधीनेन पररमणेन=जारेण, यौवनफल=सुरतं, धन्या एव कामिन्यो लभन्ते। ता एव धन्या इत्यर्थ ॥ १९१ ॥

---

१ 'विज्ञायाऽऽगत्य चेदमाह'। २ 'गम्यताम्'।

अन्यच्च—

यद्यपि न भवति दैवात्पुमान्विरूपोऽपि बन्धकी रहसि।
भव्यमपि तदपि कष्टान्निजकान्तं सा भजत्येव ॥१९२॥

साऽब्रवीत्-'यद्येव-तर्हि कथय—कथं दृढबन्धनैर्बद्धा सती तत्र गच्छामि ?', संनिहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः।'

नापित्याह—'सखि ! मदविह्वलोऽयं सूर्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति, तदहं त्वामुन्मोचयामि, मामात्मस्थाने बद्ध्वा द्रुततरं देवदत्तं सम्भाव्याऽऽगच्छ।' साऽब्रवीत्-'एवमस्तु'-इति।

तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्ध्वा तां देवदत्तसकाशे सङ्केतस्थानं प्रेषितवती।

तथाऽनुष्ठिते-कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किंचिद्गत-कोपो विमदस्तामाह-'हे परुषवादिनि ! यदद्य प्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि, न च परुषं वदसि, ततस्त्वामुन्मोचयामि।'

नापित्यपि स्वरभेदभयाद्यावन्न किंचिदूचे, तावत्सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाऽऽह। अथ सा यावत्प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ, तावत्स प्रकुपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय तस्या नासिकामच्छिनत्। आह च—'रे पुंश्चलि ! तिष्ठेदानीं, न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि'। इति जल्पन्पुनरपि निद्रावशमगमत्।

यद्यपीति। भव्यं=सुन्दरं स्वपतिं। निजकान्तं=स्वप्रियं। विरूपोऽपि जारः कुलटानां प्रियः, न तु सुन्दरोऽपि निजपतिरित्यर्थः ॥१९२॥ मदविह्वलः=मदविकलः। ('नशे में चूर')। सूर्यकरस्पृष्टः=प्रभाते सूर्यकिरणसम्पर्कादेव। प्रबोधं=चेतनाम्। तत्=तस्मात्। माम्=नापितीं, दूतीम्। सा=पुंश्चली। (एवमस्तु=अच्छा)।

तदनु=तदनन्तरम्। स्वसखीं=कौलिकीम्। परुषं=क्रूरम्। स्वरभेदभयात्=स्वस्वरभेदभीता। तदेव=तदेव वाक्यम्। भूयः=अधिकम्। (अब और ज्यादा)। न तोषयिष्यामि=न चाटुशब्दं कथयिष्यामि। (अब मैं तेरी और खुशामद नहीं

देवशर्माऽपि वित्तनाशात्क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत्। सापि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित्क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह–'अयि! शिवं भवत्याः?, नायं पापात्मा मम गताया उत्थित आसीत्?'।

नापित्याह–'शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य, तद् द्रुतं मां मोचय[1] बन्धनाद्यावन्नायं[2] मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि। अन्यथा भूयोऽप्येष दुष्टतरः कर्णच्छेदादिनिग्रहं करिष्यति।'

तथाऽनुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—'पुंश्चलि! किमद्याऽपि न वदसि?। किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि'?।

अथ सा सकोपं साऽधिक्षेपमिदमाह—'धिग्धिङ् महामूढ! को मां महासतीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः?। तच्छृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपाला.—'

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥१९३॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति, मनसाऽपि परपुरुषो नाभिलषितः, ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृग्रूपामक्षतां कुर्वन्तु। अथवा–यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति तदा मां भस्मसान्नयन्तु।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह–'भो दुरात्मन्! पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका संवृत्ता।'

अथाऽसावुल्मुकमादाय यावत्पश्यति तावत्तद्रूपां नासि-

करूंगा, ऐसे ही पडी रह)। शिवं=कुशलम्। तथानुष्ठिते=बन्धनमोचने कृते सति। साऽधिक्षेप=सनिन्दम्। धर्षयितुं=पीडयितुं, तिरस्कर्त्तुं वा। व्यङ्गयितुं=नासिकादिकर्त्तनेन विकलावयवा विधातुम्।

अनल:=वह्नि। द्यौ=आकाश। वृत्त=चरितम्॥१९३॥ तादृग्रूपा=

[1] 'मुञ्च'। [2] 'नाय प्रतिबुध्यते'। पाठान्तरम्।

काञ्च भूतले रक्तप्रवाहं च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्तां बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतैः पर्यतोषयत्। देवशर्मापि तं सर्वं वृत्तान्तमालोक्य विस्मतमना इदमाह—

शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि।
बलेः कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योपितो विदुः॥ १९४॥
हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि।
अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः॥ १९५॥
उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथं हि ताः ? ॥१९६॥
अनृतं 'सत्य'मित्याहुः सत्यं चापि तथाऽनृतम्।
इति यास्ता कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह॥ १९७॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो नेच्छेद्बलं स्त्रीषु विवर्धमानम्।
अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्यतस्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः॥१९८॥
[1]सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा।

यथावदेव। (पहिले की तरह) उल्मुकम्=अलातं। (मसाल—'जलती लकड़ी आदि')। चाटुशतैः=प्रियवाक्यैर्बहुविधैः।

शम्बरस्येति। शम्बर–नमुचि–बलि–कुम्भीनसा असुरा शेषा। सर्वविधा माया स्त्रियो जानन्तीत्यर्थः॥१९४॥ हसन्तं प्रति हसन्ति, रुदन्तं विलोक्य रुदन्ति वञ्चनार्थम्, अप्रियं वदन्तं च प्रियवाक्यैरात्मवशं नयन्तीत्यर्थः॥१९५॥ उशना= शुक्राचार्यः। न विशिष्येत=स्त्रीबुद्धितो न बहिर्भवति। तासां बुद्धावेव सर्वं नीतिशास्त्रमन्तर्भवतीत्यर्थः॥ १९६॥ **अनृतमिति**। सत्यं मिथ्या, असत्यं सत्यमिति च या कथयितुं प्रभवन्ति तासां रक्षणं दुष्करमेवेत्यर्थः॥ १९७॥ **अतिप्रसङ्ग** = अत्यन्तं स्नेहानुबन्धः नोचितः, स्त्रीणां बलं वर्द्धमानं नोपेक्षेत। अतिप्रसक्तैः=वशीभूतैः। लूनपक्षैः=छिन्नपक्षैः॥ १९८॥ वल्गुना=मधुरेण मनोहरेण च। शितेन

[1] 'मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषम्।
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥' इति पा०।

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महाविषम्[1] ॥१९९॥
अत एव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते[2] ।
पुरुषैः सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धैः कमलं यथाऽलिभिः ॥२००॥
अपि च—
आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं, क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं,
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥२०१॥
कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीकं मुखे दृश्यते,
कौटिल्यं कचसंचये[3], प्रवचने मान्द्यं, त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं, मायाप्रयोगः प्रिये,
यासां दोषगणो गुणो[4], मृगदृशां ताः किं नराणां प्रियाः[5] ? ॥२०२॥

=तीक्ष्णेन । मधु=माधुर्यं क्षौद्रञ्च । हालहल=तन्नामकं विषं । 'हालहल वदन्त्यपि हलाहल' मिति द्विरूपकोश ।

अत एवेति । हृदये विषस्य मुखे मधुनश्च विद्यमानत्वान्मुखमाधुर्यवञ्चितै= सुखलेशवञ्चितैः, सुखलवलुब्धै पुरुषैरधर पीयते, कामिन्या हृदयं मुष्टिभिराहन्यते च । **कामशास्त्रे** हि कामिनीहृदयप्रदेशताडनं कामोद्दीपकतया निर्दिष्टम् । भ्रमरा हि मधुलेशलुब्धा कमलकण्टकवेधमपि सहन्ते इति च **लौकिकम्** ॥२००॥ संशयानाम्–आवर्त्त इव=अम्भसा भ्रम इव । (**'भवरजाल'**) । प्रकृते सादृश्यात्तत्प्रयोग । अविनयाना=धाष्ट्यानां । भवनं=गृहमिव । पत्तनं=नगरमिव । सन्निधान=महान् निधिरिव । कपटशताना गृहम् । अप्रत्ययानाम्=अविश्वासानाम् । क्षेत्रं=केदार इव । स्त्रीनामकं यन्त्रमेतत्–अमृतयुतं विषं धर्मनाशाय सर्वासा मायानां–करण्डं=पेटकमिव, केन=ब्रह्मणा । सृष्टं=निर्मितम् ।'केन निर्मित'मिति प्रश्नो वा ॥ २०१ ॥

कार्कश्यमिति । तरलता=चञ्चलता । अलीका=मिथ्यावचनं । कचसञ्चये=केशबन्धे । प्रवचने=भाषणे । मान्द्यं=मन्दता । त्रिके=पृष्ठवंशाधोभागे । नितम्बबिम्बे

१, 'महद्विष'मित्यपि क्वचित्पाठः । 'महाविष' मिति तु क्षीरस्वामिधृतः पाठ । २ 'श्लाघ्यते' । ३, 'कचसञ्चये च वचने' । ४ 'गुणा.' । ५ 'स्युः पशूनां प्रियाः' ।

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो—
विश्वासयन्ति च परं, न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्रा नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूरा स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति॥२०४

कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि यावन्न जानन्ति नरं प्रसक्तम्।
ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियः कृताऽर्था पुरुषं निरर्थं निष्पीडिताऽलक्तकवत्त्यजन्ति ॥२०६॥

इति यावत्। प्रिये=कान्ते। मायाप्रयोगः=छलकार्मणप्रयोग। ('कपट' 'जादू-टोना')। इत्थं दोषसमूहरूपा –यासां गुणा ता कथं नराणां प्रिया भवन्ति ? ॥ २०२ ॥

एता इति। कार्यहेतोः=स्वकार्यसाधनाय। हसन्ति च रुदन्ति च। परं विश्वासयन्ति, परन्तु तं स्वयं नैव विश्वसन्ति। अतः–कुलशीलसमन्वितेन=कुलीनेन, शीलवता च नरेण। 'कुलशीलवते'ति पाठान्तरम्। श्मशाने बद्धा घटिका. **श्मशानघटिका**· ('श्यमशान मे बन्धी हुई हण्डिया' 'घट') तद्वदशुचित्वाद्वर्जनार्हा ॥२०३॥ व्याकीर्णैः केसरैः करालानि मुखानि येषान्ते,–विक्षिप्तसटाभारभीषणमुखा। मृगेन्द्रा =सिंहा। भूरिभि –मदराजिभिः=मदरेखाभि। विराजमाना =शोभमानकटा। नागा =गजाश्च। स्त्रीणां निकटे परमकापुरुषा =नितान्तं कातरा इव, तद्वशीकृतस्वान्ता भवन्तीत्यहो चित्रम् ॥ २०४ ॥

कुर्वन्तीति। प्रथमम्=आदौ। तावत् प्रियाणि=मनोहराणि कटाक्षभुजविक्षेपादीनि। यावन्नरं प्रसक्तम्=अनुरक्तम्, संलग्नञ्च। मन्मथपाशबद्धं=कामपाशबद्धं। ग्रस्तमामिषं येनासौ तं=गिलितमांसखण्डं, सम्भोगलम्पटं च। 'आमिषं पुंनपुंसकं, भोग्यवस्तुनि संभोगेऽप्युत्कोचे पललेऽपि चे'ति **मेदिनी**। उद्धरन्ति=आकर्षयन्ति, वशे नयन्ति च। परित्यजन्ति वा ॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव=समुद्रतरङ्गवत्। चलस्वभावा =चञ्चलप्रकृतय.। सन्ध्याभ्ररेखेव=सायङ्कालिकमेघलेखेव। मुहूर्तरागा =क्षणमात्ररक्ता। क्षणिकानुरागाश्च।

१ कुलशीलवता'।

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥
संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा न वामनयना न समाचरन्ति ! ॥२०८॥
अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः' ? ॥ २०९ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणाऽतिचक्राम। सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा चिन्तयामास-किमिदानीं कर्तव्यं?, कथमेतन्महच्छिद्रं स्थगयितव्यम्' ?।

अथ तस्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्त्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषितः। प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वा[२]रदेशस्थो विविधपौर-

---

कृतार्था=साधितस्वप्रयोजनाः सत्य.। निरर्थं=निष्प्रयोजनं। निष्पीडितालक्तकवत्=निष्ठ्यूतरागं यावकमिव। त्यजन्ति=दूरीकुर्वन्ति, अपसारयन्ति ॥

अनृत=मिथ्याभाषणम्। साहसम्=असमीक्ष्य कारिता। अशौचं=मलिनता। स्वभावजा=नैसर्गिका ॥ २०७ ॥

मदयन्ति=प्रेमोन्मत्तं कुर्वन्ति। विडम्बयन्ति=उपहास्यता नयन्ति, ('उल्लू बनाती हैं')। निर्भर्त्सयन्ति=तिरस्कुर्वन्ति। रमयन्ति=सुखयन्ति। विषादयन्ति=क्लेशयन्ति च। किमधिकम्-एता.-कपटकुशला-नराणा सरलं हृदयं प्रविश्य=स्वानुकूलमनुरक्तञ्च विधाय किंवा तत् कार्यं यत् वामनयना=कमललोचना न कुर्वन्ति ?। सर्वं कर्त्तुं प्रभवन्तीत्यर्थ ॥२०८॥ गुञ्जाफलं सविषम्, उपविषत्वाद्गुञ्जायाः॥ गुञ्जाफलमपि-बहिर्मनोहरमन्तर्विषमयं भवति ॥ २०९ ॥

कृच्छ्रेण=कष्टेन। दूतिका=दूती सा नापिती। महच्छिद्रम्=आत्मापराध, नासाकर्त्तनञ्च। स्थगयितव्यं=आच्छादनीयम्, (छिपाऊँ)। अत्र 'आवरणीय'मिति पाठान्तरम्। पर्युषित.=कृतप्रवासः (गयाहुआ था)। विविधपौरकृत्योत्सुकतया=

---

१ 'आवरणीयम्'। २ 'द्वारि स्थितो'।

कृत्योत्सुकतया तामाह 'भद्रे! शीघ्रमानीयतां क्षुरभाण्डं, येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि।' साऽपि छिन्ननासिका प्रत्युत्पन्नमतिर्गृहमध्यस्थितैव (कार्यकरणापेक्षया) क्षुरभाण्डात्क्षुरमेकं समाकृष्य तस्याऽभिमुखं प्रेषयामास। नापितोऽप्युत्सुकतया तमेक क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः संस्तदभिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिणोत्।

एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टा ऊर्ध्वबाहू विधाय फूत्कर्तुमना गृहान्निश्चक्राम,–'अहो! पापेनाऽनेन मम सदाचारवर्तिन्याः पश्यत नासिकाच्छेदो विहितः, तत्परित्रायतां! परित्रायताम्!!'

अत्राऽन्तरे राजपुरुषा समभ्येत्य त नापितं लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थानं नीत्वा सभ्यानूचुः–'शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः! अनेन नापितेनाऽपराधं विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितं, तदस्य यद्युज्यते तत्क्रियताम्।–इत्यभिहिते सभ्या ऊचुः–'रे नापित! किमर्थं त्वया भार्या व्यङ्गिता?, किमनया परपुरुषोऽभिलषितः?, उत स्वित्प्राणद्रोहः कृतः?, किंवा चौरकर्माऽऽचरितम्?। तत्कथ्यतामस्या अपराधः।'

नापितोऽपि प्रहारपीडितस्तनुर्वक्तुं न शशाक। अथ तं तूष्णी-

नानाविधपौरलोककार्यव्यासक्तचित्ततया। क्षुरभाण्डं=क्षुरकर्त्तर्यादिपेटिका।(लोखड)। प्रत्युत्पन्नमतित्वात्–कार्यकरणापेक्षया=स्वकार्यसाधनायेच्छया। उत्सुकतया=त्वराव्यग्रतया। (हडवडाहट मे)। प्राहिणोत्=प्रेषयामास। ('फेंक दिया')। फूत्कर्त्तुमनाः=फूत्कृत्य रोदितुमिच्छन्ती। ('चिल्लाने की इच्छा से')। सदाचारवर्त्तिन्या=पतिव्रतायाः। लगुडप्रहारैः=यष्टिकापातैः। जर्जरीकृत्य=शिथिलीकृत्य। धर्माधिकरणस्थाने=राजद्वारे। ('कचहरी मे')। सभ्यान्=धर्माधिकरणस्थान्। ('जज मजिस्ट्रेट')। यद्युज्यते=यदत्र कर्तु युच्यते, यो दण्ड उचितोऽस्य भवति।

१ 'पौरकर्म'। २ समस्तक्षुरभाण्डासमर्पणात्क्रोधाविष्ट'। ३ प्रक्षिप्तवान्।४ परित्रायध्वम्। ५ 'किमिद वैशस स्वदारेषु कृतम्'। पा०। ६ 'विस्मयमूढमतिर्यदा नोत्तरं प्रयच्छति तदा ते सभासदः शास्त्रानुगतमूचु।' इति पाठा०।

ग्भूतं दृष्ट्वा पुनः सभ्या ऊचुः-'अहो ! सत्यमेतद्राजपुरुषाणां वचः। पापात्माऽयम्। अनेनेयं निर्दोषा वराकी दूषिता। उक्तञ्च-

भिन्नस्वरमुखवर्णः शङ्कितदृष्टिः समुत्पतिततेजाः।
भवति हि पापं कृत्वा स्वकर्मसन्त्रासितः पुरुषः॥ २१०॥

तथा च—

आयाति स्खलितैः पादैर्मुखवैवर्ण्यसंयुतः।
ललाटस्वेदभाग्भूरि गद्गदं भाषते वचः॥ २११॥
अधोदृष्टिर्वदेत्कृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः।
तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणैः॥ २१२॥

अन्यच्च—

प्रसन्नवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोषदृक्।
सभायां वक्ति साऽमर्षं साऽवष्टम्भो नरः शुचिः॥२१३॥

तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते, स्त्रीधर्षणाद्वध्य इति। तच्छूलेऽयमारोप्यताम्'-इति।

अथ वध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान्धर्माधिकृतान्गत्वा प्रोवाच-'भो ! भोः ! अन्यायेनैष वराको वध्यते नापितः। साधुसमाचार एषः। तच्छ्रूयतां मे वाक्यम्-

व्यङ्गित=नासाच्छेदेन विकलता नीता। (इसकी आकृति 'सूरत' विगाड़ दी)। प्राणद्रोह=विषादिदानेन पतिप्राणहरणोद्यम। पापात्मा=दुष्टस्वभाव, कृतापराध। वराकी=दीना। दूषिता=व्यङ्गिता। इत्येवं राजपुरुषवचनं सत्यमेवेत्यर्थ।

भिन्न स्वरो मुखवर्णश्च यस्यासौ तथा,=स्खलितवाक्, परावर्त्तितमुखवर्णश्च। शङ्कितदृष्टि=भयचञ्चललोचन। चकित इव विलोकमानश्च। **समुत्पतिततेजा**=हतप्रभ॥ २१०॥ **भूरि**=विपुलम्। ललाटे स्वेदं भजतीति-**ललाटस्वेदभाग्**=प्रस्वेदाञ्चितललाटपट्ट। सामर्ष=क्रोधोद्धतं। सावष्टम्भ=सधैर्य। शुचि=निर्दोष। सभाया=संसदि। ('कचहरी')॥ २१३॥ दुष्टचरित्रस्य यानि लक्षणानि तानि सन्त्यस्यासौ तथा। स्त्रीधर्षणात्=स्त्रीपीडनात्। शूले=वधशूले। ('शूलीपर')।

१ 'कम्पमानोऽप्यधोऽवेक्षी पापं प्राप्त'। २ 'दुष्टचारित्र'। ३ 'शूलायाम्'।

'जम्बुको हुडयुद्धेन वयं चाऽऽपाढभूतिना ।
दूतिका पर कार्येण त्रयो दोपा. स्वयङ्कृताः ॥' इति ।

अथ ते सभ्या ऊचुः–'भो भगवन्! कथमेतत् ?'। ततश्च देवशर्मा तेपां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेणाऽकथयत्। तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः-अहो !

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।
विहिता व्यङ्गिता तेपामपराधे [1]महत्यपि ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः [2]स्वकर्मणा हि संवृत्तः। ततो राजनिग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः। तथानुष्ठिते देवशर्मापि [3]वित्तनाशसमुद्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतन जगाम। अतोऽहं ब्रवीमि–'जम्बुको हुडयुद्धेन–'इति ।

करटक आह—अथैवंविधे व्यतिकरे किं कर्तव्यमावयोः ? । दमनकोऽब्रवीत्–एवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति, येन सञ्जीवकं प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि । उक्तञ्च यतः–

एकं हन्यान्न वा हन्यादिपुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमत[4]. सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१५ ॥

धर्माधिकृतान्=धर्माधिकरणस्थान् । साधुसमाचार =निर्दोप । महत्यपि अपराधे–तेपा=ब्राह्मणादीना, व्यङ्गिता=नासिकाच्छेदादिना विकलाङ्गता । विहिता=धर्मशास्त्रबोधिता न तु वध ॥ २१४ ॥ तत् स्त्रीत्वेनाऽवध्यत्वात् । राजनिग्रह = राजदण्ड । कर्णच्छेद =कर्णच्छेदरूप । कार्य =विधेय । वित्तनाशेति । धननाशोद्भूतदु खरहित सन्नित्यर्थ । मठायतनं=निवासभूत स्वमठम् ।

व्यतिकरे=व्यत्यासे । (गडबड़ मे)। प्रभो =राज्ञ सिंहात् । विश्लेषयिष्यामि=भेदयिष्यामि । धनुष्मता=धानुष्केण । इपु =बाण । मुक्त =क्षिप्त । एकमपि नर कदाचित् हन्यात्, कदाचिच्च न वा हन्यात् । लक्ष्याच्युतश्चेत्–एकमपि न हन्यादित्यर्थ । परन्तु बुद्धिमत =नीतिकुशलात् । सृष्टा=उद्भूता, कुशल-

---

1 गरीयसि' । २ 'स्वकर्मवशादेव नासिकाच्छेद । ३ 'दृष्टान्तद्वयेन स्वहृदय सस्थाप्य स्वकीयमठायतनम् । ४ 'बुद्धिमता' ।

तदहं मायाप्रपञ्चेन (गुप्तमाश्रित्य ?) तं स्फोटयिष्यामि ।

करटक आह—भद्र ! यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलको ज्ञास्यति, सञ्जीवको वा, तदा नूनं ते विघात एव ।'

सोऽब्रवीत्-'तात ! मैवं वद, गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धिः प्रयोक्तव्या। नोद्यमस्त्याज्यः। कदाचिद्घुणाक्षरन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति । उक्तञ्च—

त्याज्यं न दैवे विधुरेऽपि धैर्य, धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः ।
जाते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे, सांयात्रिको वाञ्छति तर्त्तुमेव ॥२१६॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन[२]
देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः! ॥२१६॥

तदेवं ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण-यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यतस्तथा-मिथो वियोजयिष्यामि ।

अपरञ्च-सदोद्यतानां देवा अपि सहायिनो भवन्ति । उक्तञ्च-

प्रयुक्ता। बुद्धि=मतिस्तु—सनायकं=साधिपं । राष्ट्रं=राज्यमपि । हन्ति=विनाशयितुं शक्नोति ॥ २१५ ॥

मायाप्रवेशं=मायाविनियोगम्। सञ्जीवको वा-'ज्ञास्यती'ति शेष। तदा=तर्हि। नूनम्=अवश्यम्। विघात =तव विनाश एव भविष्यति। विधुरेऽपि दैवे=विरुद्धेपि भाग्ये। बुद्धि:=कूटनीति, धर्मनीतिश्च। उद्यम =उद्योग। घुणाक्षरन्यायेनेति। यथा—घुणो नाम कीट काष्ठं भक्षयन् ककारादिवर्णतुल्या छिद्रपङ्क्ति कदाचिद्रचयति, तथैव विधुरेपि काले कदाचित्कार्यसिद्धे सम्भव इत्याशय ।

स्थितिं=समीहितसिद्धिम्। स =धीर । पोतभङ्गे=नौभङ्गे जातेऽपि । सायात्रिक = पोतवणिक्। तर्त्तुमेव वाञ्छति=पुनरपि समुद्रतरणमाचरति पोतान्तरेण । तदेव वाणिज्यं पुनरपि कुरुते इत्याशय ॥ २१६ ॥ तौ द्वौ=सिंहवृषभौ ।

---

१. 'मायाप्रपञ्चम्' । इति पाठान्तरम् । २. 'सततमत्र समेति लक्ष्मीर्दैव हि दैवमिति', 'नित्योद्यतस्य पुरुषस्य भवेद्धि लक्ष्मीर्दैव हि दैवमिति' इति च पाठान्तरम् ।

कृते विनिश्चये पुंसां देवा यान्ति सहायताम् ।
विष्णुश्चक्रं गरुत्मांश्च कौलिकस्य यथाऽऽहवे ॥

किञ्च—

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न गच्छति ।
कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥ २१८ ॥

करटक आह—कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

५ मिथ्याविष्णुकौलिककथा[1] ।

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसत स्म । तत्र च तौ बाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदैकस्थानविहारिणौ कालं नयतः ।

अथ कदाचित्तत्राऽधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवाऽऽयतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः । तत्र च नटनर्तकचारणसङ्कुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ काञ्चिद्राजकन्यां करेणुकाऽऽरूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षधरपरिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ ।

अथाऽसौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दित इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात । अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारस्तद्दुःखदुःखितः—आप्तपुरुषैस्तं समुत्क्षिप्य स्वगृह-

दम्भस्य=मायाया । निषेवते=उपभुङ्क्ते ॥ २१८ ॥

अधिष्ठाने=नगरे । 'अधिष्ठानं रथस्याङ्गे प्रभावेऽध्यासने पुरे'—इत्यजयः । यात्रामहोत्सवः=दर्शनयात्रोत्सवः ['मेला'] । नटाः=भरताः । नर्तकाः=नृत्योपजीविनः । चारणाः=स्तुतिपाठकाः । तैः सङ्कुले=व्याप्ते । करेणुका=हस्तिनी । सर्वलक्षणसनाथां=सर्वलक्षणोपेताम् । कञ्चुकिभिः=अन्तःपुरचरैर्वृद्धैः । वर्षवरैः=क्लीबैः । परिवारितां=सहिताम् । विषार्दितः=विषपीडितः । दुष्टग्रहगृहीतः=पिशाचादिपीडित इव । सहसा=अकस्मात् । तदवस्थं=भूमौ पतितम् । तं=स्वसुहृदम् । तद्दुःखदुःखितः=स्वमित्रकौलिकदुःखेन दुःखितः सन् ।

[1] इयं कथाऽश्लीलतया काशिकमध्यमपरीक्षादिपाठ्याद्बहिर्भूता ।

मानाययत् । तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात्कथञ्चित्सचेतनो बभूव ।

ततो रथकारेण पृष्टः-'भो मित्र ! किमेवं त्वमकस्माद्विचेतनः सञ्जातः ?, तत्कथ्यतामात्मस्वरूपम् ।

स आह—'वयस्य ! यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि,—'यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियतां, क्षम्यतां यद्वा किञ्चित्प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयाऽनुष्ठितम्' ।

सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच-'वयस्य ! यत्किंचिद्दुःखकारणं तद्वद, येन प्रतीकारः क्रियते-यदि शक्यते कर्त्तुम् । उक्तञ्च—

औषधानां सुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम् ।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्ब्रह्माण्डस्य मध्यगम् ॥ २१९ ॥

तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदाऽहं साधयिष्यामि ।

कौलिक आह—'वयस्य ! एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तन्मे दुःखं, तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेपं कुरु ।'

आप्तपुरुषैः=स्वबन्धुबान्धवैः । समुत्क्षिप्य=उत्थाप्य । शीतोपचारैः-कामोपतापशान्त्यर्थं चिकित्सकोपदिष्टैश्चन्दनादिशीतलोपचारैः । मन्त्रवादिभिः= तान्त्रिकैश्च ['ओझा'] । आत्मस्वरूपम्=स्वरहस्यम्, स्वास्थ्यं वा । यद्येवं= यद्याग्रहस्ते श्रोतुम् । काष्ठप्रदानेन=चितार्थं काष्ठभारदानेन । प्रसादः=अनुग्रहः । अहमशक्यप्रतीकारेणानेन दुःखेन दुःखितश्चिताप्रवेशेन मर्त्तुमिच्छामीत्यर्थः, यद्वा=यच्च किञ्चित् । प्रणयातिरेकात्=अतिस्नेहात् । सोऽपि=रथकारोऽपि । वाष्पपिहितनयनः=साश्रुलोचनः ।

औषधानमिति । औषधानां=रसायनादिदिव्यौषधानामोषधीनाञ्च । सुमन्त्राणां=सिद्धमन्त्रतन्त्रयन्त्रादीनां, सुमन्त्रितानाञ्च । महात्मनां=योगिनां, सिद्धानां, तपस्विनाञ्च । बुद्धेश्च=सुमतेश्च । ब्रह्माण्डमध्यगं किञ्चिदपि वस्तु कार्यं वा असाध्यं नास्ति । औषधादेरन्यतमस्याऽसाध्यं किञ्चिदपि नास्ति, यज्जगति वर्त्तत इत्यर्थः ॥ २१९॥

रथकार आह—'भो मित्र ! यद्यप्यसाध्यं तथापि निवेदय,—येनाऽहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया सह वह्नौ प्रविशामि, न क्षणमपि त्वद्वियोगं सहिष्ये, एष मे निश्चयः।

कौलिक आह—'वयस्य ! याऽसौ राजकन्या करेणुकाऽऽरूढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन ममेयमवस्था विहिता। तन्न शक्नोमि तद्वेदनां सोढुम्। तथा चोक्तम्—

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे तस्याः पयोधरयुगे रतखेदखिन्नः।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम्॥[1]

तथा च—

रागी बिम्बाऽधरोऽसौ, स्तनकलशयुगं यौवनारूढगर्वं,
नीचा नाभिः प्रकृत्या, कुटिलकमलकं, स्वल्पकं चाऽपि मध्यम्।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेदं
यन्मां तस्याः कपोलौ दहत इति मुहुः स्वच्छकौ, तन्न युक्तम् २२१

एषाम्=औषधादीनाम्। अन्येषाम्=इतोऽतिरिक्तानामपि। तत्=मयानुऽभूयमानम्। मकरध्वज=काम। तद्वेदना=कामवेदनाम्। **मत्तेति**। मत्तगजकुम्भविशाले, कुङ्कुमचर्चिते, तस्या=नायिकाया। पयोधरयुगे=स्तनद्वये। रतखेदखिन्न=सुरतखेदक्लान्त। तया सह सुरतयुद्धं विधाय परिश्रान्त इत्यर्थ। वक्ष=उर। तदीयभुजयुगलपञ्जरबद्ध। क्षणं तदीयसङ्गमवाप्य कदा स्वप्स्ये इति मे वितर्क इत्यर्थ॥ २२०॥ **रागी**=रक्त, रागाविष्टश्च। राग=क्रोध। स्तनावेव कलशौ, तयोर्युगं। यौवनेनाऽऽरूढो गर्वो यस्य तत्=यौवनमदमत्त। नाभिस्तु प्रकृत्या=स्वभावत एव नीचा,=निम्ना, अधमा च। अलक=केशा। '**अलका** कुबेरपुर्यामस्त्रिया चूर्णकुन्तले' इति **मेदिनी**। 'प्रकृत्ये'त्युभयान्वयि। कुटिलकं=वक्रं क्रूरञ्च। मध्यं=मध्यभाग। स्वल्पकं=तनुतरं, क्षुद्रञ्च। 'स्वकृतपश्चापि मध्य' इत्यपि पाठ। एतानि=स्वभावतो नीचानि कुटिलानि चाऽलकादीनि मया मनसि चिन्तितानि प्रसभं=बलात्, खेद=दुःखम्, आशु=त्वरितं कुर्वन्तु नाम, रागादिदुष्टत्वात्। परन्तु तस्या=कामिन्या कपोलौ स्वच्छावेव स्वच्छकौ=शुद्धौ, निर्दोषौ च, चिन्तितौ यन्मा दहत=यत् पीडयत, तदेव तु न युक्तम्=

[1] 'स्वप्स्यामि किं क्षणमहं क्षणलब्धनिद्रः'—पाठान्तरम्।

रथकारोऽप्येवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्य सस्मितमिदमाह 'वयस्य! यद्येवं तर्हि दिष्ट्या सिद्धं नः प्रयोजनं, तदद्यैव तया सह समागमः क्रियताम्' इति।

कौलिक आह—वयस्य! यत्र कन्याऽन्तः-पुरे वायुं मुक्त्वा नाऽन्यस्य प्रवेशोऽस्ति, तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथं मम तया सह समागमः?। तत्कि मामसत्यवचनेन विडम्बयसि?।

रथकार आह—'मित्र! पश्य मे बुद्धिबलम्।' एवमभिधाय तत्क्षणात्कीलकसञ्चारिणं वैनतेयं बाहुयुगलं वरुणवृक्षदारुणा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभमघटयत्।

ततस्तस्मिन्कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्नितं कृत्वा कील-सञ्चरणविज्ञानं च दर्शयित्वा प्रोवाच—'वयस्य! अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथे तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिक प्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां—त्वां वासुदेवं मन्यमानां—स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभी रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्तविधिना भज।'

कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—'राज-

-नोचितम्। सज्जनाना स्वच्छाना च दाहकताया अनुचितत्वादिति भाव ॥२२१॥

सकामं=साभिलाप, कामविकलं वा। दिष्ट्या=भाग्येन। दिष्ट्येति हर्षे। न = अस्माकम्। प्रयोजनम्=अभीष्टम्। विडम्बयसि=वञ्चयसि। कील(क) सञ्चारिण= कुञ्चिकाभ्रमणसञ्चरिष्णुम्। ('चावीसे चलनेवाला')। वैतेनय=गरुडं। वरुण = वृक्षभेद। 'वायुजवृक्षे' ति केचित् पठन्ति। सकिरीटं=मुकुटसहित। कौस्तुभं= रत्नविशेषम्। सकिरीटेति बाहुयुगलविशेषणम्। अघटयत्=चकार।

तस्मिन्=यन्त्रगरुडे। कीलकस्य=कुञ्चिकाया। यत्सञ्चरणं=भ्रामण। तस्य विज्ञानं=कौशलं। दर्शयित्वा=शिक्षयित्वा। अनेन=कृत्रिमेण, सप्तभूमिकस्य=सप्त-तलस्य (सतमंजिला')।प्रासादस्य=हर्म्यस्य (महल के)। प्रान्ते=उपरिभागे, (छतपर)। गता=स्थिताम्। मुग्धस्वभावा=बालतया सरलस्वभावाम्। मुग्धाम्। अज्ञातकामोपभोगसुखाम्। वासुदेवं=कृष्ण। रञ्जयित्वा=वशीकृत्य। वात्स्यायनोक्त-विधिना=कामशास्त्रोक्तेनोपायेन। भज=उपभुङ्क्ष्व।

तदाकर्ण्य=तद्वचनं श्रुत्वा। तथारूप =विष्णुरूपो भूत्वा। तत्र=राजप्रासादे

पुत्रि! सुप्ता, किं वा जागर्षि ?। अहं तव कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः, तत्क्रियतां मया सह समागमः,–इति।

साऽपि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुध कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच–'भगवन्! अहं मानुषी कीटिकाऽशुचिः, भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च तत्कथमेतद्युज्यते?।'

कौलिक आह–'सुभगे! सत्यमभिहितं भवत्या, किन्तु राधानाम्नी मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्, सा त्वमत्राऽवतीर्णा, तेनाहमत्राऽऽयातः।' इत्युक्ता सा प्राह–'भगवन्! यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय, सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति'।

कौलिक आह–'सुभगे! नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि, किं पुनरालापकरणं, त्वं गान्धर्वेण विवाहेनात्मानं प्रयच्छ, नोचेच्छापं दत्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात्करिष्यामि'–इति।

एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां वेपमानां शय्यायामनयत्। ततश्च रात्रिशेषं यावद्वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम। एवं तस्य तां नित्यं सेवमानस्य कालो याति।

अथ कदाचित्कञ्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः–अहो! पश्यताऽस्या राजकन्यायाः पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवा विभाव्यन्ते, तत्कथमयं सुरक्षितेऽप्यस्मिन्गृहे

कन्यान्त पुरे। समुद्रात्=क्षीरसागरात्। सानुराग=त्वत्स्नेहाकृष्ट। सापि=राजपुत्र्यपि। सविस्मया=आश्चर्यचकिता। कीटिका=कीटसदृशी। अशुचिप्रायमनुष्यदेहधारिणी। एतत्=भवदुक्तम्। अत्र=राजगृहे। तत्=तर्हि। तात=मत्पितरम्। अविकल्प=नि संशयम्। न दर्शनपथं गच्छामि=न चक्षुर्विषयो भवामि। आलापकरणं=सभाषणादिकं। कि पुन=दूरापास्तमेव। गान्धर्वेण=स्वेच्छारचितेन विवाहेन। सान्वय=सकुल। भस्मसात्करिष्यामि=विनाशयिष्यामि। सव्ये=वामे। वेपमाना=लज्जाभयादिना कम्पमानाम्। निषेव्य=उपभुज्य। प्रत्यूषे=प्रभाते। अलक्षित=कन्यान्त.पुररक्षकैरदृष्ट एव। कालो याति=भूयान् कालो जगाम।

अथ=गते बहुतिथे काले। कञ्चुकिन=अन्त पुररक्षका। अधरोष्ठप्रवाल-

एवंविधो व्यवहारः ? । तद्राज्ञे निवेदयामः ।'

एवं निश्चित्य सर्वे समेत्य राजानं प्रोचुः–'देव ! वयं न विद्मः, परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित्प्रविशति, तद्देवः प्रमाणम्' इति । तच्छ्रुत्वा राजाऽतीवव्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत्–

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः ।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥२२२॥
नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः॥२२३॥
तथा च जननी मनो हरति जातवती परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिनं दुरतिक्रमा दुहितरो विपदः ॥२२४॥

एवं बहुविधं विचिन्त्य देवीं रहःस्थां प्रोवाच–'देवि ! ज्ञायतां किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति ! । कस्य कृतान्तः कुपितो येनैतदेवं क्रियते ?।

देव्यपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्याऽन्तःपुरे गत्वा तां खण्डिताऽधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यत् ।

खण्डनम्=कोमलाधरे दन्तक्षतं । पुरुषोपभुक्ताया =संस्पृष्टमैथुनाया । एवंविधो व्यवहार =परपुरुषसम्पर्क । देव प्रमाणम्=अत्र यदुचितं तद्विदधातु भवान् ।

कस्मै देयेति चिन्ता, दत्तापि सुखं प्राप्स्यति नवेति वितर्क =संशयश्च भवति, अत कन्याया जन्म महते कष्टायैवेति भाव ॥२२२॥ नार्य =स्त्रिय । आत्मदोषै = व्यभिचारादिभि , कुलानि=पित्रादिकुलानि नाशयन्ति, नद्यश्च तोयै स्वकूलानि= तटानि नाशयन्तीति–सादृश्यं नदीनार्योरित्यर्थ ॥ २२३ ॥

जातवती=जातमात्रैव, जननीमनो हरति=स्वमातुर्मन शोकमग्नं करोति । सुहृदा=बन्धूना, शुचा=शोकेन सहैव, वर्धते । वर्धमाना बन्धुवर्गं चिन्ताकुल कुरुते । परसात्कृतापि=वराय प्रदत्तापि । मलिनङ्कुरुते=कुलमुभयं दूषयति । 'व्यभिचारादिदोषै'रिति शेष. । अतो लोकाना दुहितरो नाम–पुत्र्य· खलु दुरतिक्रमा विपद । अप्रतिविधेयविपत्तिरूपा भवन्ति कन्यका इत्यर्थ ॥२२४॥

देवी=स्वपट्टमहिषी । रह स्था =विजनस्थाम् । कृतान्त. कुपित =यम. कुपित· । क खलु मत्कोपकृशानुदग्धोऽचिरात्पञ्चत्वं गमिष्यतीति यावन । नख-

आह च–'आः पापे कुलकलङ्कारिणि ! किमेवं शीलखण्डनं कृतम् ? । कोयं कृतान्ताऽवलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति ?, तत्कथ्यतां ममाग्रे सत्यम् ।

इति कोपाटोपविशङ्कटं वदत्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जा· नताऽऽननं प्रोवाच-'अम्ब ! साक्षान्नारायणः प्रत्यहं गरुडारूढो निशि समायाति, चेदसत्यं मम वाक्यं, तत्स्वचक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्तं रमाकान्तम् ।'

तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाऽङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे–'देव ! दिष्ट्या वर्धसे ! नित्यमेव निशीथे भगवान्नारायणः कन्यकापार्श्वेऽभ्येति । तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता । तदद्य त्वया मया च रात्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्य., यतो न स मानुषैः सहालापं करोति ।' तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राज्ञस्तद्दिनं वर्षशतप्रायमिव कथञ्चिज्जगाम ।

ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिर्यावत्तिष्ठति, तावत्तस्मिन् समये गरुडारूढं तं शङ्खचक्रगदापद्महस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमपश्यत् । ततः सुधापूरप्लावितमिवाऽऽत्मानं मन्यमानस्तामुवाच—'प्रिये ! नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, य-

---

विलिखितशरीरवयवां=नखक्षतावलिविलिखितस्तनादिप्रदेशाम् । शीलखण्डनं= चारित्रभ्रंश । कृतान्तावलोकित =मृत्युपरवश । इति=इत्थं, कोपस्याटोपेन=आवेशेन, विशङ्कटं=विपुलं, भीषणञ्च । 'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशाल विपुलं मह'दित्यमर । यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । भयेन लज्जया च नतमानन यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा स्यात्तथा–प्रोवाच=जगाद । निगूढतरा=प्रच्छन्नतरा भूत्वा । निशीथे=अर्धरात्रे ।

दिष्ट्या=सौभाग्येन । वर्धसे=सौभाग्यवानसीत्यर्थ । तेन=विष्णुना । सा=तव कन्या । वातायनगताभ्या=गवाक्षस्थिताभ्याम् । स =भगवान्नारायण ।

निभृत.=सुगूढ । गगनासक्तदृष्टि =आकाशतलप्रहितलोचन । तस्मिन्समये=निशीथे । यथोक्तचिह्नाङ्कितं=शङ्खचक्राद्यलङ्कृतम् । व्योम्न =आकाशात् । सुधा-

त्प्रसूतिं नारायणो भजते, तत्सिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनोरथाः। अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमतीं वश्यां करिष्यामि ।'

एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत् । ते च तं मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्त्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः ।

अत्राऽन्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच-'पुत्रि ! त्वयि दुहितरि वर्त्तमानायां, नारायणे भगवति जामातरि स्थिते, तत्किमेवं युज्यते यत्सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति ? । तत्संबोध्योऽद्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून्व्यापादयति ।'

ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः-'भगवन् ! त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम्, तत्प्रसादं कृत्वा सर्वांस्ताञ्शत्रून्व्यापादय । कौलिक आह-सुभगे ! कियन्मात्रास्त्वेते तव पितुः शत्रवः ?, तद्विश्वस्ता भव, क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वांस्तिलशः खण्डयिष्यामि ।

अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः । तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान्नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन्दुहितृमुखेन तमूचे-'भगवन् !

पूरल्लावितमिव=अमृतनिर्झरसिक्तामिव । यत्प्रसूतिं=ययोरपत्यम् । पुत्रीमिति यावत् । भजते=सेवते । जामातृप्रभावेण=श्रीमन्नारायणप्रभावेण । वसुमतीं=पृथ्वीम् । सीमाधिपैः=सीमान्तराजैः । मर्यादाव्यतिक्रमं=मर्यादोल्लङ्घनेन सन्धिभङ्गकलहम् । समेत्य=मिलित्वा, विग्रहं युद्धम् । देवीमुखेन=राजमहिषीद्वारा । स्थिते=वर्त्तमाने सति । 'मया सह सर्वे पार्थिवा विग्रहं कुर्वन्ती'त्येवं किं युज्यते ?=न युज्यते इत्यर्थः । सम्बोध्य=प्रार्थनीय । प्रसादं=कृपाम् । व्यापादय=विनाशय । कियन्मात्रा=कियन्तः ?, अत्यल्पा एवेति यावत् ।

गच्छता कालेन=अल्पैरेव दिनैः । उद्वास्य=पीडयित्वा, निष्कास्य, स्वाधिकारे कृत्वा वा । प्राकारशेषः=एकदुर्गमात्राश्रयः । अवरुद्धः सर्वत इति यावत् । कौलिकमजानन्='कौलिकोऽयं नारायणरूपेण मत्कन्यामुपभुङ्क्ते' इत्येवं तत्त्वतः कौलिकम-

प्रभाते नूनं स्थानभङ्गो भविष्यति, यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातः, तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमक्षमः, प्रचुरो मृतश्च। तदेवं ज्ञात्वाऽत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्'–इति।

तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयत्–'स्थानभङ्गे जाते ममाऽनया सह वियोगो भविष्यति, तस्माद्गरुडमारुह्य सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि, कदाचिन्मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धृभिर्हन्यन्ते।

उक्तञ्च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फटा।
विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाऽटोपो भयङ्कर.॥ २२५॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युर्भविष्यति तदपि सुन्दरम्। उक्तञ्च—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्त्रीकृतेऽथवा।
स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातना.॥ २२६॥
चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीशः।
शरणागतेन सार्धं विपदपि तेजस्विनां श्लाघ्या॥ २२७॥

जानन्। नूनम्=अवश्यं। स्थानभङ्ग =दुर्गनाश । दुर्गे शत्रूणामधिकारो भविष्यतीति यावत्। यवसेन्धनक्षय.=घासकाष्ठादिसकलोपकरणक्षय । जन =सैनिकलोक । जर्जरितदेह =विशीर्णशरीर । संवृत्त =जात । प्रचुर =भूयास्तु। मृत = मृत एव। अनया=राजकन्यया। ते=शत्रव । राज्ञ =अस्मच्छ्वशुरस्य राज्ञ । योद्धृभि =भटै ।

निर्विषेण=विषशून्येनापि। सर्पेण–महती=नितरं भीतिदा। फटा=फणासंनिवेशाटोप। विषाऽभावेऽपि फटाडम्बरेणैव लोकाना भयजननं भविष्यतीत्याशय। फणे ति 'मा भूया'दिति च पाठान्तरम्॥ २२५॥ मम=कौलिकस्य। स्थानार्थे=दुर्गरक्षणार्थम्। उद्यतस्य=युद्धं कुर्वाणस्य। तदपि=मरणमपि।

गवामर्थे=गवा रक्षणार्थं। ब्राह्मणार्थे=द्विजरक्षार्थम्। स्वाम्यर्थे=प्रभुकार्यसिद्धये। स्त्रीकृते=स्त्रीरत्नलाभार्थञ्च। तस्य–सनातना =अक्षया । लोका =ब्रह्मलोकादयो भवन्तीत्यर्थ॥ २२६॥

एवं निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच–'सुभगे ! समस्तैः शत्रुभिर्हतैरन्नं पानं चाऽऽस्वादयिष्यामि। किं बहुना–त्वयापि सह सङ्गमं ततः करिष्यामि। परं वाच्यस्त्वयाऽऽत्मपिता यत्प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरान्निष्क्रम्य योद्धव्यम्। अहञ्चाकाशस्थित एव सर्वांस्तान्निस्तेजसः करिष्यामि। पश्चात्सुखेन भवता हन्तव्याः। यदि पुनरहं तान्स्वयमेव सूदयामि तत्तेषां पापात्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात्। तस्मात्ते तथा कर्तव्या यथा पलायन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति।'

साऽपि तदाकर्ण्य पितुः समीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत्। राजापि तस्या वाक्यं श्रद्दधानः प्रत्यूषे समुत्थाय सुसंनद्धसैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम। कौलिकोऽपि मरणे कृतनिश्चयश्चक्रपाणिर्गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थितः।

अत्रान्तरे भगवता नारायणेनातीताऽनागतवर्तमानवेदिना स्मृतमात्रो वैनतेयः संप्राप्तो विहस्य प्रोक्तः–'भो गरुत्मन्! जानासि त्वं यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राजकन्यां कामयते?', सोऽब्रवीत्–'देव! सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्, तत्किं कुर्मः सांप्रतम्?'।

चन्द्रेऽमावास्याया–स्वमण्डलसंस्थे=स्वाश्रिते सति, दिनाधीश=सूर्य, राहुणा=स्वर्भानुना, विगृह्यते=युध्यते। शरणागतरक्षणाय महान्तस्तेजस्विनो विपदमपि अनुभवन्ति–इत्यर्थ। चन्द्रोऽमावास्याया सूर्यमण्डलमुपयातीति, सूर्यग्रहणञ्चाऽमावास्यायामेव भवतीति च प्रसिद्धम्। मण्डलं=सूर्यविम्बम्, स्वराष्ट्रञ्च ॥२२७॥

तां=राजपुत्रीम्। सुभगे=सौभाग्यशालिनि !, प्रिये !। आत्मपिता=स्वजनक.। प्रभूतेन=अतिमहता। निस्तेजस=शक्तिहीनान्। सुखेन=अनायासेन। सूदयामि=मारयामि। वैकुण्ठीया गति=वैकुण्ठलोकप्राप्ति.। ते=दुष्टास्ते राजान। पलायन्तो हन्यमाना.=भीता दशदिशो द्रवन्तस्त्वत्पित्रा हन्यमाना.। 'पलायन् यदि हन्यते न तस्य स्वर्गगतिर्भवतीति'ति धर्मशास्त्रव्यवस्थिति.। आकर्ण्य=श्रुत्वा। गगनगति=आकाशसञ्चारी। अतीतानागतवर्त्तमानवेदिना=सर्वज्ञेन। वैनतेय=गरुड.। कामयते=उपभुङ्क्ते। चेष्टितम्=आचरणम्। साम्प्रतम्=इदानीम्।

श्रीभगवानाह–'अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहित-नियमो युद्धार्थं विनिर्गतः। स नूनं प्रधानक्षत्रियशराहतो निधन-मेष्यति, तस्मिन्हते सर्वो जनो वदिष्यति यत्–'प्रभूतक्षत्रियै-र्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातितः'। ततः परं लोकोऽयमा-वयो. पूजां न करिष्यति। ततस्त्वं द्रुततरं दारुमयगरुडे सङ्क्र-मणं कुरु। चक्रं चक्रे प्रविशतु। अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेशं करिष्यामि–येन स शत्रून्व्यापादयति। ततश्च शत्रुवधादावयो-र्माहात्म्यवृद्धिः स्यात्।

अथ गरुडे 'तथे'ति प्रतिपन्ने श्रीभगवान्नारायणस्तच्छरीरे सक्रमणमकरोत्। ततो भगवान्माहात्म्येन गगनस्थः स कौलिकः शङ्खचक्रगदाचापचिह्नितः क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधान-क्षत्रियान्निस्तेजसश्चकार। ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि शत्रवः। जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा–'अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहताः–' इति।

कौलिकोऽपि तान्हतान्दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णो याव-त्तावद्राजाऽमात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति–ततः पृष्टः 'किमेतत्'? इति। ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्त न्यवेदयत्। ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधादवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं विवाहविधिना तस्मै समर्पिता, देशश्च प्रदत्तः। कौलिकोऽपि

विहितनियम =कृतप्रतिज्ञ ।

प्रधानक्षत्रियशराहतः=श्रेष्ठयोधवीरबाणताडित । निधनं=मृत्युम् । वासुदेव =विष्णु । सङ्क्रमणं=सञ्चारम्। प्रवेशमितियावत्। चक्रं=सुदर्शनचक्रम्। चक्रे=काष्ठचक्रे। माहात्म्यवृद्धि =प्रभाववृद्धि । तथा=युक्तम्। इति प्रतिपन्ने= इत्थं स्वीकृते सति। तच्छरीरे=कौलिकदेहे। लीलयैव–क्रीडयेव। यथा=यत्। अनेन=राज्ञा। प्रमुदितमना =प्रसन्नचित्त ।

राजेति। राजा, अमात्यवर्ग, पुरवासिनश्च तं 'कौलिकोऽय'मिति निश्चित्य यावत्पृच्छन्ति तावत्तेन सर्वो वृत्तान्तो निवेदित इति भाव। कौलिकेति। कौलिक-

तया सार्धं पञ्चप्रकारं जीवलोकसारं विषयसुखमनुभवन्कालं निनाय। अत सुष्ठूच्यते-'सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य-' इति। *

तच्छ्रुत्वा करटक आह-भद्र ! अस्त्येवं, परं तथापि महन्मे भयं,-यतो बुद्धिमान्सञ्जीवको रौद्रश्च सिंहः। यद्यपि ते बुद्धि प्रागल्भ्यं तथापि त्वं पिङ्गलकात्तं वियोजयितुमसमर्थ एव।' दमनक आह-'भ्रात ! असमर्थोऽपि समर्थ एव। उक्तञ्च—

उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः॥ २२८॥

करटक आह-कथमेतत्?। सोऽब्रवीत्—

६. काकी-कनकसूत्र-कृष्णसर्पकथा।

अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान्न्यग्रोधपादपः। तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविवरान्निष्क्रम्य कृष्णसर्पः सदैव तदपत्यानि असञ्जातक्रियाण्येव भक्षयति। ततस्तौ निर्वेदादन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियसुहृदं शृगालं गत्वोचतुः-'भद्र ! किमेवंविधे सञ्जाते आवयोः कर्तव्यं भवति?। एवं तावद्दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्याऽऽवयोर्बालकान्भक्षयति। तत्कथ्यतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः?।

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसङ्गता।
ससर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृत्तिः? ॥२२९॥

साहसप्रसन्नचेतसा। पञ्चप्रकारं=पञ्चेन्द्रियग्राह्यं। विषयोपभोगान् भुञ्जान. सुखेन कालं निनायेत्यर्थ.। सञ्जीवकः=तन्नामा वृषभः। रौद्र.=क्रूर। तं=वृषभम्। कनकसूत्रेण=स्वर्णदोरकद्वारा।('सोनेका डोरा')। निपातित =घातितः ॥२२८॥

न्यग्रोधपादपः=वटतरु। वायसदम्पती=काकमिथुनं। तदपत्यानि=काकार्भकान्। असञ्जातक्रियाणि=उत्पतितुं गन्तुञ्चाऽसमर्थान्येव। निर्वेदात्=शोकात्। अन्यवृक्षमूलनिवासिनम्=वृक्षान्तरमूलगह्वरनिवासिनम्। एवंविधे=सर्पकृतापत्यविनाशरूपे व्यतिकरे। (विपत्ति में)

एवन्तावत्=एवंरीत्या किल। तद्रक्षार्थं=ततः कृष्णसर्पात्स्ववत्सरक्षार्थम्॥

अन्यच्च—सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ।
यद्ग्रामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

स आह–'नात्र विषये स्वल्पोऽपि विषाद कार्यः, नूनं स लुब्धो नोपायमन्तरेण वध्यः स्यात् । उक्तञ्च—

उपायेन जयो यादृग्रिपोस्तादृङ्न हेतिभिः ।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरैः परिभूयते ॥ २३१ ॥

तथा च—भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाऽधममध्यमान् ।
अतिलौल्याद्बक. कश्चिन्मृतः कर्कटकग्रहात् ॥ २३२ ॥

तावूचतुः—'कथमेतत् ?' । सोऽब्रवीत्—

७. बक–कर्कटककथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथं महत्सरः । तत्र च कृताश्रयो बक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान्व्यापादयितुमसमर्थः । ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठ सरस्तीर उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहैर्धरातलमभिषिञ्चन्ररोद । एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य तस्य दुःखेन दुःखितः सादरमिदमूचे 'माम ! किमद्य त्वया यथापूर्वमाहारवृत्तिर्नानुष्ठीयते ?, केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्यां सनिःश्वासेन स्थीयते ! ।

यस्य=पुस । नदीतीरे=सरित्तटे । क्षेत्रं=केदार । भार्या=पत्नी च । परेण=जारेण । सङ्गता=संसक्ता । ससर्पे=सर्पवति गृहे च यस्य निवास, तस्य पुंस कथ=केन प्रकारेण । निर्वृति =सुखम् । न केनाऽपि प्रकारेणेत्यर्थ ॥२२९॥ विषाद =शोक । लुब्ध =काकशावभक्षणलुब्ध । स =सर्प । हेतिभि =शस्त्रै । अल्पकाय.=निर्बलोऽपि । शूरै =बलवद्भि । न परिभूयते=न पराजीयते ॥२३१॥ कश्चिद्बक – उत्तमाधममध्यमान्=बालयुववृद्धान्, मत्स्यान् भक्षयित्वापि अतृप्त सन्–लौल्यात् =अतिलोभाच्चाचलत्वाच्च, कर्कटकग्रहात्=कर्कटकपीडनात् । मृत =पञ्चत्वं जगाम ॥२३२॥ तत्र=सरसि । कृताश्रय =कृतवसति । वृद्धभावं=वार्धक्यं । मत्स्यान्= स्वभक्ष्यभूतान्मीनान् । क्षुत्क्षामकण्ठ =बुभुक्षाक्षीणकण्ठ । मुक्ताफलप्रकरसदृशै.= मौक्तिकपङ्क्तितुल्यै ।

स आह-'वत्स ! सत्यमुपलक्षितं भवता, मया हि मत्स्यादनं प्रति परमवैराग्यतया सांप्रतं प्रायोपवेशनं कृतम्, तेनाहं समीपगतानपि मत्स्यान्न भक्षयामि।' कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह-'माम ! किं तद्वैराग्यकारणम् ?'। स प्राह-'वत्स ! अहमस्मिन्सरसि जातो वृद्धिं गतश्च, तन्मयैतच्छ्रुतं यद् द्वादशवार्षिक्यनावृष्टिः संपद्यते लग्ना।' कुलीरक आह-कस्मात्तच्छ्रुतम् ?। बक आह-दैवज्ञमुखात्'। एष शनैश्चरो हि रोहिणीशकटं भित्त्वा भौमं शुक्रं च प्रयस्याति। उक्तञ्च वराहमिहिरेण-

यदि भिन्त्ते सूर्यसुतो रोहिण्याः शकटमिह लोके।
द्वादश वर्षाणि तदा न हि वर्षति वासवो भूमौ ॥२३३॥

तथा च-प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वेव पातकं वसुधा।
भस्माऽस्थिशकलकीर्णा कापालिकमिव व्रतं धत्ते ॥२३४॥

कुलीरक =कर्कटक, (केकड़ा)। माम !=मातुल ! (मामाजी)। आहारवृत्तिः=भोजनोपार्जनव्यापार। सनि श्वासेन=दीर्घमुच्छ्वासं मुञ्चमानेन। सत्य=तथ्यम्। उपलक्षितं=तर्कितं। प्रायोपवेशनं=मरणार्थ भोजनत्यागपूर्वकमवस्थान। समीपगतान्=निकटतरमागतान्। वैराग्यकारणं=विरक्तिकारणम्। द्वादशवार्षिकी=द्वादशवर्षपर्यन्तभाविनी। अनावृष्टिः=('अकाल' 'सूखा')। सम्पद्यते लग्ना=निकटमागता वर्तते। दैवज्ञमुखात्=मौहूर्तिकमुखात्। (ज्यौतिषी से)। 'श्रुत'मितिशेष।

एष =गगने दृश्यमान',-रोहिणीशकटं=रोहिणीतारकचतुष्टयरूपं शकटं। शकटाकारं रोहिणीतारकमण्डलम्। भित्वा=खण्डयित्वा। प्रतियास्यति=भौमशुक्राभ्यां सहैकराशिं यास्यति। सूर्यसुतः=शनिः। भिन्ते=भेदयति। शकटमिव-शकटं,=शकटाकारं रोहिणीमण्डलं। वासवः=इन्द्रः॥ २३३॥

प्राजापत्ये शकटे=प्रजापतिदैवत्ये रोहिणीशकटे। भिन्ने=शनैश्चरेण, भौमेन, चन्द्रेण वा विदारिते सति। वसुधा=पृथ्वी। पातकं=पापं कृत्वेव, पापिनी स्वपापोपशान्तये इव-भस्मास्थिशकलै=भस्मास्थिखण्डै, कीर्णा=व्याप्ता सती, कापालिकव्रतं=योगिव्रतं, धत्ते इव=सेवते इव। अन्योऽपि कृतपापो तत्पापापनुत्तये चान्द्रायणादिव्रतमाचरति। भूमिरपि कृतजनक्षयपापा-जनहीनाऽस्थिखण्डमण्डिता कापालिकव्रतमिवाचरतीति-भाविजनसंहार सूचितः॥ २३४॥

तथा च–रोहिणीशकटमर्कनन्दश्चेद्भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी ।
कि वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयम् ।।२३५।।

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशनाः सूर्यतप्तभिदुराऽम्बुपायिनः ।।२३६।।

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्तते–शीघ्रं शोषं यास्यति । अस्मिञ्शुष्के यैः सहाऽयं वृद्धिं गतः, सदैव क्रीडितश्च, ते सर्वे तोयाऽभावान्नाशं यास्यन्ति, तत्तेषां वियोगं द्रष्टुमहमसमर्थः, तेनैतत्प्रायोपवेशनं कृतम् ।

साम्प्रतं सर्वेषां स्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते । केचिच्च मकर-शिशुमार-जलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति, तेनाऽहं विशेषाद्रोदिमि–यद्बीजशेषमात्रमप्यत्र-

---

अर्कनन्दन=शनि । रुधिर=भौम । शशी=चन्द्र । तदा–तस्मिन् काले अनिष्टरूपे सागरे–सर्वलोक–संक्षयं=नाशम् , उपयाति=गच्छति–इति किं वदामि=शोकाद्वक्तुमसमर्थोऽस्मीत्यर्थ ॥ २३५ ॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते=शशिनि भिन्नरोहिणीमण्डलमध्यगते सति । अशरणीकृता=शरणरहिता, जना=लोका, शिशुभि=स्वापत्यै विक्रीतैर्मारितैर्वा-पाचित=निष्पादितम्–अशन यैस्ते–शिशुपाचिताऽशना, = स्वापत्यविक्रयादिना सम्पादितभोजना । सूर्यतप्तभिदुराम्बुपायिन=सूर्यकिरणसन्तप्तकटुकजलपायिन सन्त,=क्वापि=कान्दिशीका, यान्ति=स्वस्वदेश विहाय पलायन्ते । 'भिदुर कुशिलेऽपि स्याद्भत्तर्यपि भिदेलिमे' इति केशव ॥ २३६ ॥ ते=मत्स्या । तोयाभावात्=जलाभावात् । तेषा=भवता मत्स्याना, प्रायोपवेशन=भोजनादित्याग । साम्प्रतम्=इदानीम् । जलचरा=मत्स्यादय । गुरुजलाशयेषु=महत्सु जलाशयेषु सरोवरह्रदादिषु । स्वस्वजनै.=तत्तदात्मीयवर्गैर्नीयन्ते=प्राप्यन्ते । केचित्=मकरादयो जलचरा । जलहस्तीति । (मकर='मगर'। शिशुमार='सुइस', जलहस्ती='दर्याई घोडा' या बडी मछली') । निश्चिन्ता.=निरुद्यमा । बीजशेषमात्रमपि=

नोद्धरिष्यति ।' ततः स तदाकर्ण्यान्येषामपि जलचराणां तत्तस्य वचनं निवेदयामास ।

अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छुः-'माम ! अस्ति कश्चिदुपायो येनास्माकं रक्षा भवति ?' ।

बक आह-'अस्त्यस्य जलाशयस्य नाऽतिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः पद्मिनीषण्डमण्डितं,-यच्चतुर्विंशत्यापि वर्षाणामनावृष्ट्या न शोषमेष्यति । तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहति तदहं तं तत्र नयामि ।'

अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः-तात ! मातुल ! भ्रातः ! इति ब्रुवाणाः-'अहं पूर्वमहं पूर्वम्'-इति समन्तात्परितस्थुः ।

सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान्पृष्ठे आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे शिलां समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोपि जलाशयं समासाद्य जलचराणां मिथ्यावार्तासन्देशकैर्मनांसि रञ्जयन्नित्यमेवाऽऽहारवृत्तिमकरोत् । अन्यस्मिन्दिने च कुलीरकेणोक्तः-'माम ! मया सह ते प्रथमः स्नेहसंभाषः सञ्जातः, तत्किं मां परित्यज्याऽन्यान्नयसि ? । तस्मादद्य मे प्राणत्राणं कुरु ।'

तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान्-निर्विण्णोऽहं मत्स्यमांसादनेन, तदद्यैनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि ।'

नाममात्रावशिष्टोऽपि कश्चित् । नोद्धरिष्यति=न स्थास्यति । सर्वेऽपि विलयं यास्यन्तीत्यर्थः ।

स.=कर्कट. । आकर्ण्य=श्रुत्वा । तस्य=बकस्य । प्रभूतजलसनाथं=विपुलतोयराशिविराजितम् । पद्मिनीषण्डमण्डितं=पद्मिनीलताकदम्बराजितम् । अनावृष्ट्या =अवर्षणेन । विश्वासमापन्ना.=ज्ञातविश्वासा. । इति=इत्येवं वदन्त । समन्तात्= बकस्योपरि सर्वतः । परितस्थु =आरुरुहु. । मिथ्या=मुधैव । वार्तासन्देशकै = कुशलवृत्तान्तादिभि. । आहारवृत्ति=भोजनोपायं, भोजनं वा । प्रथम =आदावेव । स्नेहसंभाष=प्रेमालाप. । निर्विण्ण =व्याकुलः । व्यञ्जनस्थाने=व्यञ्जनस्थानीयं । ('चटपटी' 'निमकीन') ।

—इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थितः ।

कुलीरकोऽपि दूरादेवाऽस्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्–माम ! कियद्दूरे स जलाशयः ?, मदीयभारेणाऽतिश्रान्तस्त्वम् , तत्कथय ? ।'

सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयं स्थले न प्रभवतीति मत्वा सस्मितमिदमाह–'कुलीरक ! कुतोऽन्यो जलाशयः ?, मम प्राणयात्रेयम् , तस्मात्स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता , त्वामप्यस्यां शिलायां निक्षिप्य भक्षयिष्यामि ।' इत्युक्तवति तस्मिन् तेन स्ववदनदंशद्वयेन मृणालनालधवलायां मृदुग्रीवायां स गृहीतो मृतश्च ।

अथ स तां बकग्रीवां समादाय शनैः शनैस्तज्जलाशयमाससाद । ततः सर्वैरेव जलचरैः पृष्टः–'भोः कुलीरक ? किं निवृत्तस्त्वम् ?, स मातुलोऽपि नायातः ?, तत्किं चिरयति ?, वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणास्तिष्ठामः ।

एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच–मूर्खाः ! सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः । तन्मयाऽऽयुः शेषतया तस्य विश्वासघातकस्याभिप्रायं ज्ञात्वा ग्रीवेयमानीता । तदलं संभ्रमेण, अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति ।' अतोऽहं ब्रवीमि–'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्–' इति ।-❀

अस्थिपर्वत=महान्तमस्थिराशि । शिलाश्रयं=शिलोपरिस्थितम् । स =बक । मन्दधी =मूढ । स्थले=भूमौ । न प्रभवति=नापकर्त्तु समर्थ । सस्मित=समन्दहासम् । प्राणयात्रा=जीवनोपाय । अभीष्टदेवता=उपास्यदेवता । 'परलोकसद्गतये' इति शेष । तस्मिन्=वके । स्ववदनदंशद्वयेन=स्वमुखसन्दंशयुगलेन । मृणालनालधवलाया=विसतन्तुस्वच्छाया । मृदुग्रीवाया=कोमलकण्ठनाले । गृहीत =दष्ट । किं-निवृत्त =परावृत्त । स मातुल =वक । चिरयति=विलम्वते । कृतक्षणा =निवृत्तसर्वकार्या , यानोन्मुखा , सावधानाश्च । सम्भ्रमेण=औत्सुक्येन व्यग्रतया वा ।

वायस आह-'भद्र! तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो वधमुपैष्यति?।

शृगाल आह—'गच्छतु भवान्कञ्चिन्नगरं राजाधिष्ठानम्। तत्र कस्याऽपि धनिनो राजाऽमात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत्कोटरे प्रक्षिप. येन सर्पस्तद्ग्रहणेन वध्यते।'

अथ तत्क्षणात्काकः काकी च तदाकर्ण्यात्मेच्छयोत्पतितौ। ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति, तावत्तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्न (शिला) न्यस्तकनकसूत्रं मुक्ता-हारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते। अथ सा वायसी कनकसूत्र-मेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे। ततश्च कञ्चुकिनो वर्षवराश्च तन्नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः। काक्यपि सर्पकोटरे तत्कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता।

अथ-यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत्कोटरमवलोकयन्ति, तावत्कृष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति। ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलषितं स्थानं गताः। वायस-दम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यत्कुर्यात्-' इति। ❀।

तन्न किञ्चिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति। उक्तञ्च—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥ २२७॥

अलं=न प्रयोजनम्। राजाधिष्ठानं=राजाधिष्ठितं। धनिन =श्रेष्ठिन। प्रमादिन = प्रमत्तस्य, असावधानस्य। कनकसूत्रं=स्वर्णदोरकं। ['सोनेका हार', कण्ठी, 'डोरा']। हारं=मौक्तिकमाला। तत्कोटरे=सर्पबिले। तद्ग्रहणेन=आभरणचौर्येण। आत्मेच्छया=स्वेच्छया। काञ्चिद्दिशम्। तन्मध्ये=सरोवरमध्ये। अन्त पुर=शुद्धान्त-स्त्रीजन। जलासन्ने देशे न्यस्त कनकसूत्र येन तत्–जलनिकटस्थशिलादि-स्थापितकनकदोरकाभरणम्। मुक्तानि=स्थापितानि मुक्ताहारवस्त्राभरणानि येन तत्। जलक्रीडा=सरोवरावगाहनकेलिम्। वायसी=काकी। कञ्चुकिनो वर्षवराश्च राजान्त पुररक्षका। तत्=कनकदोरकं। सर्पकोटरे=सर्पनिवासकुहरे (सापके

---

१ 'पश्य चाऽतिबल. सिंहः शशकेन निपातित' पा।

करटक आह-'कथमेतत् ?' । स आह—

८. सिंह-शशककथा

कस्मिंश्चिद्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । अथाऽसौ वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान्मृगशशकादीन् व्यापादयन्नोपरराम ।

अथान्येद्युस्तद्वनजाः सर्वे सारङ्गवराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचुः-स्वामिन् ! किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव, यतस्तवैकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति, तत्क्रियतामस्माभिः सह समयधर्मः । अद्यप्रभृति तवाऽत्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति । एवं कृते तव प्राणयात्रा क्लेशं विनापि भविष्यति, अस्माकं च पुनः सर्वोच्छेदो न स्यात् । तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम् । उक्तञ्च—

शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।
रसायनमिव क्ष्मापः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ॥ २३८ ॥
विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च ।
प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥

विलमें)। प्रसारितभोग =सफटाटोप सज्जितशरीर । मन्दोन्मत्त =बलदर्पित । शशकेन=सामान्येन मृगभेदेन । ['सुसिया' 'खरहा'] । निपातित =मारित ॥ २३७ ॥ वीर्यातिरेकात=अतिदर्पात् । व्यापादयन्=मारयन्नपि । अन्येद्यु = अन्यस्मिन्दिने ['किसी दिन'] । सारङ्गा -वराहा =सूकरा , महिषा =लुलाया । (भैंसा)। त= सिंहम् । समयधर्म =प्रतिज्ञाबन्ध , ['वचन देना' 'शर्त्त'] । उपविष्टस्य=इहैव स्थितस्यापि । जातिक्रमेण=मृगवराहमहिषादिजातिपरिपाट्या । मृग =पशु । प्राणयात्रा=जीवननिर्वाह -भोजनम् । सर्वोच्छेद =सर्वनाश । एष =वक्ष्यमाण । यथाबलं=शक्त्यनुसारेण। रसायनं=जरामृत्युविध्वंसकौषधमिव। क्ष्माप =राजा । पुष्टि=दार्ढ्यम् , बलवत्ताञ्च । परमाम्=उत्कृष्टतमाम् ॥ २३८ ॥

मन्त्रयुक्तेन विधिना=समन्त्रेण शास्त्रदृष्टेन विधिना, सुमन्त्रशालिना सामाद्यु-

---

१ 'क्ष्माभृत्' इति, 'प्राश' इति च पा० ।

प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
पीडनं धर्मनाशाय पापायाऽयशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः ।
पालनात्पोषणाद्ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥२४१॥
अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथञ्चन ॥ २४२ ॥
फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥
नृपदीपो धन-स्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ।
आन्तरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥
यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजाः ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥

पायेन च । मथितापि=भ्रमिता, शनैः-शनैराक्रान्ता च । रूक्षापि=शुष्का, निःस्नेहा, कठोरापि । भूमिः=वसुधा । फलं=धनादिकं । प्रयच्छति=ददाति । अरणी=मन्थनकाष्ठ-हुताशनमिव । अरणिर्यथाविधि मथ्यमाना शुष्काऽपि फलं=वह्निं ददात्येव ॥ २३९ ॥

शस्यं=स्तुत्यं । परलोके-स्वर्गस्य । इह=अस्मिन् लोके । कोशस्य=धनस्य च, वर्धनं=संवर्धनं । प्रजानां पीडनं तु राज्ञो-धर्महानिं=पापम् , अकीर्त्तिं च कुरुते इति भावः ॥ २४० ॥ गोपालेन=राज्ञा, धेनुरक्षकेण च । प्रजारूपाया धेनोः, वित्तमेव दुग्धं । न्याय्याम्=उचितां, धर्म्यां च ॥ २४१ ॥ अजा=छागी । एका=एकवारमेव । द्वितीया=पुनरपि । 'अजा इव प्रजा' इत्यपि पाठः ॥२४२॥

फलार्थी नृपतिः यत्नमास्थितः सन्-मालाकारोऽङ्कुरानिव-दानमानादितोयेन-लोकान्=प्रजाः, पालयेत् ॥ २४३ ॥ नृपदीपः-आन्तरस्थैः=स्वात्मस्थैः । 'अन्तःस्थै' रित्यपि पाठः । शुभ्रैः गुणैः=दानमानादिभिः, वर्त्तितन्तुभिश्च ['वत्ती'] । धनरूपं स्नेहं=तैलं, धनं स्नेहमिव वा । संहरन्नपि=गृह्णन्नपि । केनचिदपि न लक्ष्यते=न ज्ञायते ॥ २४४ ॥

चीयते=चयनकाले पुष्पाणि फलानि च तस्याः गृह्यन्ते । (समय पर फूल चुने जाते हैं) ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाऽभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि पानानि विविधानि च ।
तथाऽन्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥२४७॥
लोकाऽनुग्रहकर्तारः प्रवर्धन्ते नरेश्वराः ।
लोकानां सङ्क्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः ॥ २४८ ॥

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह-अहो ! सत्यमभिहितं भवद्भिः । परं यदि ममोपविष्टस्याऽत्र नित्यमेव नैकैको मृगः समागमिष्यति, तन्नूनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि ।'

अथ 'तथे'ति प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने निर्भयास्ते पर्यटन्ति । एकश्च जातिक्रमेण वृद्धो वा,-वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषां मध्यात्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमये प्रतिदिनमुपतिष्ठते ।

अथ कदाचिज्जातिक्रमाच्च शशकस्याऽवसरः समायातः । स समस्तमृगैः प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्दं-मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्तयन्वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गे गच्छता कूपः संदृष्टः । यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्ये आत्मनः प्रतिबिम्बं ददर्श । दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितं, यद्-'भव्य उपायो ऽस्ति, अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुद्ध्याऽस्मिन्कूपे पातयिष्यामि' ।

अथाऽसौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः । सिंहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठः कोपाविष्टः सृक्कणी परिलिहन्नचिन्तयत्-

सूक्ष्म =स्व प । काले=फलावसरे । लोक'-प्रजा ॥ २४६ ॥ अन्यदपि= वस्त्राद्युपभोगसाधनम् । अत -प्रजा सादरं परिरक्षणीया इत्याशय ॥ २४७ ॥

संक्षयात्=पीडनात् ॥२४८॥ श्वापद इति पाठे-श्वापदः=हिंस्रजन्तु. । तत्= तर्हि । नूनम्=अवश्यम् । निर्वृतिभाज =सुखिन । 'तेषा=मृगाणाम् । वेलातिक्रम= कालयापनम् । तेन=शशकेन । भव्य.=अपायरहित , सुन्दर , श्रेष्ठश्च । असौ=

१ 'श्वापद' । २ 'तथैव'-इति पा० । ३ परिलेलिहदचिन्तयत्'-पा०

अहो ! प्रातराहाराय निःसत्त्वं वनं मया कर्तव्यम् । एवं चिन्तयतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणम्याऽग्रे स्थितः ।

अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह–रे शशकाधम ! 'एकतस्तावत्त्वं लघुः प्राप्तः ! अपरतो वेलातिक्रमेण !, तद[1]स्मादपराधात्त्वां निपात्य–प्रातः सकलान्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि' ।

अथ शशकः सविनयं प्रोवाच–'स्वामिन् ! नापराधो मम. न चाऽन्यमृगाणाम्[2], तच्छ्रूयतां कारणम् ।' सिंह आह–'सत्वरं निवेदय–यावन्मम दंष्ट्राऽन्तर्गतो न भवान्[3]भविष्यति'–इति ।

शशक आह–'स्वामिन् ! समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः । ततश्चाऽहमागच्छन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन क्षितिविवरान्निर्गत्याऽभिहितः–'रे ! क्व प्रस्थिता यूयम् ?, अभीष्टदेवतां स्मरत ।'

ततो मयाऽभिहितम्–'वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशमाहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः ।'

ततस्तेनाभिहितम्–'यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनं, मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्तितव्यम् । चौररूपी स भासुरकः । अथ यदि सोऽत्र राजा, ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ । येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात्पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान्भक्षयिष्यति'–

शशक. । सृक्कणी=ओष्ठप्रान्तभागौ । निस्सत्त्वं=शर्वश्वापदशून्यम् । प्रज्वलितात्मा =क्रोधाविष्ट. । भर्त्सयन्=तर्जयन् । (डाँटता हुआ) । एकत.=एकत्र । ('एक तो') । लघु =अल्पशरीर', अपरत =अपरम् ('दूसरे') । वेलातिक्रमेण=भोजनावसरसमतिवाह्य । 'प्राप्त' इति शेष. । दंष्ट्रान्तर्गत.=मुखगह्वरं प्रविष्ट' । (दंष्ट्रा='जाड') । अन्तराले=मार्गस्य मध्ये । विवरात्=गह्वरात् । समयधर्मेण=प्रतिज्ञानुसारेण ।

१ 'तस्मादेतस्मात्' पा० । २ 'न च सत्त्वानाम्' । ३ 'न भवसि' ।
४ 'महता. क्षितिविवरान्निर्गत्य' । ५ 'मृगैः' ।

इति। ततोऽहं तेनाऽऽदिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः। एतद्वेलाव्यतिक्रमकारणम्। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।'

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह-'भद्र! यद्येवं तत्सत्वरं दर्शय मे तं चौरसिंहं, येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि।

उक्तञ्च—भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम्।
नास्त्येकमपि यद्येषां न तं कुर्यात्कथञ्चन॥ २४९॥
यत्र न स्यात्फलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः।
न तत्र मतिमान्युद्धं समुत्पाद्य समाचरेत्॥ २५०॥

शशक आह-स्वामिन्! सत्यमिदम्-स्वभूमिहेतोः, परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रियाः। परं स दुर्गाश्रयः, दुर्गान्निष्क्रम्य वयं तेन विष्कम्भिताः। ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः। उक्तञ्च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
तत्कृत्यं[1] साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्भवेत्॥ २५१॥
शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः॥ २५२॥
पुरा गुरोः समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात्।

विश्वासस्थाने=स्वोक्तिप्रत्यायनार्थम्। धृत्वा=स्थापयित्वा। चौरसिंहं=दुष्टं सिंहाधमं। मृगकोपं=मृगोपरि वर्धमानं कोपम्। तस्य=दुष्टसिंहस्य।

भूमिः=ग्रामराज्यादिकम्। मित्रं=मित्रानुरञ्जनं, मित्रार्जनं वा। हिरण्यं=धनम्। विग्रहस्य=युद्धस्य। एषाम्=एषां मध्ये। तं=युद्धम् ॥२४९॥ यत्र भूरि फलं युद्धे न स्यात्, यत्र च युद्धे पराभवः=पराजयो निश्चितः स्यात्, तत्र=तस्मिन्नवसरे मतिमान्-समुत्पाद्य=स्वयमात्मनाऽग्रसरो भूत्वा युद्धं न समाचरेत्। किञ्च—स्वल्पस्य कृते बलिना सह युद्धं नाचरेदिति भावः ॥२५०॥

परिभवात्=अपमानाच्च। क्षत्रियाः=मानिनः क्षत्रियाः। सः=प्रतिपक्षी सिंहः। दुर्गाश्रयः=दुर्गनिवासी। विष्कम्भिताः=अवरुद्धाः (रोके गए)। सन्धत्ते=लक्ष्यतां नयति। प्राकारस्थः=दुर्गभित्तिप्रान्तस्थः ॥ २५२ ॥ गुरोः=बृहस्पतेः।

१, 'यत्कृत्यं साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन सिध्यति' पा०।

शक्रेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मणः ॥ २५३ ॥
तेनापि च वरो दत्तो 'यस्य दुर्गं स भूपतिः ।
विजयी स्या'त्ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः सहस्रशः ॥२५४॥
दंष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां[2] जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ २५५ ॥

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह-भद्र ! दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौर-सिंहं,-येन व्यापादयामि । उक्तञ्च—

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

तथा च—उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

अपि च—उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽवसावसाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ।२५८।

शक्रेण=इन्द्रेण । विश्वकर्मण =देवशिल्पिन । प्रभावात्=साहाय्यात् ॥२५३॥

तेन=इन्द्रेण । वरमेवाह—यस्येति । तत =इन्द्रवरप्रभावात् । स्यु =अभूवन् ॥ २५४ ॥ दंष्ट्राविरहित =उत्पाटितविषदन्त । नाग =सर्प ॥ २५५ ॥

वृद्धिं प्राप्य=प्रवृद्धेन । तेनैव=शत्रुणा, रोगेण च । महाबलोपि । स =रोग-शत्रूपेक्षकः ॥ २५६ ॥ उत्तिष्ठमान =वर्धमान । पर =शत्रु । पथ्यं=हितम् । शिष्टै=विचक्षण । आमय =रोग । स =शत्रुश्च । वर्त्स्यन्तौ=वर्धमानौ । समौ=तुल्यौ । आम्नातौ=कथितौ ॥ २५७ ॥

मन्दान्धैः=बलदर्पितै । पुरुषैः—प्रमाददोषात्=अनवधानमूलान्मौर्ख्यात् । उपेक्षित =अकृतप्रतीकारः । क्षीणबलोऽपि=निर्बलोऽपि । शत्रु-प्रथमम्=आदौ । साध्यो भूत्वापि=उपायसाध्यता भजमानोऽपि । उपायसाध्योऽपि । असौ—उपेक्षितो व्याधिरिव क्रमशः—असाध्यता प्रयाति=भजते । साध्योपि हि व्याधिरुपेक्षितोऽसाध्यो भवत्येव ॥ २५८ ॥

---

१. 'दुर्गाणि सुबहून्यपि ।'शत्रूनेकोऽपि हन्यात्स क्षत्रियान्' पा० ।
२. 'गच्छन्नभिमुखो वह्नौ नाशं याति पतङ्गवत्' ।

तथा च—आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहञ्च यो व्रजेत्।
वहून्[1]हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा ॥ २५९ ॥

शशक आह—'अस्त्येतत्, तथापि वलवान् स मया दृष्टः, तन्न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वैव गन्तुम्। उक्तञ्च—

अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
गच्छन्नभिमुखो नाशं[2] याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ २६० ॥
यो वलात्[3]प्रोन्नतं याति निहन्तुं सवलोऽप्यरिम्।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥

भासुरक आह—'भोः! किं तवाऽनेन व्यापारेण?'। दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि।' अथ शशक आह—यद्येवं तर्ह्यागच्छतु स्वामी।'

एवमुक्त्वाऽग्रे व्यवस्थितः। ततश्च तेनाऽऽगच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत्तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—स्वामिन्! कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः, त्वां दृष्ट्वा[4] दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गं, तदागच्छ येन दर्शयामि'—इति।

भासुरक आह—'दर्शय मे दुर्गम्।' तदनु दर्शितस्तेन कूपः। तत सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिविम्बं जलमध्यगतं दृष्ट्वा सिंहनादं मुमोच। ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद्द्विगुणतरो

मनोत्साहम्=अभिमानं युद्धोत्साहञ्च। व्रजेत्= आश्रयेत्। स =उत्साह-वलोर्जित। भार्गव =परशुराम ॥ २५९ ॥

स =चौरसिह। आत्मन परस्य च शक्तिमविदित्वा—समुत्सुक =युद्धोत्सुक, अभिमुख=शत्रुसंमुख, गच्छन्-वह्नौ पतङ्ग इव—नाश प्रयाति ॥ २६० ॥

य —वलात् प्रोन्नतं=प्रकृष्टवलशालिनम्, अरि=शत्रु, निहन्तु प्रयाति स सवलोऽपि विमद =पराजित सन्—(शीर्णदन्त =भग्न दन्त, गज इव—) निवर्त्तते। अतो वलवदभियानं नोचितमित्याशय ॥ २६१ ॥ व्यवस्थित.=प्रचलित।

अनेन=उपदेशादिना, किं=न किमपि प्रयोजनमित्यर्थ। तेन=शशकेन।

1 'शत्रूनेकोऽपि हन्यात्स क्षत्रियान्' पा०। २ 'गच्छन्नभिमुखो वह्नौ नाश याति पतङ्गवत्'। ३. 'योऽवलः प्रोन्नत याति निहन्तु सबलं रिपु'मिति पाठान्तरम्।
४ 'येन त्वा दूरतोऽपि दृष्ट्वा चौरोऽय तद्दुर्ग प्रविष्ट.।

नादः समुत्थितः। अथ तेन तं शत्रुं मत्वाऽऽत्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणाः परित्यक्ताः। शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगानानन्द्य तैः प्रशस्यमानो यथासुखं तत्र वने निवसति स्म। अतोऽहं ब्रवीमि-'तस्य बुद्धिर्बलं यस्य-'इति ।❀

तद्यदि भवान्कथयति,-तत्तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेदं करोमि।' करटक आह-भद्र! यद्येवं तर्हि गच्छ, शिवास्ते पन्थानः सन्तु, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।'

अथ दमनकः सञ्जीवकवियुक्तं पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याऽग्रे समुपविष्टः। पिङ्गलकोऽपि तमाह-भद्र! किं चिराद्दृष्टः?। दमनक आह-न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तेनाहं नाऽऽगच्छामि, तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य संदह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेवाभ्यागतो वक्तुम्। उक्तञ्च-

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाऽशुभम्।
अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्॥ २६२॥

अथ तस्य साऽभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिङ्गलक आह-'किंवक्तुमना भवान्?, तत्कथ्यतां यत्कथनीयमस्ति।' स प्राह-'देव! सञ्जीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धि'रिति-विश्वासगतस्य मम विजन इदमाह-'भो दमनक! दृष्टा मयाऽस्य पिङ्गलकस्य

आसाद्य=प्राप्य। 'दूरतोऽपि दृष्ट्वे'ति सम्बन्धः। स्व दुर्ग-कूपम्। तेन=शशकेन। तेन=सिंहनादेन। तं शत्रुम्-अन्तःस्थितं, मत्वा=ज्ञात्वा। तेन=सिंहेन।

तस्योपरि=स्वप्रतिबिम्बस्योपरि-कूपमध्ये। प्रशस्यमानः=स्तूयमानः, 'तैः सह वने वसति स्मे'ति सम्बन्धः।

भवान्=करटकः, तयोः=सञ्जीवकपिङ्गलकयोः। यथाभिप्रेतम्=तयोर्मैत्रीभेदादिकम्। सञ्जीवकवियुक्तं=कदाचित्-सञ्जीवकरूपभटरहितम्। तत्रान्तरे=तस्मिन्नवसरे। राजप्रयोजनविनाशं=राजकार्यकार्यहानिम्। साभिप्रायं=गूढाशयशालि। विश्वासगतस्य=विश्वासपात्रस्य। विजने=एकान्ते। नाराऽसारता=कोशबलादि-

1 शक्तनरोऽयमिति मत्वा' पा०।

साराऽसारता, तदहमेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितं करिष्यामि'।

पिङ्गलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृशं दारुणं वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किञ्चिदप्युक्तवान्। दमनकोऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान्-'अयं तावत्सञ्जीवकनिबद्धरागः, तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाशमवाप्स्यति',-इति। उक्तञ्च—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः, स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा,
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वभिद्रुह्यते ॥ २६३ ॥

तत्किमत्र युक्तम्?-इति। पिङ्गलकोऽपि चेतनां समासाद्य कथमपि तमाह—'सञ्जीवकस्तावत्प्राणसमो भृत्यः, स कथं ममोपरि द्रोहबुद्धिं करोति'!। दमनक आह-'देव! भृत्यो भृत्य-इति न एकान्तिकमेतत्[1]। उक्तञ्च—

तत्त्वम्। एनं=सिंहं। तव साचिव्यपदव्या समन्वितं,-त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वितम्। तुभ्यं मन्त्रिपदवीं दत्त्वेति यावत्। वज्रवत्सारं यस्यासौ तेन-वज्रसारेण यः प्रहारस्तेन सदृशं=वज्रकठोरप्रहारोपमं। दारुणं=क्रूरं। समाकर्ण्य=श्रुत्वा। मोहं=मूर्च्छाम्। उपगतः=प्राप्तः। तस्य=सिंहस्य। तमाकारं=मौनमूर्च्छादिलक्षितां चित्तवृत्तिं, मुखाकृतिञ्च। अयं=सिंहः। सञ्जीवकनिबद्धरागः=सञ्जीवकस्नेहासक्तः। अनेन=सञ्जीवकेन। मन्त्रिणा=सचिवेन। राजा=सिंहः।

एकमिति। एकं=मन्त्रिणमन्यं वा। प्रमाणं=प्रमाणभूतं सर्वाधिकारिणम्। तं=मन्त्रिणम्। मोहात्=मौर्ख्यात्। मदः=गर्वः। दास्येन=राजसेवया। निर्विद्यते=खिद्यते। दुःखमनुभवति। निर्विण्णस्य=दुःखितस्य। स्वतन्त्रस्पृहा=स्वातन्त्र्ये-स्वप्रभुत्वविषये लालसा। अभिद्रुह्यते=नृपतिं हन्तुं व्यवस्यति ॥२६३॥ युक्तम्=उचितम्। चेतनां=सञ्ज्ञां। समासाद्य=लब्ध्वा। कथमपि=कथमपि धृतधैर्यः। एकान्तिकं=नियतम्। 'अनैकान्तिक'मिति पाठे-अनैकान्तिकं=व्यभिचारि। भृत्यः सर्वदा भृत्यभावमेव भजते, न कदाचिदपि ततो व्यभिचरतीति नास्ति नियमः,

[1] 'अनैकान्तिकमेतत्।'

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम् ।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्रं पर्युपासते ॥ २६४ ॥

पिङ्गलक आह–'भद्र ! तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृतिं याति । अथवा साध्विदमुच्यते—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ? ।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ २६५ ॥

दमनक आह–'अत एवाऽयं दोषः । उक्तञ्च—

यस्मिन्नेवाऽधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।
अकुलीनः कुलीनो वा स श्रियो भाजनं नर'॥ २६६ ॥

अपरं–'केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे धारयति'?। अथ देव ! यद्येवं चिन्तयसि–'महाकायोऽयम्, अनेन रिपून्व्यापादयिष्यामि', तदस्मान्न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी। देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाऽशिनः । तद्रिपुसाधनमस्य

किन्तु भृत्योपि भृत्यभावं जहाति । अत 'भृत्यो भृत्य एवे'ति व्यभिचरितमेवेत्याशय । पुरुषो नास्ति यो राज्ञां श्रियं=राजलक्ष्मीं न कामयते=अभिलषति । यद्वा–राज्ञां पुरुषः=राजसेवक इत्यन्वय , श्रियम्=राजश्रियम् । सर्वेऽपि राजपदमभिवाञ्छन्त्येवेत्याशयः । किन्तु अशक्ताः=शक्तिविकलतयैव राजानं पर्युपासते=भृत्यतया सेवन्ते ॥ २६४ ॥ विकृतिं न याति=मम चित्ते तं प्रति विरोधभावो नोदेति ॥ अनेकदोषदुष्ट.=रोगादिदुष्टोऽपि । कायः शरीरम् । कस्य न वल्लभः=न प्रियः । व्यलीकानि=विरुद्धानि कुर्वन्नपि । प्रिय.=प्रियजन , प्रिय एव न द्वेष्यः ॥ २६५ ॥ अय दोष.=राजविपत्तिरूपः । यस्मिन्नेव पुरुषे पार्थिव – अधिकं चक्षुरारोपयति=स्नेहमाविष्करोति । स नर'–योग्यो वा, अयोग्यो वा । राजलक्ष्म्याः, सम्पत्तेर्वा, भाजनं=पात्रं भवति ॥ २६६ ॥ अपरं=किञ्च । स्वामी=भवान् । केन गुणविशेषेण निकटे धारयति=तं समीपे स्थापयति । 'महाकायोऽयं वृषभः, एतत्साहाय्येन शत्रून्मारयामी'त्येवं यदि भवान् चिन्तयति, तत=भवच्चिन्तितम् । अस्मात्=वृषभात् । शष्पभोजी=घासाहारी । पुन =किन्तु,

---

१ 'स लक्ष्म्या हरते मनः' । इति पाठान्तरम् ।

साहाय्येन न भवति। तस्मादेनं दूषयित्वा हन्यताम्'-इति।

पिङ्गलक आह-

उक्तो भवति यः पूर्वं 'गुणवा'निति संसदि।
तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा॥ २६७॥

अन्यच्च-मयाऽस्य तव वचनेनाऽभयप्रदानं दत्तं, तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि?। सर्वथा सञ्जीवकोऽयं सुहृदस्माकं, न तं प्रति कश्चिन्मन्युरस्ति। उक्तञ्च—

'इत' स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥ २६८॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणीयः।
उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जां
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः?।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥ २७०॥

देवपादाना=श्रीमच्चरणाना, तवेति यावत्। रिपव=सिंहादय। मासाशिन=मासभोजिन। रिपुसाधनं=शत्रुनाशनम्। एन=सञ्जीवक। दूषयित्वा=सन्दूष्य। य पूर्वं ससदि=सभायाम्। गुणवानिति-, उक्त=प्रशंसित, तस्य दोष-प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा=स्वोक्तिविरोधभयातुरेण न वक्तव्य॥ २६७॥ अस्य=सञ्जीवकस्य। तव=दमनकस्य। व्यापादयामि=हन्मि। सर्वथा=सर्वतो भावेन। सुहृत्=मित्र, हितैषी। त प्रति मम कश्चिदपि-मन्यु.=क्रोध। न=नैवास्ति।

इत इति। इत=मत्त प्रजापतेरेव। स=तारकासुर। प्राप्तश्री=लब्धवरो जात प्रभावश्च। इत=मत्त एव। क्षय=नाशम्। नार्हति=न योग्य। स्वयम्=आत्मना। छेत्तुम्-असाम्प्रतम्=न युज्यते॥ २६८॥ आदाविति। प्रणयिनाम्-'उपरी'ति शेष। प्रणय=स्नेह। 'अपि देय' इति केचित्पठन्ति। दत्त=विहित। 'प्रणय' इति शेष। परिपोषणीय=वर्द्धनीय। उत्क्षिप्य=उपरि नीत्वा। स्नेहं वर्द्धयित्वा। क्षिपति=नीचैर्नयति, तदेव लज्जा करोति=सन्तापयति। भूमौ स्थितस्येति। यथा-भूमौ स्थितो न पतति, तथैव स्नेहाऽनुबन्धाऽभावे तन्नाशज

तद्द्रोहबुद्धेरपि मयाऽस्य न विरुद्धमाचरणीयम्'। दमनक आह-'स्वामिन्! नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धिरपि क्षम्यते। उक्तञ्च-

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम्।
अर्धराज्यहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते॥ २७१॥

अपरं-'त्वयाऽस्य सखित्वात्सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तः, राजधर्माऽभावात्सर्वोऽपि विरक्तिङ्गतः। यः सञ्जीवकः स शष्पभोजी, भवान्मांसाऽदः, तव प्रकृतयश्च। तत्तवाऽवन्ध्यव्यवसाय बाह्यं कुतस्तासां मांसाशनम्?। तद्रहितास्तास्त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति, ततोऽपि त्वं विनष्ट एव। अस्य सङ्गत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटके मतिर्भविष्यति। उक्तञ्च—

यादृशैः सेव्यते भृत्यैर्यादृशांश्चोपसेवते।
कदाचिन्नाऽत्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुषः॥ २७२॥

दुःख नास्त्येवेति भाव.॥ २६९॥ द्रोहबुद्धे=मद्विरुद्धं चिन्तयतोऽपि, अस्य=सञ्जीवकस्य। विरुद्धं=विपरीतम्। राजधर्म=राजव्यवहार·। तुल्यार्थं=समानवित्तम्। तुल्यसामर्थ्यं=समानबलम्। मर्मज्ञं=रहस्यवेत्तारम्। व्यवसायिनम=उद्योगशीलम्। अर्धराज्यहर=राजतुल्यतया अर्धराज्यहरम्। प्रजाभि स्तूयमान. भृत्यं य = राजा। न हन्यात्स स्वय हन्यते=तेनाऽमात्यादिना हन्यते॥२७१॥ सखित्वात=मित्रत्वात्, राजधर्म=प्रजापालनादि.। 'त्वये'ति शेष। परिजन = अनुजीविवर्ग। य· सञ्जीवकस्तवानुचरमुख्य स्थित -स तु शष्पभोजी, अत - कुतोऽनुजीविजनाना ततो भोजनलाभ इत्यन्वयः। तव प्रकृतय =त्वत्प्रजानुचरसुहृदादिवर्गोऽस्मादृश। 'मासादा'-इति शेष। 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सेनाङ्गानि प्रकृतय.-पौराणां श्रेणयोऽपि च॥' इत्यमर। तत= तस्मात्। तव=भवत। अवन्ध्यव्यवसायबाह्यं=त्वदीयप्रचण्डाऽमोघपराक्रम विना। तासां=त्वत्प्रकृतीनाम्। मांसाशनं=मांसात्मक भोजनम्। कुत - कथ स्यात। त्वत्पराक्रमेणैव त्वदनुचराणा मांसभोजनं भवति, त्वया चेदानीं पराक्रमस्त्यक्त एवेति कथं प्रकृतिरक्षण स्यादिति भाव। तद्रहिता =भोजनवर्जिता.। तत =प्रकृति विरहात्। नष्ट.=विनष्ट एव। अस्य=शष्पभोजिनो वृषभस्य। आखेटके=मृगयाया। मति =बुद्धि·॥ यादृशै =उत्तमाऽधममध्यमै। उपसेवते=भजति। 'पुरुष-

तथाच—

सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतितं तज्जायते मौक्तिकं,
प्रायेणाऽधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥२७३॥

तथा च—

असतां सङ्गदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः॥ २७४॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति। उक्तञ्च—

न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्यः प्रतिश्रयः।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी॥ २७५॥

पिङ्गलक आह-कथमेतत्?। सोऽब्रवीत्—

९. मन्दविसर्पिणी-मत्कुण कथा।

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कस्मिंश्चित्स्थाने मनोरमं शयनस्थानम्। तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म। सा च तस्य महीपते रक्त-

स्तादृगेव भवती'त्यत्र सन्देहो नास्तीति सम्बन्ध ॥ २७२ ॥

सन्तप्तायसि=सन्तप्तलोहखण्डादौ। संस्थितस्य पयस=जलस्य। नामापि न ज्ञायते। तदेव=जलमेव। मुक्ताकारतया राजते=शोभते। नलिनीपत्रस्थित=कमलिनीदलगतं सत्। स्वाताविति। समुद्रस्थशुक्तिकोटरे स्वातिनक्षत्रे पतित तत्=जल-तन्मुक्ताकारतया परिणमतीत्यर्थ। संवासत=सम्पर्कविशेषान्नर-उत्तमो मध्यमोऽधमो वा जायते ॥ २७३ ॥

असतां दुष्टानाम्। साधव=सज्जना। विक्रिया=विकारं। प्रसङ्गेन=सम्पर्केण। भीष्मोऽपि गोहरणे=विराटनगरे गवाहरणार्थं। गत=यात ॥ २७४ ॥ **अविज्ञातशीलस्य**=अविज्ञातस्वभावस्य। **प्रतिश्रयः**-आश्रय। मत्कुणस्य=खट्वाकीटस्य ('**खटमल**' इति प्रसिद्धस्य) दोषेण=अपराधेन। मन्दविसर्पिणी नाम यूका ('जूं' 'चीलर')। हता=राजपुरुषैर्हता ॥ २७५ ॥

मास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति। अन्येद्युश्च तत्र शयने कुचिद्भ्राम्यन्नग्निमुखो नाम मत्कुणः समायातः।

अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच–भो अग्निमुख! कुतस्त्वमत्राऽनुचितस्थाने समायातः?, तद्यावन्न कश्चित्पश्यति तावच्छीघ्रं गम्यताम्'–इति। स आह–'भगवति! गृहागतस्याऽसाधोरपि नैतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तञ्च–

एह्यागच्छ समाश्वसाऽऽसनमिदं, कस्माच्चिराद्दृश्यसे?,
का वार्ता? न्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा,
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघुः स्वर्गदः॥२७६॥

अपरं–मयानेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराण्यास्वादितान्याहारदोषात्कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि। न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम्। तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि, तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्यलेह्यस्वाद्वाहारवशात्–(अस्य)-शरीरे यन्मिष्टं रक्तं सञ्जातं, तदास्वादनेन सौख्यं संपादयामि जिह्वायाः,–इति।

उक्तञ्च–

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्मृतम्।

शयनस्थान=शयनगृहम्। शुक्लेति। श्वेतवस्त्रद्वयसन्निवस्थिता। अन्येद्यु.=कस्मिंश्चिद्दिने। मत्कुणः=रक्तप खट्वाकीट। विषण्णवदना=म्लानवदना भूत्वा ('उदास मुख होकर')। अनुचितस्थाने=स्वावस्थानाऽयोग्ये। स्थाने=राजशयनप्रच्छदपटे। गृहागतस्य=अतिथे। असाधो.=दुष्टस्यापि। एतत्=ईदृशं वच.। आसनमिद='गृहाणाऽत्रोपविशे'ति शेष। नु–इति वितर्के, अतिदुर्बलोसि=अतिदुर्बल इव प्रतिभासि। कि कारणं तद्वदेत्यर्थ। अय धर्म –गृहमेधिनाम्=गृहस्थानाम्। लघु यथा स्यात्तथा=द्रागेव,–स्वर्गद =स्वर्गप्रद –स्मृतिवेदिभिरुक्त.॥२७६॥

प्रसादम्=अनुग्रहम्। व्यञ्जनानि=नानाविधानि पक्वान्नानि, लवणमरिचार्द्रकादिघटितानि जिह्वासौख्यकराणि भक्ष्याणि वा। ('निमकीन' 'पकान्न') अन्नपानादय –भक्ष्य–पेयविशेषा.। रङ्क =दरिद्र। सम=तुल्यमेव। तन्मात्रं=

तन्मात्रं च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥
यद्येवं न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।
तन्न भृत्यो भवेत्कश्चित्कस्य चिद्वशगोऽथवा ॥ २७८ ॥
यदसत्यं वदेन्मर्त्यो यद्वाऽसेव्यं च सेवते ।
यद्गच्छति विदेशं च तत्सर्वमुदरार्थत. ॥ २७९ ॥

तन्मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद्भोजनमर्थनीयं, तन्न त्वयैकाकिन्याऽस्य भूपते रक्तभोजनं कर्तुं युज्यते ।'

तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह–'भो मत्कुण ! अहमस्य नृपतेर्निद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि, पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च, तद्यदि मया सह रक्तपानं करोषि–तत्तिष्ठ,अभीष्टतरं रक्तमास्वादय ।

सोऽब्रवीत् 'भगवति ! एवं करिष्यामि, यावत्त्वं नास्वादयसि प्रथमं नृपरक्तम्, तावन्मम देवगुरुकृतः शपथः स्यात्,-यदि तदास्वादयामि ।'

एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्तः। अथाऽसौ मत्कुणो जिह्वालौल्य-प्रकृष्टौत्सुक्याज्जाग्रतमपि तं महीपतिमदशत् । अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्त्तुमन्यथा ।
सुतप्तमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥ २८० ॥

जिह्वासौख्यमात्रं । सारं=जगति सारभूतम् । यदर्थं=जिह्वासौख्यार्थम् , लोक = सकलोऽपि जन । यतते=प्रयतते । जिह्वाप्रतुष्टिदं=जिह्वासौख्यप्रदम् । वशग = परतन्त्र । वदेत्=वदति । सम्भावनाया लिङ् । मर्त्य =मनुष्य । असेव्य=नीचम् उदरपूर्त्तये कुरुते ॥ २७९ ॥

गृहागतेन= अतिथिभूतेन । अर्थनीयम्=प्रार्थनीयम् । अग्निमुख =तीक्ष्णविदाहिदंष्ट्र । अभीष्टतर=मधुरम् । एव=यथा त्व भाषसे तथैव । देवगुरुकृत शपथ = 'देवगुरु शापेनाह दग्ध स्या यदि प्रथममह नृपरक्तमास्वादयेयम्'–इत्येवमादि. शपथ । तत्=राजरक्तम् । जिह्वाया लौल्यं=चाञ्चल्य, तेन सहितं यत् प्रकृष्टमौत्सुक्यम,=औत्कण्ठ्य, तस्मात् । 'जिह्वालौल्या' दिति व्यस्तोऽपि पाठ । अदशत्=

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनात्मकः ।
न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा ॥ २८१ ॥

अथाऽसौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणादेवोत्थितः-प्राह च-'अहो ! ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नूनं तिष्ठति, येनाहं दष्टः'-इति । अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षाञ्चक्रुः । अत्रान्तरे स मत्कुणश्चापल्यात्खट्वाऽन्तं प्रविष्टः । सा मन्दविसर्पिण्यपि वस्त्रसन्ध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा, व्यापादिता च । अतोऽहं ब्रवीमि-'न ह्यविज्ञातशीलस्य-'इति । ❀

एवं ज्ञात्वा त्वयैष वध्यः, नो चेत्त्वां व्यापादयिष्यति । उक्तञ्च—

त्यक्ताश्चाऽभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः ।
स एव मृत्युमाप्नोति मूर्खश्चण्डरवो यथा ॥ २८२ ॥

पिङ्गलक आह-'कथमेतत् ?' । सोऽब्रवीत्-

१०. चण्डरव-शृगाल-कथा

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म । स कदाचित्क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरेऽनुप्रविष्टः ।

अथ तं नगरवासिनः सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दाय

अतुदत् । अन्यथा कर्तुं=परिवर्तयितुम् । ॥ २८० ॥ शीतांशुः=चन्द्रः । दहनात्मकः=तीक्ष्णप्रतापः । सर्वथा पुंसा स्वभावोऽन्यथा कर्तुं न शक्यते-इत्याशयः ॥ २८१ ॥ (प्रच्छादनपटः='चद्दर' 'सुजनी' 'चादनी') ।

कञ्चुकिनः=अन्तःपुररक्षकाः ('चोबदार-' 'जमादार') । वीक्षाञ्चक्रुः=ददृशुः । अन्तरे=अवसरे । चापल्यात्=आशुगामित्वात् । तैः=कञ्चुकिभिः । व्यापादिता=हता । आभ्यन्तराः=स्वबान्धवादयः । त्यक्ताः=उत्सारिताः । बाह्याः=असम्बन्धिनोऽबान्धवाश्च । अभ्यन्तरीकृताः=अन्तरङ्गतां नीताः । अधिकारस्थानेषु नियुक्ताश्च ॥ २८२ ॥

---

१ 'यथा राजा ककुद्रुम' । पा० ।

मानाः परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः। सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राणभयात्प्रत्यासन्नं रजकगृहं प्रविष्टः। तत्र च नीलीरसपरिपूर्णं महाभाण्डं सज्जीकृतमासीत्। तत्र सारमेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतितः। अथ यावन्निष्क्रान्तस्तावन्नीलवर्णः सञ्जातः। तत्राऽपरे सारमेयास्तं शृगालमजानन्तो यथाऽभीष्टां दिशं जग्मुः।

चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेशमासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे। न च नीलवर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तञ्च–

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोरपि॥ २८३॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य सर्वे सिंह-व्याघ्र-द्वीपि-वृक-वानरप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलचित्ताः समन्तात्पलायनक्रियां कुर्वन्ति, कथयन्ति च–'न ज्ञायतेऽस्य कीदृग्विचेष्टितं, पौरुषं च? तद्दूरतरं गच्छामः। उक्तञ्च–

न यस्य चेष्टितं विद्यान्न कुलं न पराक्रमम्।
न यस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मनः.'॥ २८४॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेदमाह— भो भोः श्वापदाः! किं यूयं मां दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ?, तन्न भेतव्यम्।

क्षुधाविष्टः=बुभुक्षितः। नगरान्तरे=नगरमध्ये। सारमेयाः=कुक्कुराः। सोऽपि=शृगालोऽपि। प्रत्यासन्नं=निकटवर्ति। रजकस्य=वस्त्रनिर्णेजकस्य ('धोबी' 'रंगरेज')। महाभाण्डं=महत्पात्रम्। (कुण्डा)। सज्जीकृतं= गुणीकृत्य स्थापितम्। यथाभीष्टदिशं=स्वस्वस्थानाभिमुखम्। निजरङ्गः=नीलत्वं, ('रंग')। वज्रलेपः= सन्धिपिधानाय निर्मितो लेपभेदः। नीली=नीलीरसः,-(नीला रंग)।

एको ग्रह इति। यदि मे गृह्णन्ति न तत्पुनः परित्यजन्ति–इत्याशयः॥२८३॥

हरस्य=शम्भोः, गले–यद्गरलं, तच्च, तमालश्च=तापिच्छश्च, ताभ्यां समा भाः= कान्तिर्यस्य तम्,–हरगलगरलतमालसमप्रभं=गाढनीलवर्णं, तं=शृगालम्। अपूर्वम्=अदृष्टपूर्वं। सत्त्वं=जन्तुभेदम्। विचेष्टितं=स्वभावः। पौरुषं=पराक्रमः। तस्य–तं, प्राज्ञः=विद्वान्। श्रियं=कल्याणम्॥ २८४॥

अहं ब्रह्मणाऽद्य स्वयमेव सृष्ट्वाऽभिहितः–'यच्छ्वापदानां मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति, तत्त्वं मयाऽद्य सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्त ककुद्रुमाभिधः, ततो गत्वा क्षितितले तान्सर्वान्परिपालय' इति। ततोऽहमत्रागतः। तन्मम च्छत्रच्छायायां सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम्। अहं ककुद्रुमो[1] नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः। तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुरःसराः श्वापदाः–'स्वामिन्! प्रभो! समादिश'–इति वदन्तस्तं परिवव्रुः।

अथ तेन सिंहस्याऽमात्यपदवी प्रदत्ता। व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम्। द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकार[2]। वृकस्य द्वारपालकत्वम्। ये चात्मीयाः शृगालास्तैः सहाऽऽलापमात्रमपि न करोति। शृगालाः सर्वेऽप्यर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारिताः।

एवं तस्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान्व्यापाद्य तत्पुरतः प्रक्षिपन्ति। सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां प्रविभज्य तान् प्रयच्छति।

एवं गच्छति काले कदाचित्तेन सभागतेन[3] दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि। तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान्।

अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य 'शृगालोऽय'मिति मत्वा

श्वापदा=सिंहादयो मृगा। अभिहित=उक्त। श्वापदप्रभुत्वे=सर्वमृगाधिपत्ये। छत्रच्छायाया=ममाधिपत्ये। त्रैलोक्ये=स्वर्गभूपातालेषु त्रिष्वपि लोकेषु राजाहं सवृत्त इति सम्बन्ध। समादिश=आज्ञापय यत्कर्त्तव्यम्। परिवव्रु=समन्ततस्तमावृत्य निषेदु। तेन=ककुद्रुमेन। शय्यापालत्व=रात्रिरक्षकत्वम्। आत्मीया स्वजातीया। प्रभुधर्मेण=स्वामित्वेन। तान्=मृगान्। प्रयच्छति=ददाति। सभागतेन=सर्वश्वापदमण्डलपरिगतेन। पुलकिततनु=रोमाञ्चितशरीर। तारस्वरेण=उच्चै। विरोतुं=शब्दं कर्त्तुम्। तारस्वरं=दीर्घ शृगालशब्दं। मिथ=

१ 'चण्डरवाभिध'। २ 'स्थगिकाधिकारः'=पान की डिब्बी देना। ३ 'आस्थानगतेन'। पाठा०

सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः-भोः! वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन! 'तद्वध्यताम्'-इति।

सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छँस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि-'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन-' इति।

तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक! कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धिः?।' स आह-'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत्प्रभाते पिङ्गलकं वधिष्यामि, तदत्रैष प्रत्ययः,-प्रभातेऽवसरवेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताऽधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति, एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्'।

-इति कथयित्वा सञ्जीवकसकाशं गतस्तं प्रणम्योपविष्टः। सञ्जीवकोऽपि सोद्वेगाकारं मन्दगत्या समायान्तं तमुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच-'भो मित्र! स्वागतं, चिराद्दृष्टोऽसि? अपि शिवं भवतः?, तत्कथय येनाऽदेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि?।

उक्तञ्च—ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः॥ २८५॥

दमनक आह-'भोः! कथं शिवं सेवकजनस्य?।
सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम्।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां-ये राजसेवकाः॥ २८६॥

परस्पर। वाहिता=भृत्यत्व कारिता। क्षुद्रशृगालेन=जम्बुकाधमेन। स=शृगाल। तत्=सिंहादिवाक्यम्।

प्रत्यय=विश्वासजनकं प्रमाणम्। स.=सञ्जीवक। अत्र=अस्मिन् मद्वचने। 'प्रत्यय'-इत्यस्य यदितिशेष। अवसरवेलायाम्=राजदर्शनोचिते राजसभासमये ('दर्बार' मे)। आरक्तमुखनयन=ईषद्रक्तमुखलोचन। स्फुरिताधर=कम्पमानाऽधरोष्ठ। दिशोऽवलोकयन्=शून्यदृष्टिरितस्ततो विलोकयन्। सोद्वेगाकार=व्याकुल। ('घबडाया हुआ')। शिव=कल्याणम्। अदेयमपि=दातुमयोग्यमपि। विवेकज्ञा=उचितानुचितज्ञा। सुहृद=सज्जना, मित्राणि, बान्धवाश्च॥ २८५॥

तथा च—

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥
तावज्जन्माऽपि दुःखाय ततो दुर्गतता सदा ।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो ! दुःखपरम्परा ॥ २८८ ॥
जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयन्ते[1] किल भारते ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ २८९ ॥
नाश्नाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते ।
न[2] निःशङ्कं वचो[3] ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति ? ॥ २९० ॥
सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम् ।
स्वच्छन्दं चरति श्वाऽत्र, सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥
भूशय्या ब्रह्मचर्यञ्च कृशत्वं लघुभोजनम् ।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥

सम्पत्तय =सम्पद । परायत्ता =पराधीना । अनिर्वृतम्=सुखशून्यम् । मूढै सेवकैर्यत्कृतं तत्पश्य–यत् शरीरस्वातन्त्र्यमपि हारितमिति–सेवकनिन्देयम् ।

तावदिति तावत्=प्रथमं,जन्मैव–अतिदु खफलम् , ततोऽपि दुर्गता=दारिद्र्य दु खाय, तत्रापि यदि परसेवया वृत्ति =जीवन, तर्हि महतीयं दु खसन्तति-रित्यर्थ ॥ २८८ ॥

भारते=महाभारताख्ये इतिहासे । प्रवासी=सदा परदेशे निवसन् ॥२८९॥

स्वेच्छया–औत्सुक्यात्=औत्कण्ठ्यात् । विनिद्र =विगतनिद्र । अपूर्णनिद्र एव कार्यभारान्मध्य एव खण्डितनिद्रो जागर्त्तीत्याशय । अत्र=संसारे । जीवति= प्राणधारण करोति । यद्वा काकुरियं–कि सेवकोऽपि जीवति ?' नैव, मृततुल्य एवायमित्याशय ॥ २९० ॥

सेवेति । 'सेवा श्ववृत्ति'रिति यैर्मन्वादिभिरुक्तं तैर्मिथ्यैवोक्तं, यत श्वा तु स्वतन्त्रश्चरति, परं सेवकस्तु तदपि स्वातन्त्र्य न लभते, परशासनादेव प्रचलति–इात महदनयोर्वैषम्यमिति भाव ॥ २९१ ॥ भूमिशय्यादिकं सर्व सेवकस्य

१ 'व्यासेन परिकीर्तिता' । २ 'आहरन्नपि न स्वस्थ' इति पा० । ३ 'वक्ति न' स्वेच्छया किञ्चित्सेवकोऽपीह जीवति ॥" पा० ।

शीतातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।
धनाय तानि चाऽल्पानि यदि धर्माय, मुच्यते ॥ २९३ ॥
मृदुनाऽपि सुवृत्तेन सुमिष्टेनापि हारिणा ।
मोदकेनापि किं ? तेन निष्पत्तिर्यस्य सेवया ॥ २९४ ॥

सञ्जीवक आह-'अथ भवान्किवक्तुमनाः ?' सोऽब्रवीत्-मित्र ! सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तुं न युज्यते । उक्तञ्च-

यो मन्त्र स्वामिनो भिन्द्यात्साचिव्ये संनियोजितः ।
स हन्ति नृपकार्यं तत्स्वयं च नरकं व्रजेत् ॥ २९५ ॥
'येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपते' ।
तेनाऽशस्त्रवधस्तस्य कृत' इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः, यतस्त्वं मम वचनेनाऽत्र राजकुले विश्वस्तः प्रविष्टश्च । उक्तञ्च ।

'विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन ।
तस्य हत्या तदुत्था सा' प्राहेदं वचनं मनुः ॥ २९७ ॥

यतिना तुल्यमेव परं यतिर्धर्माय सर्वमेतत् करोति, सेवकस्तु-परारा धनरूपाय पापायेति पाप-पुण्याभ्यामेव तयोर्भेद इति भाव ॥ २९२ ॥ धनाय=धनार्थं सेवामाचरन् सेवक -यानि शीतातपादिकष्टानि सहते तानि कष्टानि यदि धर्माय=धर्मोपार्जनार्थं सहते, तर्हि तत्तप प्रभावात्सद्यो मुक्त एव स्यात् । परन्तु तादृशं कष्टं तपो धनाय सेवमानोऽपि न यथेच्छधनं लभते इति महती विडम्बनेत्याशय ॥ ॥ २९३ ॥ सुवृत्तेन=गोलाकारेण, सुशीलेन च । हारिणा=मनोहरेण । मोदकेन= आनन्दप्रदेन धनेन, लड्डुकेन च । किं=किं फलं, यस्य निष्पत्ति=प्राप्ति ॥२९४॥

सचिवानाम्=अस्मद्विधानाम्[1] (दमनको हि सिंहसचिव इति भाव) । येन सचिवेन=मन्त्रिणा । यस्य=राज्ञ । तेन=मन्त्रिणा । तस्य=राज्ञ । अशस्त्रेति । शस्त्रप्रयोगं विनापि, वध =मारणमिव कृतम् । तत्कार्यनाशादित्यर्थ ॥ २९६ ॥ कृत =कर्त्तुमारभ्यते । मन्त्रभेदं करोति-यत इति । विश्वस्त =मद्वचने विश्वासं कृत्वैव । यस्य-विश्रम्भात्=विश्वासात् । तदुत्था=तद्वधजन्या । तस्य=यस्य वचसि विश्वासं कुर्वन्स वध प्राप्तस्तस्य ॥

---

१ 'यदि धर्मान्न मुच्यते' इति मुद्रितपाठस्तु भ्रष्ट एव ।

तत्त्वोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः । कथितं चाऽद्यानेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया यत्-'प्रभाते सञ्जीवकं हत्वा समस्तमृग-परिवारं चिरात्तृप्तिं नेष्यामि ।' ततः स मयोक्तः-'स्वामिन्! न युक्तमिदं यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते । उक्तञ्च—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति ।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित्सुहृद्द्रुहः ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाऽहं सामर्षेणोक्तः-'भो दुष्टबुद्धे! सञ्जीवकस्ताव-च्छष्पभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं वैरमिति कथं रिपुरु-पेक्ष्यते ? । तस्मात्सामादिभिरुपायैर्हन्यते । न च हते तस्मिन्दोषः स्यात् । उक्तञ्च—

दत्त्वाऽपि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता ।
अन्योपायैरशक्यो यो, हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥
कृत्याऽकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः ।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदित, अथ यत्ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व'—इति ।

चतुष्कर्णतया=केवलमेकाकिनो ममाग्रे । चिरादिति । सञ्जीवकसम्बन्धात्-चिरमसन्तुष्टं श्वापदकुलमिदानीं तृप्तिं नेष्यामीत्यर्थ । स=पिङ्गलक । मया=दमन-केन । मित्रद्रोहेण=सुहृद्भूतसञ्जीवकवधचिन्तनादिना । तदर्हेण=ब्रह्महत्यापाप-नाशकेन । विचीर्णेन=आचरितेन, प्रायश्चित्तेन-शुध्यति । न कथञ्चित्सुहृद्द्रुह =मित्र-द्रोही कथमपि न शुध्यतीति सम्बन्ध । 'द्रुह' इति-इगुपधज्ञे'तिकप्रत्ययान्त ॥२९८॥

सामर्षेण=सक्रोधेन । रिपु =शत्रु सञ्जीवक । सामादिभि =कपटपूर्णै-सान्त्ववचनादिभिरुपायैर्विश्वास्य । दत्त्वेति । यो रिपुरन्यैरुपायैर्न हन्तु शक्यते स कन्यका=स्वपुत्रीं दत्त्वापि हन्तव्य, जामातृभावमागतो जातविश्वासो रिपुर्हन्तव्य इत्याशय । हते=शत्रौ हते ॥ २९९ ॥ कृत्येति । क्षत्रियो युद्धे प्रवृत्त सन्, कृत्यमकृत्यं वा न मन्येत, येन केनाप्युपायेन शत्रुं हन्यादेवेत्यर्थ ।

अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुण वचनं श्रुत्वा मोहमुपागतः। अथ चेतनां लब्ध्वा सवैराग्यमिदमाह-'भोः! साध्विदमुच्यते—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणाऽस्नेहवान्भवति राजा।
कृपणाऽनुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥ ३०१ ॥

'अहं हि संमतो राज्ञो' य एवं मन्यते कुधीः।
बलीवर्दः स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जितः ॥ ३०२ ॥

वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम्।
वरं विपन्मनुष्याणां नाऽधिकारेण सम्पदः ॥ ३०३ ॥

तदयुक्तं मया कृतं,-यदनेन सह मैत्री विहिता। उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवादश्च, न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३०४ ॥

तथा च—

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥३०५॥

तद्यदि गत्वा तं प्रसादयामि, तथापि न प्रसादं यास्यति।

साम्प्रतम्=इदानीम्। वज्रपातदारुणं=वज्रपातवत्सुदुःसहं, मोहं=मूर्च्छाम्। 'सवैराग्य'मिति क्रियाविशेषणम्।

दुर्जनगम्याः=दुष्टजनानुरक्ता। धनं=लक्ष्मी। कृपणानुसारि=कृपणगामि। गिरिदुर्गवर्षी=निष्फलं गिरिदुर्गेषु वर्षति, न सस्यान्वितेषु क्षेत्रेषु-इति भाव ॥३०१॥ बलीवर्द=वृषभ, मूर्खत्वात्। विषाणपरिवर्जित=शृङ्गरहित ॥ ३०२ ॥ भैक्ष्य=भिक्षाटनम्। भारोपजीवनम्=भृतिकर्म। विपत्=दारिद्र्यादिना क्लेश। अधिकारेण=राजसेवया ॥३०३॥ अनेन=सिंहेन। वित्तं=धनम्, मैत्री विवादश्च समानैरेव करणीय। पुष्टविपुष्टयो=धनिनिर्धनयो, बलिनिर्बलयोश्च सख्यं विवादश्च न युक्त इत्यर्थ ॥३०४॥ तुरगा=अश्वा। समानं शीलं व्यसनञ्च येषां तेषु=तुल्यस्वभावाचारेषु, सख्यम्=मैत्री। 'युज्यते' इति शेष ॥ ३०५ ॥ तं=सिंहम्।

---

१ 'अपात्रभृद्भवति राजा'। पा०। २ 'गिरिजलधिवर्षी'। ३ 'व्याधि' पा०।

उक्तञ्च—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति ध्रुवं स तस्याऽपगमे प्रशाम्यति।
अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्कथं नरस्तं परितोषयिष्यति ? ॥३०६॥

अहो! साधु चेदमुच्यते—

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
सेवासंव्यवहारतत्त्वविदुषां द्रोहच्युतानामपि।
व्यापत्तिः स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवाऽवनिपतेः सेवा सदाऽऽशङ्किनी॥३०७॥

तथा च—

भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति किञ्चि-
च्छाठ्यादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥ ३०८ ॥

प्रसादयामि=अनुनयादिभि प्रसन्नं करोमि। प्रसादं=प्रसन्नताम्। निमित्तं=कारणम्। उद्दिश्य=अनुसन्धाय। तस्य=कोपकारणस्य। अपगमे=नाशे। प्रशाम्यति=प्रसीदति। कथमिति। न कथमपीत्यर्थ। सिंहश्चाऽकारणद्वेषीति भाव ॥ ३०६ ॥

परेति। परहितकारिव्यापारप्रसक्ताना, सेवाकर्ममर्मज्ञानाम्, सर्वभूतहितैषिणा, स्खलितान्तरेषु=अल्पीयस्यामपि त्रुटौ। व्यापत्ति=विपत्ति। नियता=निश्चितैव। सिद्धि=सम्पदादिलाभस्तु, भवेद्वा, न वा भवेत्—न निश्चय। अम्बुपतेरिव=समुद्रस्येव ('भक्ताना' मित्यादिविशेषणानि समुद्रपक्षेऽपि योज्यानि)। अवनिपते=भूतपतेरपि। सेवा=अधिकार। सदाशङ्किनी=शङ्कातङ्ककलङ्कितैवेत्यर्थ ॥ ३०७ ॥

भावस्निग्धैरुपकृतमपि=आराधितमपि, राज्ञा किञ्चिन्मन. उपकारिणि द्वेष्यतामेव=द्वेषमेव धत्ते। शाठ्यादन्यैरपकृतमपि च किञ्चिद्राज्ञा मन. प्रीति यातीत्यर्थ। 'द्वेषमायाति' इति तु युक्त पाठ। यद्वा-लोके-भावस्निग्धै'=स्नेहास्कन्नमानसैर्भृत्यै। उपकृतमपि अविगणय्य राजा द्वेषपरो भवति, केषाञ्चित् अनुपकृतमपि प्रीयये एव राज्ञो भवति। दुराराधनीयत्वाद्राज्ञश्चित्तानामित्यर्थ ॥ ३०८ ॥

---

१ 'स्निग्धैरेव ह्युपकृतिशतैर्द्वेष्यतामेति कश्चिच्छाठ्यादन्यैरपकृतिशतैः प्रीतिमेवोपयाति। २. 'लोके साक्षादन्यै'रिति पा०। ३ 'प्रीतये' इति पाठा०।

तत्परिज्ञातं मया यत्प्रसादमसहमानैः समीपवर्तिभिरेष पिङ्गलकः प्रकोपितः, तेनायं ममाऽदोषस्याप्येवं वदति । उक्तञ्च—

प्रभोः प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवकाः ।
सपत्न्य इव सङ्क्रुद्धा सपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

भवति चैव-यद्गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनानां न प्रसादो भवति । उक्तञ्च—

गुणवत्तरपात्रेण च्छाद्यन्ते गुणिनां गुणाः ।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥

दमनक आह-'भो मित्र ! यद्येवं तन्नास्ति ते भयम्, प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैस्तत्र वचनरचनया प्रसादं यास्यति ।

स आह-'भोः ! न युक्तमुक्तं भवता । लघूनामपि दुर्जनानां मध्ये वस्तुं न शक्यते । उपायान्तरं विधाय ते नूनं घ्नन्ति ।

उक्तञ्च—बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः ।
कुर्युः कृत्यमकृत्यं वा उष्ट्रे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥

दमनक आह—कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

११. उष्ट्रकाकादिकथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म ।

प्रसाद=मयि राजकृपाम् । अदोषस्यापि-'मम्बन्धे' इति शेष । सपत्न्याः सुकृतैरपि=विनयपरचित्तानुवर्त्तनादिगुणैरपि-संक्रुद्धा =सपत्न्य इव—राजभृत्याः साधोरपि राजसेवकस्योन्नतिं राजप्रसादञ्च न सहन्ते-इत्याशय । सपत्न्यो हि (स्वसपत्नीषु स्वामिप्रसादं दृष्ट्वा) गुणवतीष्वपि स्वसपत्नीषु द्रोहमेवाचरन्ति न स्नेहम् ॥ ३०९ ॥ गुणहीनानाम्-'उपरि राज्ञ' इति शेष । गुणवत्तरपात्रेण= उत्कृष्टगुणशालिना । सामान्यगुणिना गुणा छाद्यन्ते=अभिभूयन्ते । यतो रात्रौ दीपकान्तिर्भाति, न प्रभाते रवावुदिते सति इति भाव ॥ ३१० ॥

यद्येव=यदि त्वं न दोषी । वचनरचनया-वाक्चातुर्यादिगुणैर्मुग्ध , प्रसाद= प्रसन्नताम् । ते=दुर्जना । मयोपजीविनः=कूटकपटरचनाकुशला , दाम्भिकाः । कृत्यम्=करणीयमुचितम् । अकृत्यम्=अनुचितमपि ॥ ३११ ॥ वनोद्देशे=वन-

तस्य चाऽनुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायवः सन्ति । अथ कदाचित्तैरितस्ततो भ्रमद्भिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नामोष्ट्रो दृष्टः । अथ सिंह आह–'अहो ! अपूर्वमिदं सत्त्वं, तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं ग्राम्यं वा' ?–इति । तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भोः स्वामिन् ! ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्यः, तद्व्यापाद्यताम् ।' सिंह आह–'नाऽहं गृहमागतं हन्मि । उक्तञ्च—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥ ३१२ ॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्सकाशमानीयतां–येनाऽस्यागमनकारणं पृच्छामि । अथाऽसौ सर्वैरपि विश्वास्याऽभयप्रदानं दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानीतः, प्रणम्योपविष्टश्च । ततस्तस्य पृच्छतस्तेनाऽऽत्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशसमुद्भवो निवेदितः ।

सिंहेनोक्तम्–'भोः क्रथनक ! मा त्वं ग्रामं गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहनकष्टभागी भूयाः, तदत्रैवाऽरण्ये निर्विशङ्को मरकतसदृशानि शष्पाग्राणि भक्षयन्मया सह सदैव वस ।' सोऽपि 'तथा'–इत्युक्त्वा तेषां मध्ये विचरन्न कुतोऽपि भयमिति सुखेनाऽऽस्ते ।

अथाऽन्येद्युर्मदोत्कटस्य महागजेनाऽरण्यचारिणा सह युद्धमभवत् । ततस्तस्य दन्तमुसलप्रहारैर्व्यथा सञ्जाता । व्यथितः कथमपि प्राणैर्न वियुक्तः ।

अथ शरीराऽसामर्थ्यान्न कुत्रचित्पदमपि चलितुं शक्नोति ।

प्रदेशे । द्वीपिवायसगोमायव =व्याघ्रकाकजम्बुका । सार्थभ्रष्ट =वणिग्जनसमूहभ्रष्ट । आरण्यकं=वनचारि । ('जङ्गली') । विश्वस्तं=विश्वासमुपगतम् । अकुतोभयम्=निर्विशङ्कम् ॥ ३१२ ॥

अस्य=उष्ट्रस्य । असौ=उष्ट्रः । सर्वै =वायसादिभि । तस्य=सिंहस्य । सार्थभ्रंशसमुद्भव =वणिक्सङ्घवियोगमूल । भूय.=पुनरपि । शष्पाग्राणि=घासाङ्कुरान् । इति=इत्यस्मात्कारणात् । सिंहरक्षितत्वेन निर्भय । अरण्यचारिणा=वन्येन । तस्य=सिंहस्य । गजस्य दन्ता एव मुसला, तैर्ये प्रहारा =आघाता, तै. । कथमपि=आयु शेषादेव । प्राणैर्न वियुक्त.=न मृत । शरीराऽसाम

तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः।

अथ तान्सिंहः प्राह–'भोः! अन्विष्यतां कुत्रचित्किञ्चित्सत्त्वं, येनाहमेतामपि दशां प्राप्तस्तद्धत्वा युष्मद्भोजनं सम्पादयामि।'

अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धाः, यावन्न किञ्चित्सत्त्वं पश्यन्ति तावद्वायसशृगालौ परस्परं मन्त्रयतः। शृगाल आह–'भो वायस! किं प्रभूतभ्रान्तेन, अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्तस्तिष्ठति, तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः।

वायस आह–'युक्तमुक्तं भवता, परं स्वामिना तस्याऽभयप्रदानं दत्तमस्ति–'न वध्योऽय'मिति।' शृगाल आह–'भो वायस! अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये यथा स्वामी वधं करिष्यति। तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चाऽऽगच्छामि।'

एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः। अथ सिंहमासाद्येदमाह–'स्वामिन्! समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः, न किञ्चित्सत्त्वमासादित, तत्किं कुर्मो वयम्? संप्रति वय बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः। देवोऽपि पथ्याशी वर्तते, तद्यदि देवादेशो भवति तदा क्रथनकपिशितेनाऽद्य पथ्यक्रिया क्रियते।'

अथ सिंहस्तस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिदमाह–'धिक्पापाधम! यद्येवं भूयोऽपि वदसि ततस्त्वां तत्क्षणमेव

थ्यातुं=चेष्टाया शरीरस्यासमर्थत्वात्। अप्रभुत्वेन=प्रभुप्रसादालाभेन, अशक्तत्वाच्च। भेजु=प्रापु। एतामपि=क्षीणामपि। तत्=सत्त्वम्। मन्त्रयत=विचारं चक्रतु। प्रभूतेन=बहुलेन। भ्रान्तेन=भ्रमणेन। प्रभोर्विश्वस्त=राजानुगृहीत। प्राणधारणा=शरीरयात्राम्। परं=किन्तु। वधं=क्रथनकवधं। पथ्याशी=पथ्यभोजी। ('पथ्य लेते हैं')। पिशितेन=रुधिरेण। पथ्यक्रिया=भवता पथ्यस्य सम्पादनम्।

१. 'अस्ति'। २ 'अनुमन्यते' पा०।

वधिष्यामि, यतो मया तस्याऽभयप्रदानं प्रदत्तं, तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि ? । उक्तञ्च—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुधः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥ ३१३ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह-स्वामिन्! यद्यभयप्रदानं दत्वा वधः क्रियते तदैष ते दोषो भवति, पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो जीवितव्यं स्वयमेव प्रयच्छति, ततो न दोषः। यद्यदि स स्वयमेवात्मानं वधाय नियोजयति तदा वध्यः। अन्यथाऽस्माकं मध्यादेकतमो वध्य-इति।' यतो देवपादाः पथ्याशिनः, क्षुन्निरोधादन्यादृशीं दशां यास्यन्ति, तत्किमेतैः प्राणैरस्माकं, ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति। अपरं-यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति तदा पश्चादप्यस्माभिर्वह्निप्रवेशः कार्य एव। उक्तञ्च—

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानं स सर्वयत्नैः परिरक्षणीयः।
तस्मिन्विनष्टे हि कुलं विनष्टं न नाभिभङ्गे ह्यरका वहन्ति ॥ ३१४ ॥

दारुण=क्रूरम । तस्य=कथनकस्य । प्रधानम्=उत्तमम् । एष दोष =विश्वस्तवधजं पापम् । स =उष्ट्र । जीवितव्य=प्राणान् । प्रयच्छति=समर्पयति । नियोजयति=ददाति । तत्=तदा । अन्यथा=यदि स्वयं न स आत्मान वधाय ददाति तदा । एकतम =एक कश्चित् । देवपादा =भवन्त । पूजायामत्र पादशब्दो वहुत्वञ्च । पथ्याशिन =अचिरनिर्मुक्तरोगा । क्षुन्निरोधात्=बुभुक्षानिरोधात् । अन्यादृशीम=अनिर्वचनीयाम्, क्षीणतराम् । एतै =अस्मदीयै । पश्चादपि=भवन्मरणानन्तरमपि । वह्निप्रवेश =स्वामिवियोगादग्नौ पात । अनिष्ट=मरणम् । प्रधान=मुख्य । तस्मिन्=प्रधाने । आशु=शीघ्रमेव । नश्येत्=विलय गच्छेत् । नाभिभङ्गे=रथचक्रमध्यस्थपिण्डिकाभङ्गे । अरका =रथाङ्गदण्डा । अरा एव-अरका । स्वार्थिक कन् । 'अरो ना तु चक्रविष्कम्भदारुणी'ति केशव ।

---

१ 'भक्षणीय ' इति पा० । २ 'अन्याम्' । ३ 'पृष्ठतोऽपि' । ४ 'प्रधान ' । ५ 'सदैव यत्नेन स रक्षणीय ' । ६ 'तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते' इति, 'कुल विनश्येत्' इति च पा० ।

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह-'यद्येवं तत्कुरुष्व यद्रोचते (इति)। तच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तानाह-'भोः! स्वामिनो महत्यवस्था वर्तते, तत्किं पर्यटितेन? तेन विना कोऽत्रास्मान्रक्षयिष्यति?।

तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात्परलोकं प्रस्थितस्य स्वय गत्वाऽऽत्मशरीरदानं कुर्मः। येन स्वामिप्रसादस्याऽनृणतां गच्छामः।

उक्तञ्च—आपदं प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यतः।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत्॥ ३१५॥

तदनन्तरं ते सर्वे वाष्पपूरितदृशो मदोत्कटं प्रणम्योपविष्टाः तान्दृष्ट्वा मदोत्कट आह-'भोः! प्राप्तं दृष्टं वा किञ्चित्सत्त्वम्?

अथ तेषां मध्यात्काकः प्रोवाच-'स्वामिन्! वयं तावत्सर्वत्र पर्यटिताः, परं न किंचित्सत्त्वमासादितं, दृष्टं वा। तदद्य मां भक्षयित्वा प्राणान्धारयतु स्वामी, येन देवस्याऽऽश्वासनं भवति, मम पुनः स्वर्गप्राप्तिरिति। उक्तञ्च—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वितः।
परं स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम्॥ ३१६॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह-'भोः! स्वल्पकायो भवान्, तव भक्षणात्स्वामिनस्तावत्प्राणयात्रा न भवति, अपरो दोषश्च तावत्समुत्पद्यते। उक्तञ्च—

काकमांसं शुनोच्छिष्टं[1] स्वल्पं तदपि दुर्लभम्।
भक्षितेनाऽपि किं तेन? तृप्तिर्येन न जायते॥ ३१७॥

'अरो रथाङ्गदण्डेऽपी'ति कोश। वहन्ति=प्रचलन्ति॥ ३१४॥ महती=अतिविपन्ना। क्षुद्रोगात्=बुभुक्षारूपरोगात्। प्रस्थितस्य=गन्तुमुद्युक्तस्य। आदिकर्मणि क्त। प्राप्तं=लब्धम्। आश्वासन=शरीरधारणम्। 'आप्यायनम्' 'आप्यायना' इति च क्वचित् पाठ। स्वाम्यर्थे=प्रभोरर्थे। स -जरामरणवर्जितं=जरामृत्युविवर्जितं। ब्रह्मण -पर पद=ब्रह्मलोकम॥ ३१६॥ दोष =अनौचित्यम।

---

1 'तथोच्छिष्टम्'।

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता, गतं चाऽनृण्यं भर्तृपिण्डस्य, प्राप्तश्चोभयलोके साधुवादः। तदपसराऽग्रतः, येनाऽहमपि स्वामिनं विज्ञापयामि'। तथाऽनुष्ठिते शृगालः सादरं प्रणम्य प्रोवाच—'स्वामिन्! मां भक्षयित्वाऽद्य प्राणयात्रां विधाय ममोभयलोकप्राप्तिं कुरु। उक्तञ्च—

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः' ॥ ३१८ ॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—'भोः! साधूक्तं भवता। पुनर्भवानपि स्वल्पकायः, स्वजातिश्च—नखायुधत्वादभक्ष्य एव। उक्तञ्च—

नाऽभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि।
विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

तद्दर्शितं त्वयाऽऽत्मनः कौलीन्यम्। (अथवा) साधु चेदमुच्यते—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति सङ्ग्रहम्।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥

तदपसराग्रतः, येनाहमपि स्वामिनं विज्ञापयामि'। तथानुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह—स्वामिन्! क्रियतामद्य मम प्राणैः प्राणयात्रा। दीयतामक्षयो वासः स्वर्गे। मम विस्तार्यतां

काकमांसमपि—शुना=कुक्कुरेण। उच्छिष्टं=भुक्त्वा परित्यक्तम् ॥ ३१७ ॥

भर्तृपिण्डस्य=राजान्नस्य। गतं=लब्धम्। ('नमकहलाल')। उभयलोके=इह लोके, परलोके च। साधुवाद='साधु काकेन भाषित'मिति प्रशंसा। अग्रत अपसर=दूरीभव। ('आगेसे हटो')। यत —धनै, अर्जिता =उपार्जिता भृत्याना प्राणा, अतः स्वाम्यायत्ता =राजाधीना। तेषा=प्राणाना शरीरस्य च, ग्रहणसम्भव =भृत्यवधजन्य। 'ग्रहणसम्भवे'इति पाठान्तरम्। न दोषोऽस्ति=राज्ञो दोषो नास्ति ॥ ३१८ ॥ द्वीपी=व्याघ्र। पुन =किन्तु। नाभक्ष्यमिति। यदा तदपि=अभक्ष्यमपि। विशेषात्=विशेषत। स्तोकं=यदि स्वल्पं भवेदिति सम्बन्ध ॥ ३१९ ॥ आदिमध्यावसानेषु=सम्पत्सु विपत्सु च। विक्रिया=वि-

१ 'प्राप्ता लोकद्वयेऽपि साधुता'। २ 'विज्ञपयामि'। ३ 'तेन न'पा०।

क्षितितले प्रभूततरं यशः । तन्नात्र विकल्पः कार्यः । उक्तञ्च—

मृतानां स्वामिनः कार्ये भृत्यानामनुवर्तिनाम् ।
भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास-'एतैस्तावत्सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि प्रोक्तानि न चैकोऽपि स्वामिना विनाशितः । तदहमपि प्राप्तकालं विज्ञापयामि, येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति । इति निश्चित्य प्रोवाच-'भोः ! सत्यमुक्तं भवता, परं भवानपि नखायुधः, तत्कथं भवन्तं स्वामी भक्षयति ? ।

उक्तञ्च—मनसाऽपि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।
भवन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च ॥३२२॥

तदपसराऽग्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि । तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच-'स्वामिन् ! एते तावदभक्ष्या भवतां, तन्मम प्राणैः प्राणयात्रा विधीयतां, येन ममोभयलोकप्राप्तिर्भवति । उक्तञ्च—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः ।
यां यान्ति प्रोज्झितप्राणाः स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥ ३२३ ॥

एवमभिहिते सिंहानुज्ञाताभ्यां शृगालचित्रकाभ्यां विदा-

कारं, भावान्तरञ्च॥३२०॥ विकल्पः=संशयः । अनुवर्त्तिनाम्=आज्ञापालकानाम्।३२१।

शोभनानि=प्रशंसापराणि चाटूनि प्रार्थनावाक्यानि, प्राप्तकालम्=अवसरोचितम् । समर्थयन्ति=प्रशंसन्ति । 'विघटयन्ती'ति पाठे खण्डयन्तीत्यर्थः । भवान्=व्याघ्रः ।

मनसापीति । तानि=अनिष्टानि । परत्र=परलोके च ॥ ३२२ ॥ यज्वानः=यज्ञकर्त्तारः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवा'नित्यमरः । प्रोज्झितप्राणाः=त्यक्तप्राणाः, मृताः ॥ ३२३ ॥

---

१ 'स्थितानाम्' । २ 'त्रयोऽपि विघटयन्ता'ति लिखितपुस्तकपाठो मनोहरः ।
३ 'युक्तम्' । ४ 'तस्य लोकद्वयं नास्ति भवेच्चाशुचिकीटकः' ।
५ 'स्वाम्यर्थे प्रोज्झितप्राणा या गतिं यान्ति सेवकाः ।' ६ 'ताभ्यां' पा० ।

रितोभयकुक्षिः, काकेनोत्पाटितनयनः क्रथनकः प्राणानत्याक्षीत्। ततश्च तैः क्षुद्भार[1]पीडितैः सर्वैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'बहवः पण्डिताः क्षुद्राः'-इति। ❀

तद्भद्र! क्षुद्रपरिवारोऽयन्ते राजा मया सम्यग्ज्ञातः, सतामसेव्यश्च। उक्तञ्च—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नाऽनुरज्यते।
यथा गृध्रसमासन्नः कलहंसः समाचरेत्॥ ३२४॥

तथा च—

गृध्राकारोऽपि सेव्यः स्याद्धंसाकारैः सभासदैः।
हंसाकारोऽपि सन्त्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः॥ ३२५॥

तन्नूनं ममोपरि केनचिद्दुर्जनेनायं प्रकोपितः, तेनैवं वदति। अथवा भवत्येतत्। उक्तञ्च—

मृदुना सलिलेन ह[2]न्यमानान्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि।
उपजापविदां च कर्णजापैः किमु चेतांसि मृदूनि मानवानाम्?॥३२६॥

चित्रक =व्याघ्रः। विदारितोभयकुक्षि =विदारितोदरपार्श्वयुगल। क्षुद्भार-पीडितै =क्षुधापीडितै। पाठान्तरे-क्षुद्रपण्डितै -नीचकर्मपटुभिरित्यर्थ। क्षुद्र-परिवार =क्षुद्रानुचरपरिवृत। अशुद्धा -प्रकृतय =अमात्यादय परिवारा यस्यासौ -अशुद्धप्रकृति, तस्मिन्=नीचपरिवृते। 'गृध्रासन्नो हंसो हि गृध्रवदेव समाचरति' सङ्गवशात्, एवं नीचपरिवृतो राजा स्वयं साधुरपि न प्रजारञ्जक इति हसो यथा तादृशो दूरत परिहार्यो भवति, तथा राजाऽपि दुष्टगणपरिवृतस्त्याज्य एवेत्याशय॥ ३२४॥

गृध्राकारः=दुष्टस्वभाव। हसाकारै =सद्भि। सभासदै =अमात्यादिवर्ग -उपलक्षित -सेव्य। तै =अमात्यादिभि॥ ३२५॥ मृदुनेति। अवघृष्यन्ति= हीयन्ते। (गड्ढे पड जाते है)। उपजापविदा=भेदकर्मकुशलाना। कर्णजापै = निन्दावाक्यै॥ ३२६॥

---

१. 'क्षुद्रपण्डितै.' पा०। २ 'खन्यमानान्यवपुष्यन्ती'तिलिखितपुस्तकपाठ.।

कर्णविषेण च भग्नः किं किं न करोति बालिशो लोकः ? ।
क्षपणकतामपि धत्ते ! पिबति सुरां नरकपालेन ! ॥ ३२७ ॥'

अथवा साध्विदमुच्यते—

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि
यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः ।
कोऽप्येष एव पिशुनोऽस्त्यमनुष्यधर्मा
कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥ ३२८ ॥'

तथा च—

अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः ।
कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहृद्भावात्पृच्छामि ।' दमनक आह–'तद्देशान्तरगमनं युज्यते, नैवंविधस्य कुस्वामिनः सेवां विधातुम् । उक्तञ्च—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥ ३३० ॥

सञ्जीवक आह–'अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते, न चान्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति । उक्तञ्च—

कर्णविषेण=कर्णे दुष्टैः कथितेन दुर्वाक्यजालेन । (ताना) । भग्नः= वञ्चितः, विकारं प्राप्तश्च, (बिगडा हुआ') । बालिशः=मूर्खः । क्षपणकता= नग्नता-धत्ते, नरकपालेन मद्यञ्च पिबति, परप्रतारितो मूर्खलोकः । अनेन जैन-कापालिकमतमपि कटाक्षितम् ॥ ३२७ ॥

पादेति । पादताडितो दण्डाहतश्च सर्पो दशति । परः पिशुनः=खलस्तु कोऽपि-अमनुष्यधर्मा=अलौकिकसामर्थ्यशाली-अस्ति यः-कर्णे-परम्=अन्यम् । अपरञ्च-समूलम्=सानुबन्धम् ॥ ३२८ ॥ खल एव भुजङ्गस्तस्य-खलभुजङ्गस्य= खलसर्पस्य । विपरीतः=विरुद्धः । वधक्रमः=मारणप्रकारः ॥ ३२९ ॥ सुहृद्भा-वात्=मित्रत्वात् ।'न सेवां विधातुं युज्यते' इत्यन्वयः ।

अवलिप्तस्य=मदोन्मत्तस्य । उत्पथप्रतिपन्नस्य=कुमार्गगामिनः । गुरोरपि

---

१. 'कर्णेऽपरं हन्त्यपरं' पा० ।

महतां योऽपराध्येत 'दूरस्थोऽस्मी'ति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हन्ति स हिंसकम् ॥ ३३१ ॥

तद्युद्धं मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्तञ्च—

न तान्हि तीर्थैस्तपसा च लोकान्स्वर्गैषिणो दानशतैः सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान् यान्ति रणेषु धीराः प्राणान्समुज्झन्ति हि ये सुशीलाः॥ ३३२॥

मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥

ललाटदेशे रुधिरं स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत्सोमपानेन समं भवेच्च सङ्ग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥३३४ ॥

तथा च—

होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै—
र्यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणैः सुविहितैः संप्राप्यते यत्फलम् ।
सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
पुम्भिस्तत्फलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥३३५॥

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—'युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं दृश्यते दुरात्मा, तद्यदि कदाचित्तीक्ष्णशृङ्गाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति—तन्महाननर्थः संपत्स्यते । तदेन भूयोऽपि स्वबुद्ध्या प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमनं करोति' । आह च—'भो मित्र ! सम्यगभिहितं भवता, (परं) किन्तु कः स्वामिभृत्ययो. सङ्ग्रामः ? । उक्तञ्च—

त्यागश्चेत्का वार्ताऽन्यस्येति भाव ॥ ३०— ॥ निर्वृति'=सुखम् । महतामिति । महतामपराध कुर्वन्—'अहं दूरे तिष्ठामि, स मे किमपकरिष्यती'ति—नाश्वसेत्=न हृष्येत् ॥ ३३१ ॥

नतानिति । स्वर्गैषिण =स्वर्गार्थिन । सुवृत्ते =विधिवदाचरितै , शोभनैराचारैश्च ॥ ३३२ ॥ एतौ—गुणौ=स्वर्ग , कीर्तिश्च ॥ ३३३ ॥ सोमपानेन समं=सोमयज्ञान्तर्विहितसोमरसपानेन तुल्यं । प्रदिष्ट=धर्मशास्त्रोक्तम् ॥ ३३४ ॥ चान्द्रायणादयो—व्रतविशेषा । आहवे=युद्धे । तत्क्षणात्=सद्य ॥ ३३५ ॥

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा नैवाऽऽत्मानं प्रकोपयेत्[१] ।
बलवद्भिश्च कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥

अन्यच्च—

शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा ॥ ३३७ ॥

सञ्जीवक आह—'कथमेतत् ?' । सोऽब्रवीत्—

१२. टिट्टिभ-समुद्र-कथा

कस्मिंश्चित्समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसतः स्म । ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त । अथासन्नप्रसवा सती सा टिट्टिभमूचे-'भोः कान्त ! मम प्रसव-समयो वर्तते, तद्विचिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानम्, येन तत्राऽहमण्डकविमोक्षणं करोमि ।'

टिट्टिभःप्राह-'भद्रे ! रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः, तदत्रैव प्रसवः कार्यः' । साह-'अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति, सा मत्त-गजेन्द्रानपि समाकर्षति, तद्दूरमन्यत्र किञ्चित्स्थानमन्विष्यताम् । तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभः प्राह भद्रे ! न युक्तमुक्तं भवत्या, का मात्रा समुद्रस्य यो मम प्रसूतिं दूषयिष्यति । किं न श्रुतं भवत्या

रुद्धा[२]ऽम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्भयदम्
मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः ॥३३८॥

बलवद्भिश्चेति । बलवद्भिस्तु=अधिकबलैरिति यावत् । शरच्चन्द्रप्रकाशता= शैत्य । शान्तिरिति यावत् । अधिकबलेन सह क्रोधो न कार्य, किन्तु शैत्य-मेवादरणीयम् । समानैरेव हि युद्धं सन्धिश्च युक्ताविति भाव ॥ ३३६ ॥

ऋतुसमयं=गर्भाधानसमयम् । टिट्टिभ =पक्षिभेद ('टिटिहरी') । प्रसव-समय =प्रसूतिकाल, वर्त्तते=सन्निहितो वर्त्तते । समुद्रवेला चरति=समुद्रजलमि-हायाति, ('ज्वार भाटा') । मात्रा=सामर्थ्यम् । दूषयिष्यति=अपहरिष्यति, प्रसूतिं=सन्ततिम् ॥ रुद्धाम्बरचरमार्गं=निरुद्धपक्षिमार्गं, व्यपगतधूमं=ज्वाला-

---

१ 'किलात्मान न कोपयेत्'पाठा.। २ 'ज्वालाशतरुद्धाम्बरमपगतधूम सदा महाभयदम्'।पा०।

मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रमं सुप्तमन्तकप्रतिमम् ।
यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ? ॥३३९॥
को मत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः ? ।
'प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तव' ॥३४०॥
प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।
गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति ? ॥ ३४१ ॥

तस्माद्विश्रब्धाऽत्रैव गर्भं मुञ्च । उक्तञ्च—

यः पराभवसन्त्रस्तः स्वस्थानं सन्त्यजेन्नरः ।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ? ॥ ३४२ ॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास-'अहो गर्वः पक्षिकीटस्यास्य, अथवा साध्विदमुच्यते—

उत्क्षिप्य टिट्टिभः पादावास्ते भङ्गभयाद्दिवः ।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ? ॥ ३४३ ॥

तन्मयाऽस्य प्रमाणं कुतूहलादपि द्रष्टव्यं, किं ममैषोऽण्डापहारे कृते करिष्यति ?' । इति चिन्तयित्वा स्थित. ।

अथ प्रसवानन्तरं प्राणयात्रार्थं गतायाष्टिट्टिभ्याः समुद्रो वेलाव्याजेनाण्डान्यपजहार ।

अथाऽऽयाता सा टिट्टिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे-'भो मूर्ख ! कथितमासीन्मया ते यत्समुद्रवेलयाऽण्डानां विनाशो भविष्यति, तद्दूरतरं व्रजाव । परं मूढतयाऽहङ्कारमाश्रित्य मम वचनं न करोषि । अथवा साध्विदमुच्यते—

मालिनम् ॥ ३३८ ॥ अन्तकप्रतिमं=मृत्युसदृशम् । अन्तकं=यमराजम् ॥३४०॥ प्रालेयलेशमिश्रे=तुषारकणसम्पर्कभीषणे, ("बर्फानी हवा") । कोऽपनयति=न कोपीत्यर्थः ॥ ३४१ ॥ विश्रब्धा=निश्चिन्ता । पक्षिकीटस्य=विहगापसदस्य । आस्ते=शेते । दिव =गगनस्य । भङ्गभयात्=पतनभयात् ॥ ३४३ ॥ प्रमाण=बलम् । प्राणयात्रार्थं=भोजनसामग्रीसञ्चयार्थम् । वेलाव्याजेन=जलवृद्धिमिषेण ।

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥ ३४४ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' । साऽब्रवीत्—

१३. काष्ठभ्रष्टकच्छपकथा

अस्ति कस्मिंश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छपः । तस्य च सङ्कटविकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीरमासाद्य तेन सहानेकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वाऽस्तमयवेलायां स्वनीडसंश्रयं कुरुतः। अथ गच्छता कालेऽनावृष्टिवशात्सरः शनैः शनैः शोषमगमत् । ततस्तद्दुःखदुःखितौ तावूचतुः–'भो मित्र ! जम्बालशेषमेतत्सरः सञ्जातं, तत्कथं भवान्भविष्यतीति व्याकुलत्वं नो हृदि वर्तते ।' तच्छ्रुत्वा कम्बुग्रीव आह–'भो ! साम्प्रतं नाऽस्त्यस्माकं जीवितव्यं, जलाभावात्, तथाप्युपायश्चिन्त्यतामिति । उक्तञ्च—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः ।
जाते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तर्त्तुमेव ॥३४५॥

अपरञ्च—

मित्रार्थे बान्धवार्थे च बुद्धिमान् यतते सदा ।
जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः ॥ ३४६ ॥

तदानीयतां काचिद् दृढरज्जुर्लघु काष्ठं वा । अन्विष्यतां च

न करोषि=नाकार्षा । वर्त्तमानसामीप्ये भूते लट् । 'न कृतवानसीति' परे पठन्ति। हंसजातीये=हंसजात्युत्पन्ने, हंसाविति यावत् । स्वनीडसंश्रय=स्वकुलाया-श्रयण, (नीड='घोंसला') । जम्वालशेषम्=पङ्कावशेषम् । 'निपद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इत्यमर । भविष्यति=प्राणान् धरिष्यति ।

विधुरे=विपत्तिकालेऽपि । स्थिति=विपत्तिविनाशम् । गतिमिति पाठान्तरम् । समुद्रे पोतभङ्गे=वहित्रनाशे जातेऽपि । तर्त्तुमेव=जले, पुनरपि वाणिज्यार्थं वा समुद्रगमनमेव । वाञ्छति=इच्छति, करोति च । धनञ्चोपार्जयतीत्याशय ॥ ३४५॥

मित्रार्थे इति । विपत्तिषु जातासु बुद्धिमान् मित्राद्यर्थे सुदृढ यतेतेत्यर्थः

प्रभूतजलसनाथं सरः। येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गृहीते सति युवां कोटिभागयोस्तत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य तत्सरो नयथ.।'

तावूचतुः-'भो मित्र! एवं करिष्यावः, परं भवता मौनव्रतेन स्थातव्यम्, नो चेत्तव काष्ठात्पातो भविष्यति।'

तथाऽनुष्ठिते गच्छता कम्बुग्रीवेणाऽधोभागव्यवस्थितं किंचित्पुरमालोकितं, तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्य सविस्मयमिदमूचुः-अहो! चक्राकारं किमपि पक्षिभ्यां नीयते, पश्यत! पश्यत!!

अथ तेषां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह-'भोः,! किमेष कोलाहलः?।' इति वक्तुमना अर्धोक्तिपतितः पौरैः खण्डशः कृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि-'सुहृदां हितकामानाम्-'इति ॥*॥

तथा च—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ ३४७ ॥

टिट्टिभ आह—कथमेतत्?। साऽब्रवीत्—

१४. अनागतविधात्रादिमत्स्यत्रयकथा

कस्मिंश्चिज्जलाशयेऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्भविष्यश्चेति त्रयो मत्स्याः प्रति वसन्ति स्म। अथ कदाचित्तं जलाशयं दृष्ट्वा-गच्छद्भिर्मत्स्यजीविभिरुक्तं यत्-'अहो! बहुमत्स्योऽयं ह्रदः, कदाचिदपि नास्माभिरन्वेषितः, तदद्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता, सन्ध्यासमयश्च संवृत्तः, ततश्च प्रभातेऽत्रागन्तव्यमिति निश्चयः।'

अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्याऽनागतवि-

॥ ३४६ ॥ लघु=स्वल्पं, (हलका)। कोटिभागयोः=अग्रकोणभागयोः। तथाऽनुष्ठिते=लघुकाष्ठखण्डे आनीते। पौराः=पुरवासिनः। अर्धोक्तिपतितः=अर्धवचनानन्तरमेव पतितः। सुखं यथा स्यात्तथा एधेते=सुखेन निवसतः, जीवितश्च। 'यद्भविष्यति तद्भविष्यती'ति वादी-यद्भविष्यः ॥ ३४७ ॥ इति=इतिनामानः। मत्स्यजीविभिः=धीवरैः। (अद्य तावत्='आज तो')। आहारवृत्तिः=भोजन-

धाता सर्वान्मत्स्यानाहूयेदमूचे-'अहो ! श्रुतं भवद्भिर्यन्मत्स्यजीविभिरभिहितं, तद्रात्रावपि गम्यतां किञ्चिन्निकटं सरः। उक्तञ्च-

अशक्तैर्बलिनः शत्रोः कर्तव्यं प्रपलायनम्।
संश्रितव्योऽथवा दुर्गो नान्या तेषां गतिर्भवेत् ॥ ३४८ ॥

तन्नून प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंक्षयं करिष्यन्ति—एतन्मम मनसि वर्तते। तन्न युक्तं साम्प्रतं क्षणमप्यत्रावस्थातुम्। उक्तञ्च—

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा।
ते न पश्यन्ति विद्वांसो देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ३४९ ॥

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमतिः प्राह-'अहो ! सत्यमभिहितं भवता ममाप्यभीष्टमेतत्, तदन्यत्र गम्यताम्'-इति। उक्तञ्च—

परदेशभयाद्भीता बहुमाया नपुंसकाः।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ ३५० ॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्स्वदेशरागेण हि याति नाशम्।
'तातस्य कूपोऽय'मिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥३५१॥

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्भविष्यः प्रोवाच-'अहो ! न भवद्भ्यां मन्त्रितं सम्यगेतदिति। यतः किं वाङ्मात्रेणापि तेषां

प्रतिसामग्रीलाभः। बलिनः शत्रोरित्यस्य 'आक्रमणे सति विधातु'मिति शेषः। अशक्तैः=असमर्थैः। तेषां=निर्बलानाम् ॥३४८॥ विद्यमानेति। तेषामन्यत्रापि सुखावहा गतिर्विद्यमाना भवेत्-ते विद्वांसो देशभङ्गं=देशनाशं, कुलक्षयञ्च न पश्यन्ति ॥ ३४९ ॥ बहुमायाः=कपटपराः। निधनं=मरणम् ॥ ३५० ॥ स्वदेशरागेण='मम स्वदेशोऽय'मित्यनुरागेण। यस्येति। यस्य पुंसः सर्वत्र=सर्वेषु देशेषु, गतिः= गमनशक्तिरस्ति स स्वदेशरागेण कस्मान्नाशं याति ?। तातस्य=पितुः कूपः-इति=इत्थं, ब्रुवाणाः=भाषणपराः प्रशंसापराः, कापुरुषाः=मूर्खा अलसाश्च, क्षारं= कटुतरं कूपोदकं पिबन्ति ॥ ३५१ ॥

भवद्भ्यामेतत्सम्यङ्न मन्त्रितम्। किं-तेषां=धीवराणां। वाङ्मात्रेण=वचनश्रवणमात्रादेव। पितृपैतामहिक=कुलपरम्पराप्राप्तम् ('पुस्तैनी')। किं युज्यते —

पितृपैतामहिकमेतत्सरस्त्यक्तुं युज्यते ! । यद्यायुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र गतानामपि मृत्युर्भविष्यत्येव । उक्तञ्च—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥३५२॥

तदहं न यास्यामि, भवद्भ्यां च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम् ।'

अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वाऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन । अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यतां नीतम् । अतोहं ब्रवीमि-'अनागतविधाता च-'इति । ❀ ॥

तच्छ्रुत्वा टिट्टिभ आह-'भद्रे ! किं मां यद्भविष्यसदृशं संभावयसि ? । तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावं यावदेनं दुष्टसमुद्रं स्वचञ्च्वा शोषयामि ।' टिट्टिभ्याह-अहो ! कस्ते समुद्रेण सह विग्रहः ? । तन्न युक्तमस्योपरि कोपं कर्तुम् । उक्तञ्च—

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।
पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥ ३५३ ॥

तथा च—

अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ३५४ ॥

टिट्टिभ आह-'प्रिये ! मा मैवं वद, येषामुत्साहशक्तिर्भवति ते स्वल्पा अपि गुरून्विक्रमन्ते । उक्तञ्च—

युज्यते । आयु क्षय =जीवनकालसमाप्तिः । विसर्जितः=त्यक्तः ॥ ३५२ ॥

प्रतिभाति=रोचते । निष्क्रान्तौ=चलितौ । सह परिजनेन=कुटुम्बेन सहैव । **यद्भविष्येणेति** । यद्भविष्य.-अन्ये च तत्रत्या मत्स्या हता इत्यर्थ । भद्रे !=सुमुखि !, सुभगे ! । विग्रह =युद्धम् । अस्य=समुद्रस्य । असमर्थाना कोप -आत्मन उपद्रवाय भवति । यथा-पिठरं=स्थाली ('बटलोही') । अग्निसम्बन्धात्-अतिमात्रं ज्वलत् । निजपार्श्वानेव दहति, न पाचकादीनिति भाव. ॥ ३५३ ॥

समुत्सुकः-सहसा युद्धाय प्रवर्त्तमान ॥३५४॥ **गुरूनपि विक्रमन्ते**=तै सहापि

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः ।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुदः ॥ ३५५ ॥

तथा च—

प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥

तथा च—

बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ? ॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो ?
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ? ॥
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः?॥३५८

तदनया चञ्च्वाऽस्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि ।' टिट्टिभ्याह-'भोः कान्त ! यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति, तथा सिन्धुश्च, तत्कथं त्वमष्टादशनदीशतैः पूर्यमाणं तं विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि ?, तत्किमश्रद्धेयेनोक्तेन । टिट्टिभ आह-प्रिये !

अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चूर्मे लोहसन्निभा ।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्रः किं न शुष्यति ? ॥ ३५९ ॥

युध्यन्ते । विधुन्तुद =राहु , विशेषात्=विशेषत पूर्ण चन्द्रमेव बाधते न क्षीणमिति–अमर्षणा उत्साहशक्तिमन्तो महतामपि शत्रूणामुपरि क्रुद्धा प्रचलन्त्येवेत्याशय ॥ ३५५ ॥ प्रमाणात्=कायप्रमाणात् । गण्डात् श्यामस्य मदस्य च्युतिर्यस्यासौ–तस्य=मदमलिनगण्डस्थलस्य, मत्तदन्तिन शिरसि–पदं=चरणम् । धत्ते=स्थापयति ॥ ३५६ ॥ भूभृतां=पर्वतानाम् । हस्तिमात्र =हस्तिप्रमाण । दीपमात्रं किं=न दीपमात्रं । किन्त्वतिप्रमाणम् । कि वज्रमात्र ? नैव, किन्त्वतिमहान् । अत स्थूलेषु=वपुषाऽधिकेषु । क प्रत्यय =का खल्वास्था ? (क प्रत्यय ?=क्या रक्खा है ?') ॥ ३५८ ॥

अस्य=समुद्रस्य । शुष्कस्थलता=भूमितुल्यता । कान्त=प्रिय । जाह्नवी=

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥३६०॥

टिट्टिभ्याह—यदि त्वयावश्यं समुद्रेण सह विग्रहानुष्ठानं कार्यम्, तदन्यानपि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एवं समाचर । उक्तञ्च—

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।
तृणैरावेष्ट्यते रज्जुर्येन नागोऽपि बद्ध्यते ॥ ३६१ ॥

तथा च—

चटका काष्ठकुट्टेन मक्षिका दर्दुरैस्तथा ।
महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः ॥ ३६२ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' सा प्राह—

१५. चटकदम्पतिकुञ्जरकथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसतः स्म । अथ तयोर्गच्छता कालेन सन्ततिरभवत् । अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो वनगजः कश्चित्तं तमालवृक्षं घर्मार्त्तश्छायार्थी समा-

---

गङ्गा । तथा=नवनदीशतानि गृहीत्वा । सिन्धु=सिन्धुनद । (अष्टादशनदीशतैः=१८०० नदियों से) । तं=समुद्रम् । विप्रुषवाहिन्या=विन्दुमात्रजलवहनसमर्थया । अश्रद्धेयेन=विश्वासाऽयोग्येन । अनिर्वेदः=अकातरत्वं । मूलं=कारणम् । लोहसन्निभा=दृढतरा ॥ ३५९ ॥ **परभागः**=महत्त्वं, विजयश्च । पौरुषं=पराक्रम, साहसञ्च । तुलां=तुलाराशि, दिव्यशपथभेदं च । जलदपटलानि=मेघवृन्दानि॥ ३६०। **विहङ्गमान्**=पक्षिणः । एवं=समुद्रेण विग्रहम् । बहूनाम्—असाराणा=तुच्छानामपि । समवाय=समूह । आवेष्ट्यते=निर्मीयते । यया=रज्ज्वा । नागः=गज ॥३६१॥ **चटका**=पक्षिभेद । (चिड़िया) काष्ठकुट्टेन=तदाख्यपक्षिभेदेन (कठफोरा) । **'काष्ठकूटेने'**ति क्वचित्पाठः । 'मिलिते'ति शेष, । मक्षिका दर्दुरैः—'मिलिते'ति शेष । इत्थं—महाजनविरोधेन=अनेकजनविरोधात् । कुञ्जर=गज । प्रलयं=मृत्युम् ॥ **'दर्दुरेण चे'**त्यपि पाठः ॥ ३६२ ॥ **तमालतरुकृतनिलयौ**=तमालवृक्षकृतनीडौ । गच्छता कालेन=व्यतीतेन बहुतिथेन कालेन । (कुछ दिन के

श्रितः। ततो मदोत्कर्षात्तां तस्य शाखां चटकाश्रितां पुष्कराग्रेणाकृष्य बभञ्ज। तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि। आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ।

अथ चटका स्वाऽण्डभङ्गाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न किञ्चित्सुखमाससाद। अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्ठकुट्टो नाम पक्षी तस्याः परमसुहृत्तद्दुःखदुःखितोऽभ्येत्य तामुवाच–भगवति! किं वृथा प्रलापेन?। उक्तञ्च--

नष्टं मृतमतिक्रान्तं नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः।
पण्डितानां च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः॥ ३६३॥

तथा च--

अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति।
स दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते॥ ३६४॥

अन्यच्च—

श्लेष्माऽश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
तस्मान्न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याश्च शक्तितः॥ ३६५॥

चटका प्राह--'अस्त्येतत्। परं दुष्टगजेन मदान्मम सन्तानक्षय. कृतः, तद्यदि मम त्वं सुहृत्सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यताम्,-यस्यानुष्ठानेन मे सन्ततिनाशदुःखमपसरति।

चाद)। मदोत्कर्षात्=मदावेशात्। चटकाश्रिता=चटकानीडाश्रिता। पुष्कराग्रेण=शुण्डाग्रेण। तस्या =शाखाया। विशीर्णानि=विकीर्णानि, भग्नानि वा। ('बिखर गए' 'फूट गए')। चटकौ=चटकदम्पती। कथमपि=यथाकथञ्चित्। (किसी तरह से)। तस्या =चटकाया। तान्=करुणान्। विलापान्=परिदेवनानि। श्रुत्वा=आकर्ण्य। तद्दुःखदु खितः=चटकादु खेन दु खित। अभ्येत्य=आगत्य। प्रलापेन=निरर्थकशोकशब्दै। अशोच्यानि भूतानि इह य शोचति स दु खेपि पुनर्दु खं लभते। अशोच्यशोचनं दु खे पुनर्दु खसमन्वयरूपमेवेत्याशय॥ ३६४॥

बान्धवैर्मुक्त-श्लेष्माश्रु=कफान्वितमश्रुजाल, प्रेत =मृत, अवश.=परवशः,। क्रिया =और्ध्वदेहिकं कर्म। शक्तित =यथाशक्ति॥३६५॥ गजापसदस्य=अस्य

उक्तञ्च—

आपदि येनाऽपकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ ३६६ ॥

काष्ठकुट्ट आह—'भगवति ! सत्यमभिहितं भवत्या। उक्तञ्च-

स सुहृद्व्यसने यः स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन्।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥
स सुहृद्व्यसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान्।
स भृत्यो यो विधेयज्ञः, सा भार्या यत्र निर्वृत्तिः ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावम्। परं ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिकास्ति, तत्तामाहूयागच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्ट-गजो वध्यते। अथाऽसौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच-'भद्रे ! ममेष्टेयं चटका केनचिद्दुष्टगजेन पराभूताऽण्डस्फोटनेन। तत्तस्य वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्यं कर्तुमर्हसि।'

मक्षिकाऽप्याह-'भद्र ! किमुच्यतेऽत्र विषये। उक्तञ्च—

पुनःप्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम्।
यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न-किङ्कृतम् ? ॥ ३६९ ॥

दुष्टहस्तिन। विषमासु=कठिनासु। दशासु=अवस्थासु। तयोरुभयो =अपकारिण उपहासकर्त्तुश्च। पुनरपि जातं=पुनर्लब्धजन्मानम् ॥ ३६६॥ **भगवति**=सुभगे !।

स इति। अन्यजात्युत्पन्नोऽपि य -व्यसने=विपदि, स्यात्=सन्निहितो भवेत्, स एव सुहृत्। वृद्धौ=सम्पत्तौ तु सर्वोपि सर्वेषामपि मित्रता भजत्येवेति भाव. ॥ ३६७ ॥

विधेयज्ञः=कर्त्तव्यकुशल। भार्या=उत्तमा भार्या। निर्वृति =सुखम् ॥ ३६८॥ इष्टा=सुहृद्भूता। पराभूता=अपमानिता। अण्डस्फोटनेन=अण्डसञ्चूर्णनेन। तस्य= गजस्य। **पुनरपीति।** मित्राणा प्रियं यन्मित्रेण क्रियते, तत्पुन प्रत्युपकाराशयैव क्रियते, तत्र किं महत्त्वं मित्रस्य। यच्च-मित्रमित्रस्य कार्यं स्वप्रत्युपकाराशा-शून्यतया करणीयं तद्यदि मित्रैर्न कृतं तदा वद मित्रै· किं कृतम् ?, न किमपीत्यर्थ । अतो मित्र-मित्राणा कार्यं मित्रकार्यापेक्षयाऽपि औत्सुक्येन करणीयमेवे-

सत्यमेतत् । परं ममापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति, तमप्याहूय यथोचितं कुर्मः । उक्तञ्च—

हितैः साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याऽग्रे समस्तमपि वृत्तान्तं निवेद्य तस्थुः । अथ सः प्रोवाच-कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे ? । तन्मदीयो मन्त्रः कर्तव्यः । मक्षिके ! त्वं गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारव-सदृशं शब्दं कुरु, येन श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकुट्टचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्तो मम गर्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा सम-भ्येति, ततो गर्तमासाद्य पतिष्यति, पञ्चत्वं यास्यति चेत्येवं समवायः कर्तव्यो यथा वैरसाधनं भवति ।'

अथ तथाऽनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिकागेयसुखान्निमीलितनेत्र काष्ठकुट्टहृतचक्षुर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन्मण्डूकशब्दानुसारी गच्छ-न्महतीं गर्तामासाद्य पतितो, मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-'चटका काष्ठकुट्टेन—'इति । ❀

टिट्टिभ आह-भद्रे ! एवं भवतु सुहृद्वर्गसमुदायेन समुद्रं शोषयिष्यामि ।'-इति निश्चित्य बकसारसमयूरादीन्समाहूय प्रोवाच-'भोः ! पराभूतोऽहं समुद्रेणाऽण्डकापहारेण, तच्चिन्त्य

त्याशय ॥ ३६९ ॥ हितैर्विद्वद्भिश्चिन्तिता -नयाः=नीतिविनिश्चया , न कथञ्चि-दपि विकल्पन्ते=न सन्देहेनान्यथाकर्तुं शक्यन्ते । अवश्यं फलन्तीत्यर्थ ॥३७०॥

कियन्मात्रः=कियत्प्रमाण (क्या चीज है ?) । वराक =पामर । (वेचारा)। मन्त्र =उपदेश । श्रवणसुखलालस =गानसुखप्रसक्त । गर्ततटाश्रितस्य=कस्यचि-न्महतो गर्तस्य तटमाश्रितस्य । सपरिकरस्य=सकुटुम्बस्य । मम=मण्डूकस्य । पञ्चत्वं=मृत्यु । समवाय =सङ्घ । मक्षिकागेयसुखात्=मक्षिकागानश्रवणसुखात् । गर्त=श्वभ्रम् ('गड्ढा') ।

तामस्य शोषणोपायः ?' । ते संमन्त्र्य प्रोचुः—अशक्ता वयं समुद्रशोषणे, तत्किं वृथा प्रयासेन ? । उक्तञ्च—

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः ।
युद्धार्थं स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥३७१॥

तदस्माकं स्वामी वैनतेयोऽस्ति, तत्तस्मै सर्वमेतत्परिभवस्थानं निवेद्यताम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्यं गच्छति । अथवाऽत्रावलेपं करिष्यति तथापि नास्ति वो दुःखम् । उक्तञ्च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे ।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥३७२॥

तद्यामो वैनतेयसकाशं-यतोऽसावस्माकं स्वामी । तथानुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशो वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धाः-'अहो! अब्रह्मण्यम्'! अब्रह्मण्यम् !!! अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाऽण्डान्यपहृतानि, तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम् । अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते । उक्तञ्च—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम् ।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥३७३॥

अबल =निर्बल । प्रोन्नतं=प्रबलम् । मदमोहित =मदोन्मत्त । शीर्णदन्त = भग्नदन्त ।

परिभवस्थानम्=अपमानप्रसङ्ग । स.=गरुड । जातिपरिभवकुपित =पक्षिजातिपराभवक्रुद्ध । वैरानृण्यं=वैरपरिशोधं । गच्छति=विधत्ते । समुद्रं दण्डयतीत्यर्थ । अवलेपम्=उपेक्षाम् । फूत्कर्तुं=रोदितुं, ('रोने और चिल्लाने लगे') । अब्रह्मण्यम्= महाननर्थ , महदनौचित्यम् । सम्भ्रमे द्विरुक्ति । सदाचारस्य= अनपराधिन । भवति=श्रीगरुडे । नाथे=प्रभौ । सति=विद्यमाने सति । तत्= तस्मात् , अन्येपि=मदतिरिक्ता अन्येपि पक्षिण । कर्म=अनुचितं । संवीक्ष्य= दृष्ट्वा । गर्हितम्=अनुचितम् । गतानुगतिक =परमार्गानुसारी । पारमार्थिक =विचार-

तथा च—

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कूटच्छद्मादिभिस्तथा ॥३७४॥
प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥३७५॥
प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नाऽदग्ध्वा विनिवर्तते ॥३७६॥
राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥३७७॥
फलार्थी पार्थिवो लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥३७८॥
यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥३७९॥
हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्यान्नृपस्य तत् ॥३८०॥

अथैवं गरुडः समाकर्ण्य तद्दुःखदुःखितः कोपाविष्टश्च व्यचि-

पर ॥२७३॥ चाटवः=कपटिनः, प्रियवक्तारः । (चापलूस)। तस्कराः=चौराः। दुर्वृत्ताः=दुश्शीलाः । ('बदचलन') । साहसिकाः=क्रूरकर्माणः, दस्यवश्च । ('बिगडैल' 'डाकू' 'गुण्डा')। तैः । कूटच्छद्मादिभिः=मायाकपटादिभिश्च—पीड्यमानाः प्रजाः राज्ञा रक्ष्या इत्यर्थः ॥ ३७४ ॥ प्रजानामिति । प्रजाभिराचरिताद्धर्मात्षष्ठो भागो यथा तद्रक्षकस्य राज्ञो भवति, तथा—यथावत्पालनमकुर्वतो राज्ञश्च प्रजाकृतस्य पापस्यापि षष्ठो भागो भवतीत्यर्थः ॥३७५॥ प्रजापीडनसन्तापात्—प्रजापीडनरूपात्सन्तापात् समुद्भूतः=उत्पन्नो वह्निः—राज्ञो लक्ष्मीं कुलं प्राणांश्च दग्ध्वैव निवर्तते=शाम्यति नान्यथा ॥ ३७६ ॥ **अबन्धूनाम्**=बन्धुरहितानामनाथादीनाम् । अचक्षुषाम्=अन्धानाम् ॥३७७॥

फलार्थी=धनार्थी, फलार्थी च। लोकान्=प्रजाः । दानमानादिकमेव तोयं जलं, तेन । मालाकारः=मालिकः । (माली)॥३७८॥ सूक्ष्मः=स्वल्पः । **काले**—अवसरे, वृक्षभावमापन्नः सन्। लोकः=प्रजा ॥ तत्=धनधान्यभोजनासनविहारादिकम्॥३८०॥

न्तयत्—'अहो ! सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः, तदद्य गत्वा तं समुद्रं शोषयामः ।' एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्याऽऽह—'भो गरुत्मन् ! भगवता नारायणेनाऽहं तव पार्श्वे प्रेषितः । 'देवकार्याय भगवानमरावत्यां यास्यती'ति । तत्सत्वरमागम्यताम् ।' तच्छ्रुत्वा गरुडः साऽभिमानं प्राह—'भो दूत ! किं मया कुभृत्येन भगवान्करिष्यति ?' तद्गत्वा तं वद,-यदन्यो भृत्यो वाहनायाऽस्मत्स्थाने क्रियताम् । मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवतः । उक्तञ्च—

यो न वेत्ति गुणान्यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात्फलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव' ॥ ३८१ ॥

दूत आह-'भो वैनतेय ! कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया नैतदभिहितदृक्, तत्कथय किं ते भगवताऽपमानस्थानं कृतम्?।'

गरुड आह-'भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेणाऽस्मट्टिट्टिभाण्डान्यपहृतानि, तद्यदि तस्य निग्रहं न करोति, तदहं भगवतो न भृत्यः-इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्यः । तद्द्रुततरं गत्वा भवता भगवतः समीपे वक्तव्यम् ।'

अथ दूतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवांश्चिन्तयामास-'अहो स्थाने कोपो वैनतेयस्य, तत्स्वयमेव गत्वा सम्मानपुरःसरं तमानयामि । उक्तञ्च—

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमपमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्यं य इच्छेच्छ्रियमात्मन. ॥ ३८२ ॥

गरुत्मन्=हे गरुड ! अमरावत्या=देवपुर्याम् । वैनतेय=गरुड ! ईदृक्=ईदृशम् । भगवता=नारायणेन । सुकृष्टादपि-ऊषरात्=कृष्यनर्हभूमेर्न फलं सम्भवतीत्यर्थ ॥ ३८१ ॥

अपमानस्थानम्=अनादरव्यवहार. । भगवदाश्रयभूतेन=नारायणाश्रयेण । विष्णुर्हि समुद्रे शेते । निग्रहं=शासनम् । तत्=तर्हि ।

प्रणयकुपितम्=कृतककुपितम्, मानिनम् । स्थाने=उचितेऽवसरे । सम्प्र-

अन्यच्च—

राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥

-इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत् । वैनतेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुखः प्रणम्योवाच-'भगवन् ! त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्याऽण्डान्यपहृत्य ममावमाननं विहितम् । परं भगवल्लज्जया मया विलम्बितं, नोचेदेनमहं स्थलत्वमद्यैव नयामि । स्वामिभयाच्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते । उक्तञ्च—

येन स्याल्लघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभो[1] क्वचित् ।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्यात्कुलसेवकः ॥ ३८४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह-'भो वैनतेय ! सत्यमभिहितं भवता ।

उक्तञ्च—

भृत्योऽपराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जाऽपि तस्यैव न भृत्यस्य तथा पुनः ॥ ३८५ ॥

तदागच्छ येनाऽण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभं सम्भावयावः, अमरावतीं च गच्छावः ।' तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता

धार्य=निश्चित्य । रुक्मपुरे=तन्नाम्नि गरुडनगरे । त्रपया=लज्जया । अधः=अवनतं मुखं, यस्यासौ तथा=लज्जितोऽवनतमुखः । भगवल्लज्जया=श्रीमद्भयेन लज्जया वा । विलम्बितम्=अद्य यावत्तस्यानुशासनं मया न विहितम् । एनं=समुद्रम् । स्थलत्वं नयामि=तदीयजलशोषणेन स्थलवन्निर्जलं करोमि । स्वामिनः=कुक्कुरस्वामिनो बलवतः । शुनः=कुक्कुरस्याऽपि । येन कर्मणा प्रभोर्लघुता=मानहानिः, चित्ते पीडा वा स्यात्तत्कर्म सेवकेन न कार्यमित्यर्थः ॥ ३८४ ॥

तेन=भृत्यदण्डेन । तस्यैव=स्वामिन एव । तथा पुनः=तादृशी स्वामिनो लज्जा, भृत्यस्य न । 'तस्योत्थे'ति पाठे तु-पञ्चम्यर्थे षष्ठी, तस्मात्=भृत्यापरा-

---

१ 'तदा भृत्यापराधेन स्वामिनं दण्डयेत्किल ।
यदि क्रूरश्च दुष्टश्च स्वामी भृत्यं न मुञ्चति ॥' इत्यपि पाठः ।

निर्भर्त्स्याऽऽग्नेयं शरं सन्धायाऽभिहितः–'भो दुरात्मन् ! दीयन्तां टिट्टिभाऽण्डानि, नो चेत्स्थलतां त्वां नयामि ।'

ततः समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाऽण्डानि तानि प्रदत्तानि । टिट्टिभेनापि भार्यायै समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि–'शत्रोर्बल-मविज्ञाय-इति ।' ❀ तस्मात्पुरुषेणोद्यमो न त्याज्यः ।

तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि पप्रच्छ–'भो मित्र ! कथं ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति ? । इयन्तं कालं यावदुत्तरो-त्तरस्नेहेन प्रसादेन चाहं दृष्टः, न कदाचित्तद्विकृतिर्दृष्टा । तत्क-थ्यतां येनाहमात्मरक्षार्थं तद्वधायोद्यमं करोमि ।' दमनक आह–'भद्र ! किमत्र ज्ञेयम् ?' एष ते प्रत्ययः–, यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखां भ्रुकुटिं दधानः, सृक्किणी परिलेलिहत्त्वां दृष्ट्वा भवति, तद्दुष्टबुद्धिः अन्यथा सुप्रसादश्चेति । तदाज्ञापय मां स्वाश्रयं प्रति गच्छामि । त्वया च यथाऽयं मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्यम् । यदि निशा मुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोषि, तद्देशत्यागः कार्यः । यतः—

त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ३८६ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ३८७ ॥

बलवताऽभिभूतस्य विदेशगमनं, तदनुप्रवेशो वा नीतिः ।

धात्, उत्था=उत्पन्ना, लज्जापि–'स्वामिन एवे'तिशेषः ॥३८५॥ सम्भावयाव = सान्त्वयाव । तथानुष्ठिते=भगवता सहैव गरुडे चलिते सति । शरं=बाणम् । सन्धाय=धनुष्यारोप्य । अभिहितः=उक्तः । दुरात्मन्=असमीक्ष्यकारिन् ! ।

असौ=सिंह । कथ्यतां='सिंहो मयि दुष्टबुद्धि'रित्यत्र प्रत्ययोऽभिधीयताम् । तद्वधाय=सिंहवधाय । त्रिशिखा=वलित्रयकुटिला भ्रुकुटि । सृक्किणी=ओष्ठ-प्रान्तभागं । सुप्रसाद =सुप्रसन्न । अयं=मदुक्त । 'मन्त्रो-भिन्नो न भवति तथा कार्य'मिति युक्ततर पाठ । निशामुखं=प्रदोषम् । (रात मे चुपचाप) । आत्मार्थे=स्वात्मरक्षणाय । दारैरपि=दारादित्यागेन यदि स्वरक्षण शक्यं, तदापि तद्विधेयमित्यर्थ ॥ ३८७ ॥

तद्देशत्यागः कार्यः। अथवाऽऽत्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीयः। उक्तञ्च—

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षेत पण्डितः।
विद्यमानैर्यतस्तैः स्यात्सर्वं भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

तथा च—

येन केनाऽप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥
यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत् ॥ ३९० ॥

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमत्। करटकोऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा प्रोवाच—'भद्र! किं कृतं तत्र भवता?'।

दमनक आह—'मया तावन्नीतिबीजनिर्वापणं कृतम्, परतो दैवविहिताऽऽयत्तम्। उक्तञ्च यतः—

पराङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।

तदनुप्रवेशः=तेन सह सन्धिः, तत्सेवा वा। नीतिः=राजनीतिः। सामादिभिरुपायैः=सामदानादिभिरुपायैः, सिंहं प्रसन्नं कृत्वा। आत्मा=स्वदेहः। रक्षणीयः=पालनीयः।

तैः=प्राणैः। सर्वं=दारधनादिकम्। भूयः=पुनरपि। दीनं=विपद्गतम्। समर्थः=शक्तः। प्राणत्यागे=प्राणत्यागावसरे समुपस्थिते। धनादिषु—माया=ममत्वं। तैः=प्राणैः। तत्=धनादि ॥ ३९० ॥ नीतिबीजनिर्वपणम्=भेदनीतिबीजारोपणम्। 'निर्वापण'मिति पाठान्तरम्। परतः=फलादिकम्। दैवविहितायत्तम्=भाग्यचेष्टिताधीनम्। अत्र लोके। दैवे पराङ्मुखेऽपि—आत्मदोषविनाशाय=अलसत्व-निरुद्यमित्वादिदोषसम्भावनानिवृत्तये। स्वचित्तस्तम्भनाय=स्वमनससन्तोषाय च—कृत्यं कार्यमेव ॥३९१॥ पुरुषसिंहं=पुरुषश्रेष्ठम्। दैवं=दैववादः।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥३९२॥

करटक आह–'तत्कथय कीदृक्त्वया नीतिबीजं निर्वापितम्?'। सोऽब्रवीत्–'मयाऽन्योन्यं ताभ्यां मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोपि तौ मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि।' करटक आह–'अहो न युक्तं भवता विहितं यत्परस्परं तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ। उक्तञ्च—

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत्।
जन्मजन्मान्तरं दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

अपरं–त्वं यद्भेदमात्रेणापि तुष्टस्तदप्ययुक्तम्। यतः सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति, नोपकर्तुम्। उक्तञ्च—

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम्।
[१]पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्षं न चोन्नमितुम् ॥ ३९४ ॥

दमनक आह–'अनभिज्ञो भवान्नीतिशास्त्रस्य, तेनैतद्ब्रवीषि। उक्तञ्च यतः—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माकं,–मन्त्रिपदापहरणात्। उक्तञ्च—

निहत्य=दूरीकृत्य। पौरुषम्=उद्योग। न सिध्यति=कार्यं न सिध्यति चेत्, कोऽत्र दोष:=कस्तव दोषः? न कोऽपि पुंसो दोष इत्याशय ॥३९२॥ भूयोपि=पुनरपि। तौ=सिंहवृषभौ। क्वचित्ताविति न पठ्यते। स्नेहार्द्रहृदयौ=स्नेहप्रसक्तमानसौ। सुखाश्रयौ=सुखमनुभवन्तौ। कोपसागरे=परस्परविरोधमहोदधौ। अविरुद्ध=सरलम्। अजातशत्रुम्। सुखस्थं=सुखिनम्। दु:खमार्गे=दुष्टे मार्गे। असंशय=ध्रुवम् ॥३९३॥ भेदमात्रेण=मित्रभेदकरणचातुर्येणैव। विरूपकरणे=विरोसम्पादने, विकृतिसम्पादने च। घातयितुं=विनाशयितुं। प्रसाधयितुं=सम्पादयितुम्

---

१ 'पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम्' इति पा०।

पितृपैतामहं स्थानं यो यस्याऽत्र जिगीषति।
स तस्य सहजः शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थितः ॥३९६॥

यन्मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन याव-त्तावदहमपि तेन साचिव्यात्प्रच्यावितः। अथवा साध्विदमुच्यते-

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं
तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमानः स्वयं सः।
तस्माद्देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमानां
जारोऽपि स्याद्गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥३९७॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एव विरच्यते, देशत्यागाय वा भविष्यति। तच्च त्वां मुक्त्वाऽन्यो न ज्ञास्यति। तद्युक्तमेतत् स्वार्थायानुष्ठितम्। उक्तञ्च यतः--

निस्त्रिंशं हृदयं कृत्वा वाणीमिक्षुरसोपमाम्।
विकल्पोऽत्र न कर्त्तव्यो–हन्यादेवाऽपकारिणम् ॥३९८॥

अपरं-मृतोऽप्यस्माकं भोज्यो भविष्यति। तदेकं तावद्वैर-साधनम्, अपरं साचिव्यञ्च भविष्यति, तृप्तिश्च'-इति। तद्गुण-त्रयेऽस्मिन्नुपस्थिते कस्मान्मां दूषयसि-त्व जाड्यभावात् ?।

॥ ३९४ ॥ तेनैव=शत्रुणा, रोगेण च ॥ ३९५ ॥ पितृपैतामहं=वंशपरम्पराप्राप्त, **स्थानम्**=अधिकारादि। जिगीषति=जेतुमिच्छति । जिघृक्षतीत्यर्थ । सहज = स्वभाविक । प्रिये=हिते । स्थित =उद्युक्तोऽपि ॥ ३९६ ॥ स =सञ्जीवक । उदासीनतया=अपरिचितभावेन । समानीत =सिंहसमीपं प्रापित । तेन=सञ्जीव-केन। साचिव्यात्=मन्त्रिपदात्। प्रच्यावित =दूरीकृत । निजपदे - स्वस्थाने। तन्नाशाय=साधुजननाशाय। प्रभवति=प्रयतते । वाञ्छमान =तत्पदं वाञ्छन्। (ताच्छील्ये चानश्)। अत्र=जगति। जारोऽपि–गृहपति =गृहस्वामी, 'सञ्जात' इति शेष । इति=इत्थ। वाक्यत =वृद्धवाक्यत। श्रूयते=आकर्ण्यते। कथेयमन्य-तोऽनुसन्धेया ॥ ३९७ ॥ तस्य=वृषभस्य । एष =भेदरूप , मुक्त्वा=विहाय, स्वार्थाय=स्वकार्यसिद्धये। निस्त्रिंश=खड्गसमम्। 'नृशंस' मिति पाठे—नृशंस= क्रूरमित्यर्थ । वाणी=वचनम्, इक्षुरसोपमाम्=सितोपमाम् ('मिश्री की तरह

उक्तञ्च—

परस्य पीडनं कुर्वन्स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः ।
गूढबुद्धिर्न लक्ष्येत वने चतुरको यथा ॥ ३९९ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ?। स आह—

१६. सिंह-शृगाल-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः । तस्य चतुरकक्रव्यमुखनामानौ शृगाल-वृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसतः । अथाऽन्यदिने सिंहेन कदाचिदासन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद्भ्रष्टा उष्ट्र्युपविष्टा कस्मिंश्चिद्वनगहने समासादिता । अथ तां व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, तावज्जीवँल्लघु दासेरकशिशुर्निष्क्रान्तः । सिंहोऽपि दासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिमुपागतः । परं स्नेहाद्बालदासेरकं त्यक्तं गृहमानीयेदमुवाच—'भद्र ! न तेऽस्ति मृत्योर्भयं मत्तो, नान्यस्मादपि । ततः स्वेच्छयाऽत्र वने भ्राम्यताम् । यतस्ते शङ्कुसदृशौ कर्णौ, ततः शङ्कुकर्णो नाम भविष्यति ।' (इति)

मीठी') । विकल्प =सन्देह । हन्यादेव न त्यजेदित्यर्थ ॥ 'हन्यात्पूर्वापकारिण'-मित्यपि पाठः ॥ ३९८ ॥

साचिव्यं=मन्त्रित्वम् । गुणत्रये=लाभत्रये । जाड्यभावात्=मौर्ख्यात् ॥ परस्य=शत्रो । स्वार्थसिद्धि=स्वकार्यसिद्धिञ्च कुर्वन् । गूढबुद्धिः=कपटनीतिपटु । न लक्ष्येत=न ज्ञायेत, कैश्चिदपीत्यर्थ । 'चतुरक' इति शृगालनामधेयम् ॥ ३९९ ॥

'क्रव्यमुख' इति वृकस्य नामधेयम् । भृत्यभूतौ=सेवकौ । आसन्नप्रसवा =प्रसवोन्मुखी । स्वयूथात्=उष्ट्रवृन्दात् । (ऊँटों की कतारमे से) । उपविष्टा= अवस्थिता । व्यापाद्य=हत्वा । स्फोटयति=विदारयति । (फाडने लगा) । जीवन्=प्राणान्दधत् । लघु=बाल । दासेरक =उष्ट्र । दासेरक्या=उष्ट्र्या । पिशितेन=मासेन । स्नेहात्=वात्सल्यात् । त्यक्त=अहतम् । शङ्कुसदृशौ= कीलकाकारौ । शङ्कुकर्णो नाम=नाम्ना शङ्कुकर्ण इति प्रसिद्धो भविष्यसि । नामेति प्रसिद्ध्यर्थकमव्ययम् ।

एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेकप्रकारगोष्ठीसुखमनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढः क्षणमपि न तं सिंहं मुञ्चति।

अथ कदाचिद्वज्रदंष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्यात्स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो, यथा प्रचलितुं न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठस्तान्प्रोवाच—भोः! अन्विष्यतां किञ्चित्सत्त्वं येनाहमेवंस्थितोऽपि तद्व्यापाद्यात्मनो युष्माकं च क्षुत्प्रणाशं करोमि। तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्याकालं यावद्भ्रान्ताः, परं न किञ्चित्सत्त्वमासादितम्।

अथ चतुरकश्चिन्तयामास—यदि शङ्कुकर्णोऽयं व्यापाद्यते ततः सर्वेषां कतिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति, परं नैनं स्वामी मित्रत्वादाश्रयसमाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा-बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति। उक्तञ्च—

अवध्यं चाऽथवाऽगम्यमकृत्यं नास्ति किञ्चन।
लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत्॥ ४०० ॥

एवं विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—'भोः शङ्कुकर्ण! स्वामी तावत्पथ्यं विना क्षुधया परिपीड्यते, स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं विनाश एव, ततो वाक्यं किञ्चित्स्वाम्यर्थे वदिष्यामि, तच्छ्रूयताम्।

एवमनुष्ठिते=सिंहेनाऽभयदाने दत्ते। चत्वारः=सिंहगोमायुवृकदासेरकाः। विहारिणः=क्रीडन्तः। यौवनपदवीं=युवावस्थाम्। आरूढः=प्राप्तः। मदवीर्यात्=मदोद्रेकमूलकपराक्रमातिशयात्। तान्=वृकश्रृगालदासेरकान्। एवंस्थितः=क्षतविशीर्णाङ्गोऽपि। तत्=सत्त्वम्। क्षुत्प्रणाशं=बुभुक्षाशान्तिम्। सन्ध्याकालं यावत्=सन्ध्याकालपर्यन्तम्।

चतुरकः=श्रृगालः। एनम्=उष्ट्रम्। प्रतिबोध्य=सम्यक् बोधयित्वा ('समझा कर')। अवध्यमिति। बुद्धिमता बुद्धेः—अवध्यम्, अगम्यम्=अप्राप्यम्, कर्तुमशक्यञ्च किमपि नास्ति। विनियोजयेत्=कर्मसु योजयेत्। 'योजयाम्यहं' मित्यपि पाठः।

शङ्कुकर्ण आह–भोः ! शीघ्रं निवेद्यतां येन ते वचनं शीघ्रं निर्विकल्पं करोमि। अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भविष्यति। अथ चतुरक आह–'भो भद्र! आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा भवति।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्णः प्राह–'भद्र! यद्येवं तन्मदीयमेव प्रयोजनमेतत्। उच्यतां स्वामी,–'एतदेवं क्रियता'–मिति। परमत्र धर्मः प्रतिभूः करणीयः।'

–इति निश्चित्य ते सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः। ततश्चतुरक आह–'देव! न किञ्चित्सत्त्वं प्राप्तम्। भगवानादित्योऽप्यस्तं गतः। तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽयं द्विगुणवृद्ध्या स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा।'

सिंह आह–'भोः! यद्येवं तत्सुन्दरतरं, व्यवहारस्याऽस्य धर्मः प्रतिभूः क्रियताम्'—इति।

अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः। अथ वज्रदंष्ट्रश्चतुरकमाह–'भोश्चतुरक! यावदहं नदीं गत्वा स्नानं, देवार्चनविधिं कृत्वा आगच्छामि तावत्त्वयाऽत्राऽप्रमत्तेन भाव्यम्'। इत्युक्त्वा नद्यां गतः।

अथ तस्मिन् गते चतुरकश्चिन्तयामास–'कथं 'ममैकाकिनो भोज्योऽयमुष्ट्रो भविष्यति' ?। इति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह–'भोः क्रव्यमुख! क्षुधालुर्भवान्, तद्यावदसौ स्वामी नागच्छति, तावत्त्वमस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षय, अहं त्वां स्वामिने निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि।

स्वाम्यर्थे=राजप्रियचिकीर्षया। निर्विकल्पं=निःसंशयम्। सुकृतशतं=पुण्यशतम्। द्विगुणलाभेन=द्विगुणलाभार्थं,–('दूने लाभ व ब्याज पर')।प्रयच्छ=देहि। मदीय प्रयोजनं=द्विगुणशरीरलाभरूपम्। उच्यता=कथ्यताम्। प्रतिभूः=मध्यस्थः। 'साक्षी'। ('जामिनदार' 'गवाही')। धर्मप्रतिभुवा=धर्मं मध्यस्थीकृत्य। व्यवहारस्य =ऋणग्रहणरूपव्यवहारस्य। अप्रमत्तेन=रक्षाया सावधानेन। नद्या= नदी प्रति। 'स्नानाद्यर्थमिति शेषः'। क्षुधालु =बुभुक्षितः। स्वामिने=सिंहाय।

सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत्किञ्चिन्मांसमास्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्–'भोः क्रव्यमुख ! समागच्छति स्वामी, तत्त्यक्त्वैनं दूरे तिष्ठ, येनास्य भक्षणं न विकल्पयति । 'तथानुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः ।

ततो भ्रुकुटिं कृत्वा परुषतरमाह–'अहो ! केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो येन तमपि व्यापादयामि ।' एवमभिहिते स क्रव्यमुखमवलोकयति–'किल तद्वद् किंचिद्येन मम शान्तिर्भवति' ।

अथ चतुरको विहस्योवाच–'भो ! मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वाऽधुना मन्मुखमवलोकयसि ? । तदास्वादय तस्य दुर्णयतरोः फलम्'–इति । तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवनाशभयाद्दूरदेशं गतः ।

एतस्मिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः । तस्याऽग्रसरोष्ट्रस्य कण्ठे महती घण्टा बद्धा । तस्याः शब्दं दूरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बुकमाह–भद्र ! ज्ञायतां किमेष रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः ? । तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा सत्वरमभ्युपेत्य[1] प्रोवाच–स्वामिन् ! गम्यतां गम्यतां, यदि शक्नोषि गन्तुम् ।' सोऽब्रवीत्–'भद्र ! किमेवं मां व्याकुलयसि?' तत्कथय किमेतत् ?'–इति ।

'स्वामिन' इति पाठे 'पुरत'इति शेषो बोध्य । सम्बन्धसामान्ये वा षष्ठी। विकल्पयति वितर्कयति । रिक्तिकृतहृदय =हृदयशून्य । परुषतरमिति क्रियाविशेषणम् । तत्=तथा । किञ्चिद्वद येन=यथा । मम शान्ति =ममोपरि सिंहजातस्य कोपस्य शान्ति । 'येनायमुपशाम्यती'ति लिखितपुस्तकपाठ । मामनादृत्य=मदुक्तमविगणय्यैव । पिशितम्=मासम्। तस्य=एकाकिमासभक्षणरूपस्य दुर्णयतरो =अनीतिपादपस्य ।

किं=कुत ? । रौद्र =भयङ्कर । किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा=किय द्दूरं वनमध्ये गत्वा। दासेरकसार्थ =उष्ट्रवृन्दं । तस्य=उष्ट्रसार्थस्य । किमेतत्=किमिदम् ? (यह क्या बात है ?)।

---

1 'अभ्येत्य सावेगम्—' ।

चतुरक आह–स्वामिन् ! एष धर्मराजस्तवोपरि कुपितः– 'यदनेनाऽकाले दासेरकोऽयं मदीयो (मां प्रतिभुवं दत्त्वा) व्यापादितः, तत्सहस्रमुष्ट्रमस्य सकाशाद्ग्रहीष्यामि'–इति निश्चित्य बृहदुष्ट्रमानमादायाऽग्रेसरस्योष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्ध्वा वध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव ।'

सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा–सर्वतो दूरादेवावलोक्य–मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात्प्रनष्टः । चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्योष्ट्रस्य मांसं चिरं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीमि–'परस्य पीडनं कुर्वन्'–इति। ❀

अथ दमनके गते सञ्जीवकश्चिन्तयामास–'अहो ! किमेतन्मया कृतम्, यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्याऽनुगः संवृत्तः ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

तत्किं करोमि ?, क्व गच्छामि ? कथं मे शान्तिर्भविष्यति ? । अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि,–कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति, प्राणैर्न वियोजयति । यत उक्तञ्च—

अकाले=मृत्युकालेऽनुपस्थिते एव । अस्य=सिंहस्य । उष्ट्रमानं=दासेरकप्रमाणम् । उष्ट्रवृन्दमिति यावत् । अग्रेसरस्य=पुरोवर्तिन । वध्यदासेरकसक्तान्=हतशङ्कुकर्णसम्बन्धिन । वैरनिर्यातनार्थं=वैरशोधनाय (बदला लेने को) । प्रनष्टः=पलायित ।

शष्पादः=घासभक्षकोऽप्यहम् । अनुग =अनुचर । अगम्यान्=अनुपसर्पणीयान्, उपगृह्णाति=मृत्युमुपादत्ते । अश्वतरी=गर्दभीविशेष । (खच्चरी) । 'अश्वतरी यदाऽऽसन्नप्रसवा भवति तदा सा म्रियते' इति लोकविदः ॥ ४०१ ॥

शान्तिः=चित्तनिर्वृतिः, रक्षा च । तमेव=विकृतमपि पिङ्गलकमेव ।

---

१ 'तदीयपितृपितामहानपि गवेषयितुकाम इत एव सन्निहितोऽभ्युपैति' । पा०

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचि-
त्तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेपान्नयः ।
लोके ख्यातिमुपागताऽत्र सकले लोकोक्तिरेपा यतो-
'दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः'॥४०२॥

तथा च—

लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं
नित्यं समाश्रितवता विहितक्रियाणाम् ।
भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं
यद्भावि तद्भवति, नाऽत्र विचारहेतुः ॥४०३॥

अपरश्च—अन्यत्र गतस्यापि मे कस्यचिदुग्रसत्त्वस्य मांसाशिनः सकाशान्मृत्युर्भविष्यति, तद्वरं सिंहात्। उक्तश्च—

महद्भिः स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसि ।
दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

तथा च—

महतोऽपि क्षयं लब्ध्वा श्लाघां नीचोऽपि गच्छति ।
दानार्थी मधुपो यद्वद्गजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पश्यन्न-

धर्मार्थमिति । इह=लोके । तासा=विपदाम् । विशेपात्=विशेपत । नय = वक्ष्यमाणा नीति । नयमेवाह—लोक इति । तस्योद्भव =वह्निप्रभव । उष्ण इति यावत् । सेकः=ताप । (सेकना) ॥ ४०२ ॥ तनुभृतां=देहिनाम् । निजेति । स्वकृतशुभाशुभकर्मफलं समाश्रिताना । विहितक्रियाणा=शुभाशुभकर्म कुर्वताम् । भावार्जितं=वासनाकलित । यद्वा—भाव –क्रिया–स्वस्वकर्मैव । 'पूर्वार्जित'मिति परे पठन्ति । तदुत्थितम्,–शुभमशुभ वा फल स्वयमेव नितरा भवति, अत्र चिन्तया न किमपि कर्त्तुं शक्यत इत्यर्थ ॥ ४०३ ॥ उग्रसत्त्वस्य=व्याघ्रादे । गिरिविदारणे=पर्वतभेदने । नागाना=गजानाम् । महत सकाशात्–क्षय=पीडा, विनाशश्च । श्लाघा=प्रशंसाम् । 'श्लाघ्य'मिति पाठे–श्रेष्ठं पद, यशश्च । नीचोपि=लघुरपि । दानार्थी=मदलुब्ध । गजकर्णतालाहतस्य भ्रमरस्य प्रशंसा, गजस्य निन्दा च कविभि काव्ये क्रियत एवेति भाव ॥ ४०५ ॥

पठत्–'अहो ! साध्विदमुच्यते–

अन्तर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव, व्यालाकुलं वा वनं,
ग्राहाकीर्णमिवाऽभिरामकमलच्छायासनाथं सरः।
नित्यं दुष्टजनैरसत्यवचनाऽऽसक्तैरनार्यैर्वृतं
दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥४०६॥

एवं पठन्दमनकोक्ताऽऽकारं पिङ्गलकं दृष्ट्वा प्रचकितः संवृतशरीरो दूरतरं प्रणामकृतिं विनाप्युपविष्टः। पिङ्गलकोऽपि तथाविधं तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्धानः कोपात्तस्योपरि पपात।

अथ सञ्जीवकः खरनखरविकर्तितपृष्ठः शृङ्गाभ्यां तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेतः शृङ्गाभ्यां हन्तुमिच्छन्युद्धायाऽवस्थितः।

अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परं वधकाङ्क्षिणौ दृष्ट्वा करटकः साक्षेपं दमनकमाह–'भो मूढमते ! अनयोर्विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम्। न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि।

स्खलितगतिः=भग्नगमनः, कम्पितचरणः। सिंहाश्रयं=सिंहभवनम्। भुजङ्गमाः=सर्पाः, विटाश्च। 'भुजङ्गो विटसर्पयो'रिति कोशः। व्यालाः=सिंहाः, दुष्टगजाः, सर्पाः, खलाश्च। 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे खले श्वापदसिंहयो'रिति विश्वः। अभिरामकमलच्छायासनाथं=सुन्दरपद्मातपत्रशोभितम। सरः=सरोवरं। ग्राहाकीर्णमिव = दुष्टजलचराक्रान्तमिव। राजगृहपक्षे–ग्राहसादृश्याद्ग्राहाः = वञ्चकाः खलाः। वार्धिः=समुद्रः। सोऽपि–प्रत्यन्तवासिम्लेच्छैः परिवृतो भवति। राजकुलेष्वपि प्रायो दुष्टा निवसन्त्येवेति तयोः साम्यम्। प्रचकितैः=भीतैः ॥४०६॥

प्रचकितः=भीतः। संवृतशरीरः=सुगूढकायः। प्रणामकृतिः=राजोचितो नमस्कारादिः। तथाविधं=दमनकोक्ताकारम्। तस्य=सञ्जीवकस्य। खराः=तीक्ष्णाः। नखराः=नखाः। उल्लिख्य=विदार्य। तस्मात्=सिंहात्। अपेतः=अपसृतः। पुष्पितपलाशप्रतिमौ=कुसुमितपलाशवृक्षसदृशौ। रक्तसदृशानि हि पलाशकुसु-

---

१ 'अन्तर्गूढ'। २ 'असत्यवचनैः क्षुद्रैरनार्यीकृतं, दुःखेनेह विगाह्यते सुचकितै राज्ञां मनः सेवकैः' पा०। ३ 'यदनयोर्विरोधस्त्वया कृतः, तन्न साधु विहितम्। यतः सकलमपि वनमिदमाकुलीकृतं भवता। ततस्त्वं न नीतितत्त्वं वेत्सि।' पा०।

नीतिविद्भिरुक्तञ्च—

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्नैव—ते मन्त्रिणः ।
निःसाराऽल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषां दुर्नयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति तर्तिक त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या क्रियते ? । अथ सञ्जीवको न वध्यते तथाऽप्यभव्यम् । यतः प्राणसन्देहात्तस्य च वधः । तन्मूढ ! कथं त्वं मन्त्रिपदमभिलषसि ? । सामसिद्धिं न वेत्सि । तद्वृथा मनोरथोऽयं ते दण्डरुचेः । उक्तञ्च—

सामादिर्दण्डपर्यन्तो नय. प्रोक्तः स्वयम्भुवा ।
तेषां दण्डस्तु पापीयांस्तं पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

तथा च—

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति—कोऽर्थः पटोलेन ? ॥ ४०९ ॥

तथा च—

आदौ साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता ।
सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचित् ॥ ४१० ॥

मानीति तत्साम्यम् । दण्डोपायसाध्यानि कठिनतराण्यपि महान्ति कार्याणि ये—प्रीत्यैव=सामोपायेनैव—साधयन्ति त एवखलु मन्त्रिण , ये नु—सान्त्वसाध्यान्यपि तुच्छान्यपि च कार्याणि दण्डोद्यमेनैव साधयितुमिच्छन्ति—तेषा मन्त्रिणा दुर्नयचेष्टितै =दुष्टनीतिचेष्टितै राज्ञ श्रीस्तुलायामारोप्यते,=संशये स्थाप्यते॥४०७॥

मन्त्रबुद्ध्या=भेदोपायप्रयोगेण।अभव्यम्=न युक्तम्।सामसिद्धि=सामोपायेन कार्यसिद्धिम् । दण्डरुचे =दण्डोपायप्रियस्य । युद्धप्रियस्येति यावत् । सामादि = सान्त्वप्रधान ।दण्डपर्यन्त =युद्धपर्यन्त ।नय =नीतिमार्ग । स्वयम्भुवा=ब्रह्मणा। अधम । तं=दण्डम् । पश्चात्=सर्वोपायै. सिद्ध्यभावे ॥ ४०८ ॥ पित्तं=पित्तप्र-

---

१ 'सामनामाऽपि न जानामि'। २ 'तस्माद्दण्ड विवर्जयेत्'इति लिखिते रम्यः पाठ' ।
३ 'साम्नैवादौ प्रयोक्तव्यं कार्याकार्यविचक्षणै' ।

न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना ।
साम्नैव विलयं याति विद्वेषिप्रभवं तमः ॥ ४११ ॥

तथा यत्त्वं मन्त्रित्वमभिलषसि, तदप्ययुक्तम्,-यतस्त्वं मन्त्रगतिं न वेत्सि । पञ्चविधो हि मन्त्रः । स च (१) कर्मणामारम्भोपायः । (२) पुरुषद्रव्यसम्पत् । (३) देशकालविभागः । (४) विनिपातप्रतीकारः । (५) कार्यसिद्धिश्चेति । सोऽयं स्वाम्यमात्ययोरेकतरस्य किं वा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः ? । तद्यदि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः । भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा । उक्तञ्च—

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, स्वस्थे को वा न पण्डितः ? ॥ ४१२ ॥

कोप । शर्करया=मधुरया सितया । पटोलेन=तिक्तौषधिभेदेन । कि प्रयोजनं ? =न प्रयोजनमित्यर्थ. । विजानता=पण्डितेन । 'सामसिद्धानी ति गौडा पठन्ति। विक्रिया=विकारम् ॥ ४१० ॥ विद्वेषिप्रभवं=रिपुसमुद्भूतं । तम =द्वेष, अन्धकारश्च । चन्द्रादिभिर्नापयाति, किन्तु सान्त्वेनैवेति भाव ॥ ४११ ॥

मन्त्रगतिं=मन्त्रविधिं, मन्त्रप्रकाराश्च ।

कर्मणामिति । अभीष्टाना कार्याणाम्–आरम्भे=साधने । उपाया.=सन्धिविग्रहादय· । कार्याणा साधने सहायभूताश्च–धनपुरुषादय., तेषा सम्पत्ति.–समृद्धि । कार्यसाधने देशस्य कालस्य च विभाग –'अस्मिन् काले इदं कर्त्तव्यम्' 'अस्मिन्देशे इदं कर्त्तव्य'मिति । विनिपातस्य=कार्यसाधनमार्गे आगताया विपत्ते प्रतीकार·=समाधानम् । कार्यस्य साधने सन्धिविग्रहादौ या विपदः सम्भाव्यन्ते तासामादावेव निराकरणमित्यर्थ. । कार्यस्य=अभीष्टस्य सिद्धिश्चेत्यर्थ· । तदुक्तं कामन्दकीये-'सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयो । विनिपातप्रतीकार· सिद्धि पञ्चाङ्गमिष्यते' ॥ इति ।

सोऽयं = पुरोऽनुभूयमानः । एकतरस्य=द्वयोर्मध्ये एकस्य । विनिपात·=विनाश । लग्न समुत्पद्यते=मन्त्रप्रयोगानन्तरमेव संलग्न इव समुपदृश्यते ।

---

१ 'नोग्मयूखेन नातपेन न रत्नेन व'ह्नना' इति पाठान्तरम् ।

तन्मूर्ख ! तत्कर्तुमसमर्थस्त्वं । यतो विपरीतबुद्धिरसि ।

उक्तञ्च—

घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोषोऽयं । स्वामिनो दोषः, यस्ते वाक्यं श्रद्दधाति । उक्तञ्च—

नराधिपा नीचजनानुवर्त्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये ।
विशन्ति ते दुर्गममार्गनिर्गमं सपत्नसम्बाधमनर्थपञ्जरम् ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि,—तदान्योऽपि कश्चिन्नास्य समीपे साधुजनः समेष्यति । उक्तञ्च-

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते ।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राहो यथा ह्रदः ॥ ४१५ ॥

तथा शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति ।

शक्ति =विनिपातप्रतीकारचिन्तने तव शक्तिरस्ति चेत् । तत्=तर्हि । भिन्न-सन्धाने=विकृतसमाधाने (बिगडी बात को बनाने मे) । तत्=विकृतसमीकरणम् । (यत ='क्योंकि') विपरीतबुद्धि =असमीक्ष्यकारी, अतत्त्वदर्शी च । घातयितुं=नाशयितुम् । क्वचित्तथैव पाठ । आखो =मूषिकस्य । अन्नपिटम्=अन्नपिटकम् । (पिटक = 'पेटी' 'सन्दूख' 'बखार') । अत्र 'वट' मिति पाठे–मूलकर्त्तनादिना वटवृक्ष पातयितुं मूषक प्रभवति, नोत्थापयितुमित्यर्थो बोध्य ॥४१३॥

श्रद्दधाति=विश्वसिति । नराधिपा =राजान. । नीचजनानुवर्त्तिन =दुष्टजनानुविधायिन सन्त ,–बुधोपदिष्टेन=सज्जनपण्डितोपदिष्टेन । पथा=मार्गेण । अमार्गनिर्गमम्=मार्गानुसन्धानशून्यम्–अतएव दुर्गं=दुर्गम, सपत्नसम्बाध=शत्रुसङ्कुलम् अनर्थपञ्जरम्=विपज्जालं–प्रविशन्तीति सम्बन्ध ।(पञ्जर=पिंजरा)॥४१४॥

गुणालय =गुणवान् । क्वचित् 'गुणवान्' इत्येव पाठ । असन्मन्त्री=दुष्टमन्त्रिसमन्वित ।नाधिगम्यते=नाश्रीयते । 'विद्वद्भि'रिति शेष । दुष्टग्राह =दुष्टग्राहाश्रित ॥ ४१५ ॥

---

१ 'नीचमतानुवर्त्तिन'। 'नीचमनोऽनुवर्त्तिन' इति ।

उक्तञ्च—

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः ।
ये रमन्ते नृपास्तेषां रमन्ते रिपवः श्रियम् ॥ ४१६ ॥

तत्किं मूर्खोपदेशेन ? । केवलं दोष एव न गुणः । उक्तञ्च—

नाऽनाम्यं नमते दारु, नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया ।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?'। सोऽब्रवीत्—

१७. सूचीमुखवानरकथा

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे वानरयूथम् । तच्च कदाचिद्धेमन्तसमयेऽतिकठोरवातसंस्पर्शवेपमानकलेवरं, तुषारवर्षोद्धतप्रवर्षद्धनधारानिपातसमाहतं न कथञ्चिच्छान्तिमगमत् ।

अथ केचिद्वानरा वह्निकणसदृशानि गुञ्जाफलान्यवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्तः समन्तात्तस्थुः ।

अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेषां तं वृथायासमवलोक्य प्रोवाच—'भोः ! सर्वे मूर्खा यूयम्, नैते वह्निकणाः, गुञ्जाफलानि एतानि । तत्किं वृथा श्रमेण ? । नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति,

---

चित्रास्वादकथैः = नानारसाश्रयस्तुतिकथामात्रसारैः । ('खुशामदी'—जी हुजूर' 'गप्पी')। अनायासितकार्मुकैः =अनभ्यस्तकोदण्डाकर्षणैः । अज्ञातशस्त्रास्त्रप्रयोगैरिति यावत् । रमन्ते=प्रसीदन्ति । तेषां स्त्रियमिव—श्रियं=राजलक्ष्मीम्, रिपवो रमन्ते=रमयन्ति । तस्य राज्यं नश्यतीति यावत् ॥ ४१६ ॥

अश्मनि=पाषाणे । क्षुरक्रिया=क्षुरकर्म । 'सूचीमुख'इति पक्षिविशेषनामधेयम् । अशिष्याय=उपदेशायोग्याय ॥४१७॥ तच्च—कपियूथञ्च । अतिकठोरस्य वातस्य यः संस्पर्शः=सम्पर्कस्तेन वेपमानं कलेवरं=वपुर्यस्य तत्तथा । तुषारवर्षेण उद्धतः=दुःसहः शब्दायमानश्च प्रवर्षन् यो घनः=मेघः, तस्य धाराणां

---

१ 'चित्रचाटुकरै'रिति । २ 'रमन्ते रिपवः श्रिया' पा० ।
३ 'न शस्त्रं क्रमतेऽश्मनि । सूचीमुख्या इवाऽशिष्ये नोपदेशः सुखावहः' । 'न शल्कं वहतेऽश्मनि । सूचीमुख विजानीहि योऽशिष्यायोपदिष्टवान्' इति पा० ।

तदन्विष्यतां कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो, गुहा वा, गिरिकन्दरो वा, अद्यापि साटोपा मेघा दृश्यन्ते ।'

अथ तेषामेकतमो वृद्धवानरस्तमुवाच-'भो मूर्ख ! किं तवानेन व्यापारेण । तद्गम्यताम् । उक्तञ्च—

मुहुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारं पराजितम् ।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥ ४१८ ॥

तथा च-

आखेटकं वृथाक्लेशं, मूर्खं व्यसनसंस्थितम् ।
आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम् ॥ ४१९ ॥

सोऽपि तमनादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह-भोः ! किं वृथा क्लेशेन ? । अथ यावदसौ न कथञ्चित्प्रलपन्विरमति तावदेकेन वानरेण-व्यर्थश्रमत्वात्कुपितेन-पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि-'नानाम्यं नमते दारु' इत्यादि ॥❀॥ तथा च-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥ ४२० ॥

निपातेन=पतनेनाहतं=ताडितमिति वानरयूथविशेषणम् । हिमवर्षाघातपीडितवपुरित्यर्थ । अतोऽन्यथाऽपि समाससम्भव । समन्तात्=सर्वत । यूयं-वानरा । निर्वात =वातरहित । गुहा=गिरिगह्वरमकृत्रिमम् । कन्दर =कृत्रिमं गिरिगह्वरम् । साटोपा =प्रवृद्धवीर्या , वर्षणप्रवणा । (आटोप='जोश') । अनेन=परोपदेशरूपेण ।

मुहुः = भृश । विघ्नितकर्माणं=निष्फलप्रयत्नम् । पराजितं-द्यूतकारञ्च ('हारा हुआ जुआरी') न आलापयेत्=न संभाषेत । वृथाक्लेशं=निष्फलप्रयत्नम् । आखेटक=मृगयुम् । ('शिकारी') । व्यसनसंस्थितं=विपत्तिग्रस्तं, मूर्खञ्च-यो मूर्ख —आलापयति=तेन सह वार्त्तालापं करोति, स पराभवं गच्छतीत्यर्थ. ॥४१९॥ तं=वृद्धवानरम्, अनादृत्य=तदुक्तमविगणय्य । अनवरतं=निरन्तरं । व्यर्थश्रमत्वात्=अग्निप्रज्वालनव्यापरस्य तस्य वृथाभूतत्वात । पक्षाभ्यां गृहीत्वा=पक्षयोर्गृहीत्वा ('पंख पकड़कर') । आस्फालित = पातित ('पटका गया') ।

अन्यच्च—

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृही कृतः॥ ४२१॥

दमनक आह-'कथमेतत्?'। सोऽब्रवीत्-

१८. वानर-चटकदम्पति-कथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे शमीवृक्षः। तस्य लम्बमानशाखायां कृतावासावरण्यचटकदम्पती वसतः स्म। अथ कदाचित्तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं-मन्दं वर्षितुमारब्धः। अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धुषितशरीरो दन्तवीणां वादयन्वेपमानस्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः। अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह—'भो भद्र!

हस्तपादसमायुक्तो दृश्यसे पुरुषाकृतिः।
शीतेन भिद्यसे मूढ! कथं न कुरुषे गृहम्?॥ ४२२॥

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह-'अधमे! कस्मान्न त्वं मौनव्रता भवसि?। अहो! धाष्टर्यमस्याः, अद्य मामुपहसति!।

सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी[1]।
नाशङ्कते प्रजल्पन्ती तत्किमेनां न हन्म्यहम्॥ ४२३॥

एवं विचिन्त्य तामाह-'मुग्धे! किं तव ममोपरि चिन्तया?।

उपरत=मृत। यादृशे तादृशे=पामराय अविज्ञातकुलशीलाय च। चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। (चाहे जिसको)। निर्गृही=गृहविहीन ॥४२१॥

उद्देशे=प्रदेशे। शमीवृक्ष=सक्तुफलावृक्ष', ('जाट' का पेड)। हेमन्तमेघ=हेमन्तकाले भवो मेघ.। शाखामृग=वानर। वातासारसमाहत=शीतेन वायुना चलवता वर्षेण च ताडित'। प्रोद्धुषितशरीर=सङ्कुचितगात्र, शब्दायमानवपुश्च। दन्तवीणा वादयन्=दन्तान् दन्तैर्वादयन् (जाडे के मारे दांत कटकटाता हुआ)। हस्तपादसमायुक्त=उद्योगसमर्थोऽविकलहस्तपादयुत। भिद्यसे=पीड्यसे। 'खिद्यसे' इति गौडा पठन्ति। अधमे!=पापे! मौनव्रता=वाचयमा ('चुप')। धाष्टर्य=

---

१ 'पण्डितमानिनी'।

उक्तञ्च—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेपतः।
प्रोक्तं श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

तत्किं बहुना तावत्,-इदानीमनुभव निजस्य धार्ष्ट्यस्य फल'-मित्युक्त्वा यत्कुलायस्थितया तयाऽभिहित स तावत्तां शमीमारुह्य तस्यास्तं कुलाय शतधा खण्डशोऽकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि-'उपदेशो न दातव्यः,—' इति। ❀।

तन्मूर्ख! शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय संपद्यते, नाऽसाधोः।

उक्तञ्च—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम्।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाऽऽहितः ॥ ४२५ ॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नाऽऽत्मनः शान्तिमपि वेत्सि। तन्नूनमपजातस्त्वम्। उक्तञ्च—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्यः शास्त्रवेदिभिः ॥ ४२६ ॥
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥ ४२७ ॥

निर्लज्जत्वम्। विशेषत =अवश्यमेव। अरण्यरुदितोपमम्=वने रोदनमिव निरर्थकम् ॥ ४२४ ॥ कुलाय'=नीडम्। अभिहित =प्रार्थित। शिक्षापित =उपदिष्टोऽपि। त्वं=दमनक। पाण्डित्यम=उपदेशादिकौशलम्। पिधानसहिते घटे स्थापितो दीपो यथा न गृहान्धकारनाशकस्तथा मूर्खेऽपात्रे योजित उपदेशो व्यर्थ एवेत्यर्थ ॥ ४२५ ॥ मम=करटकस्य। आत्मन शान्तिमपि न वेत्सि= वृथैवात्मान क्लेशयसि। विलयं गच्छन्तीमात्मन शान्ति न गणयसि [2] अतोऽपजात =अधमाधमोऽसि। चतुर्विधान्पुत्रानाह—जात इति। तस्मात्=पितु। अप-

---

१. 'शिक्षा ग्राहितोऽपि'। २ 'किं करिष्यति पाण्डित्यमपात्रे प्रतिपादितम्। सपिधानघटान्तस्थ प्रदीप इव वेश्मनि। इति पाठा०।

अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कवन्धः ॥ ४२८ ॥

अहो ! साध्विदमुच्यते—

धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम ।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४२९ ॥

दमनक आह–कथमेतेत् ? । सोऽब्रवीत्—

१९. धर्मबुद्धि–पापबुद्धि–कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्चेति द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्म । अथ कदाचित्पापबुद्धिना चिन्तितम्–'अहं तावन्मूर्खो दारिद्र्योपेतश्च, तदेनं धर्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वाऽस्याश्रयेणार्थोपार्जनं कृत्वैनमपि वञ्चयित्वा सुखी भवामि ।'

अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्राह–'भो मित्र ! वार्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरसि ? । देशान्तरमदृष्ट्वा कां शिशुजनस्य वार्त्तां कथयिष्यसि ? । उक्तञ्च–

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम् ।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥

तथा च—

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः' ॥ ४३१ ॥

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनास्तेनैव सह गुरुजना-

जातः=पितुरधमाधमः, पितृतोऽतिन्यूनगुणः ॥ ४२७ ॥ स्वसम्बन्धिनो मस्तकस्य नाशे कवन्धः=मस्तकरहितो देहः, नृत्यति, इति हन्त ! परस्य=शिरसो नाशे हर्षः खलकवन्धस्य ॥ ४२८ ॥

अधिष्ठाने=नगरे । वार्धकभावे=वृद्धावस्थायाम् । आत्मविचेष्टितं=स्वकृत्यम् । स्मरसि=स्मरिष्यसि । शिशुजनस्य=स्वपुत्रादिबालेभ्यः । धरणीपीठे=भूतले ॥४३०॥ सम्यक्=प्रभूतम् । हृष्टः=समुत्सुकः ॥ ४३१ ॥

---

१ 'तनयेनाऽतिपाण्डित्या'दिति,'मारित' इति चोत्तरार्धे पाठान्तरम् । २ 'स्मरिष्यसि' ।

नुज्ञातः शुभेऽहनि देशान्तरं प्रस्थितः। तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम्। ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ। उक्तञ्च—

प्राप्तविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम्।
क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत्॥ ४३२॥

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहितः—'भद्र! न सर्वमेतद्धनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते, यतः कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते, तदत्रैव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय गृहं प्रविशावः। भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्रं समेत्याऽस्मात्स्थानान्नेष्यावः। उक्तञ्च—

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्य चित्स्वल्पमप्यहो!।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः॥ ४३३॥

तथा च—

यथाऽऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्'॥ ४३४॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र! एवं क्रियताम्।' तथानुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ। अथाऽन्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्यां गत्वा तत्सर्वं वित्तं समादाय गर्तं पूरयित्वा स्वभवनं जगाम। अथाऽन्येद्युर्धर्मबुद्धिं समभ्येत्य प्रोवाच—'सखे! बहुकुटुम्बा वयं वित्ताभावात्सीदामः, तद्गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मात्रं धनमानयावः।' सोऽब्रवीत्—'भद्र! एवं क्रियताम्!'

प्रभूततर=विपुलं। वित्त=धनम्। आसादितम्=उपार्जितम्। औत्सुक्येन=उत्कण्ठया। प्राप्ता अर्था विद्या शिल्पं च यैस्तेषां=कृतकृत्यानाम्। भूभागः=प्रदेशः। सञ्जाते=उपस्थिते। तन्मात्रम्=अवशिष्टं धनं। 'तावन्मात्र' मिति पाठे यथावश्यकमित्यर्थः। तस्य=वित्तस्य॥४३३॥ आमिषं=मांसं। श्वापदैः=हिंस्रजन्तुभिः। तथा सर्वत्र वित्तवान्। 'भक्ष्यते' इति शेषः॥ ४३४॥

अथ द्वावपि गत्वा तत्स्थानं यावत्खनतस्तावद्रिक्तं भाण्डं दृष्टवन्तौ। अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन्प्रोवाच-'भो धर्मबुद्धे! त्वया हृतमेतद्धनं नान्येन, यतो भूयोऽपि गर्ताऽऽपूरणं कृतम्! तत्प्रयच्छ मे तस्याऽर्धम्। अथवाऽहं राजकुले निवेदयिष्यामि।'

स आह-'भो दुरात्मन्! मैवं वद,-धर्मबुद्धिः खल्वहम्, नैतच्चौरकर्म करोमि। उक्तञ्च—

मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः' ॥ ४३५ ॥

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं[1] गतौ—प्रोचतुश्च परस्परं दूषयन्तौ। अथ धर्माधिकरणाऽधिष्ठितपुरुषैर्[2]दिव्यार्थं यावन्नियोजितौ तावत्पापबुद्धिराह-'अहो! न सम्यग्दृष्टोऽयं न्यायः। उक्तञ्च—

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः।
साक्ष्यभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ४३६ ॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवताः साक्षीभूतास्तिष्ठन्ति, ता अप्यावयोरेकतरं चौरं साधुं वा कथयिष्यन्ति[3]।' अथ तैः सर्वैरभिहितम्-'भोः! युक्तमुक्तं भवता। उक्तञ्च—

एवं=यथा तुभ्यं रोचते तथा। सीदाम=क्लेशमनुभवाम। यत इति। यदि चौरेण हृतं स्यात्तदा पुनर्गर्त्तपूरणं तेन न कृतं स्यात्। त्वयैवैतदपहृतमतो गर्त्तपूरणं त्वया चौर्यगोपनाय कृतमित्यर्थः। तस्य=हृतस्य धनस्य। लोष्ट=मृत्खण्डम्। वीक्षन्ते=पश्यन्ति ॥ ४३५ ॥ धर्माधिकारी=विवादनिर्णेता, ('जज')। धर्माधिकरणम्=राजकुलम्। (कचहरी 'अदालत')। दिव्यार्थं=अग्निस्पर्श-भुजङ्गग्रहण-तुलारोहण-विषपानाद्यन्यतमरूपदिव्यशपथकरणाय। नियुक्त=आदिष्ट.। न सम्यग्दृष्ट.=न यथावन्निर्णीत (ठीक फैसला नहीं हुआ) विवादे=कलहे('मुकदमा')। पत्रं=लेख। अन्विष्यते=प्रमाणतया अन्विष्यते गृह्यते च। 'साक्षिण'-अन्विष्यन्ते'-

---

१ 'धर्माधिकरणं। २ 'धर्माधिकरणिकै.। ३ 'करिष्यन्ति'। पा०।

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ! ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत्कौतूहलं वर्तते । प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभिः सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्'-इति ।

एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच-'तात ! प्रभूतोऽयं मयाऽर्थो धर्मबुद्धेश्चोरितः । स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति । अन्यथाऽस्माकं प्राणैः सह यास्यति' ।

स आह-'वत्स ! द्रुतं वद येन प्रोच्य तद्द्रव्यं स्थिरतां नयामि ।' पापबुद्धिराह-'तात ! अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी । तस्यां महत्कोटरमस्ति, तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश । ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं, यद्-'धर्मबुद्धिश्चोरः'—इति ।

तथानुष्ठिते प्रत्यूषे स्नात्वा पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिपुरःसरो धर्माधिकरणिकैः सह तां शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच—

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥४३८॥

भगवति वनदेवते ! आवयोर्मध्ये यश्चौरस्तं कथय ।'

अथ पापबुद्धिपिता शमीकोटरस्थः प्रोवाच-'भोः ! शृणुत ! धर्मबुद्धिना हृतमेतद्धनम्' ! । तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्ललोचना यावद्धर्मबुद्धेर्वित्तहरणोचितं निग्रहं शास्त्रदृष्ट्याऽवलोकयन्ति तावद्धर्मबुद्धिना तच्छमीकोटरं वह्निभोज्यद्रव्यैः परिवेष्ट्य वह्निना सन्दीपितम् । अथ ज्वलति तस्मिञ्छमीकोटरे-

---

इति सम्बन्ध । साधुम्=अचौर ('साहूकार') । परिणति=स्थिरताम् । ('पचना' 'पूर्ण अधिकार मे आता है') । प्राणै सह=मृत्युना सह । तत्प्रदेशे=वनप्रदेशे । कोटरं=निष्कुह । ('खोखला भाग') । साम्प्रतम्=इदानीमेव । सत्यश्रावणम्=सत्याऽसत्यनिर्णयप्रार्थना । ('धर्मकी दुहाई देना') । तथानुष्ठिते=तत्पितरि तत्र गते सति । प्रत्यूषे=प्रभाते । वृत्तम्= चरितम् ॥ ४३८ ॥ विस्मयोत्फुल्ललोचनाः=आश्चर्य-

ऽर्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः करुणं परिदेवयन्पापबुद्धिपिता निश्चक्राम। ततश्च तैः सर्वैः पृष्टः-'भोः किमिदम् ?'। इत्युक्ते स 'पापबुद्धिविचेष्टितं सर्वमिदं'मिति निवेदयित्वोपरतः।

अथ ते राजपुरुषाः पापबुद्धिं शमीशाखायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशस्येदमूचुः-'अहो ! साध्विदमुच्यते—

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत्।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः' ॥ ४३९ ॥

धर्मबुद्धिः प्राह-'कथमेतत् ?'। ते प्रोचुः—

२० मूर्खबकनकुलकथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादपः। तस्य कोटरे कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म। स च बकबालकानजातपक्षानपि सदैव भक्षयन्कालं नयति स्म। अथैको बकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात्सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति। तञ्च तादृक्चेष्टितमवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच-'माम ! किमेवं रुद्यते भवताऽद्य ?'। स आह-'भद्र किं करोमि ?। मम मन्दभाग्यस्य बालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः। तद्दुःखदुःखितोऽहं रोदिमि। तत्कथय मे-यद्यस्ति कश्चिदुपायस्तद्विनाशाय ?।'

तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास-'अयं तावदस्मज्जातिसहजवैरी, अतस्तत्तथा सत्यानृतमुपदेशं[१] प्रयच्छामि, यथान्येऽपि

विस्फारितनयना। निग्रहं=दण्डम्। वह्निभोज्यद्रव्यैः=आशुविदाहितृणलाआदिद्रव्यैः। स्फुटितेक्षणः=विनष्टनेत्रः। परिदेवयन्=विलपन्। उपरतः=मृतः। प्रतिलम्ब्य=तदालम्बनपूर्वकं घातयित्वा।

प्रशस्य=पारितोषिकादिदानेन सत्कृत्य। अपायम्=विनाशं, हानिञ्च ॥ ४३९ ॥

तेन=सर्पेण। शिशुवैराग्यात्=पुत्रमरणशोकात्। बाष्पपूरपूरितनयनः=अश्रुजालाविललोचनः। कुलीरकः=कर्कटकः। (माम=मम्मा। भद्र=भैय्या)

१ 'तथोपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं'। 'तथाविधं सत्यानृतं' पा०।

सर्वे वकाः संक्षयमायान्ति । उक्तञ्च-

'नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।
तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो म्रियते यथा' ॥ ४४० ॥

आह च-'माम ! यद्येवं तन्मत्स्यमांसखण्डानि नकुलबिल-द्वारात्सर्पकोटरं यावत्प्रक्षिप, यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं विनाशयति।' अथ तथानुष्ठिते मत्स्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्णसर्पं निहत्य सोऽपि, तद्वृक्षाश्रयाः सर्वे बकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः । अतो वयं ब्रूमः-'उपायं चिन्तयेत्- ' इति । *

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नाऽपायः, ततस्तत्फलं प्राप्तम् ।' अतोऽहं ब्रवीमि-'धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च-' इति * ।

एवं मूढ ! त्वयाऽप्युपायश्चिन्तितो नाऽपायः, पापबुद्धिवत् । तन्न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापबुद्धिरसि । ज्ञातो मया, स्वामिनः प्राणसन्देहानयनात् । प्रकटीकृतं त्वया स्वयमेवात्मनो दुष्टत्वं, कौटिल्यञ्च । अथवा साध्विदमुच्यते-

यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम् ।
यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयुः ॥ ४४१ ॥

यदि त्वं स्वामिनमेनां दशां नयसि ! तदस्मद्विधस्य का गणना ? । तस्मान्ममासन्नेन भवता न भाव्यम् । उक्तञ्च—

तद्विनाशाय=सर्पनाशाय । सत्यानृत=कपटपूर्ण सत्य । सत्यमिव-हितकारकमिव-भासमानमपि परिणामे हानिकारकम् । नवनीत=हैयङ्गवीन= ('नौनी घी' 'मक्खन') । सान्वय =सपुत्रकलत्रभृत्यपरिवार ॥४४०॥ त्वया=दमनकेन । स्वामिन =पिङ्गलकस्य । युद्धे हि प्राणाना सन्देह स्फुट एवेत्याशय । शिखिनाम्=मयूराणाम् । आहारनिस्सरणमार्ग=मलनिर्गमनद्वार । गुदम् । वर्हभारावृतत्वात्तद्गुदस्येति भाव । जलदध्वनिमुदिता =मेघध्वनिश्रवणहर्षिता । नृत्ये वर्हभारस्योच्चैरुत्थापनान्मलनिर्गमनमार्ग (स्वगुदच्छिद्र) तै स्वयमेवात्मनश्चाञ्चल्यात्प्रकटीक्रियते इत्याशय ॥ ४४१ ॥

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ! ।
राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४२॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' । सोऽब्रवीत्—

२१. लौहतुलावणिक्पुत्रकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो (नाडुको) नाम वणिक्पुत्रः । स च विभवक्षयाद्देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्—

यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगा भुक्ता स्ववीर्यतः ।
तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः ॥ ४४३ ॥

तथा च-येनाहङ्कारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा ।
दीनं वदति तत्रैव यः परेषां-स निन्दितः ॥ ४४४ ॥

तस्य च गृहे लोहपलसहस्रघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीत् । तां च कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच-'भोः श्रेष्ठिन् ! दीयतां मे सा निक्षेपतुला ।

स आह-'भोः ! नास्ति सा त्वदीया तुला, मूषिकैर्भक्षिते'ति। जीर्णधन आह-'भोः ! श्रेष्ठिन् ! नास्ति दोषस्ते यदि मूषिकैर्भक्षितेति । ईदृगेवायं संसारः, न किञ्चिदत्र शाश्वतमस्ति । परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि, तत्त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय'—इति । सोऽपि निजचौर्यशङ्कितः स्वपुत्रमुवाच-'वत्स ! पितृव्योऽयं तव स्नानार्थं यास्यति,

तुलां=तोलनसाधनम् ('तराजू' 'तखडी')। लोहसहस्रस्य=लोहपलसहस्रस्य, (पल=१ छटाक, १००० पल=१ मण २२॥ सेर)। हे राजन् ! तत्र=तस्मिन् देशे ग्रामे वा ॥ ४४२ ॥ अधिष्ठाने=ग्रामे । 'जीर्णधन ' इत्यस्य स्थाने 'नाडुक' इति पुस्तकान्तरे पाठ । विभवक्षयात्= । विलसित=सुखेन स्थितम् । परेषा पुरतो दीनं वसति=तिष्ठति । वसतीत्यत्र 'वदती'ति पाठान्तरम् ॥ ४४ ॥

१ 'श्येनः कुञ्जरहत्तम्र, कि चित्रं यदि पुत्रहृत्' इति पा० ।
२ चौर्यभयात्तस्य शङ्कितः' इति मुद्रितः पाठ ।

तद्गम्यतामनेन सार्धं स्नानोपकरणमादाय'–इति । अहो ! साध्विदमुच्यते—

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः ।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥ ४४५ ॥

तथा च—

अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः ।
तत्राऽऽशङ्का प्रकर्तव्या परिणामे सुखावहा[1] ॥ ४४६ ॥

अथाऽसौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाऽभ्यागतेन सह प्रस्थितः । तथानुष्ठिते स वणिक्स्नात्वा तं शिशुं गिरिगुहायां प्रक्षिप्य तद्द्वारं बृहच्छिलयाऽऽच्छाद्य सत्वरं गृहमागत ।

पृष्टश्च तेन वणिजा—'भोः ! अभ्यागत ! कथ्यतां कुत्र मे शिशुर्यस्त्वया सह नदीं गतः ?'–इति । स आह–'नदीतटात्स श्येनेन हृतः'–इति । श्रेष्ठ्याह–'मिथ्यावादिन् ! किं क्वचिच्छ्येनो बालं हर्तुं शक्नोति ? । तत्समर्पय मे सुतम् , अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि'–इति । स आह 'भोः ! सत्यवादिन् ! यथा श्येनो बालं न नयति,–तथा मूषिका अपि लोहतुलासहस्रघटितां तुलां न भक्षयन्ति, तदर्पय मे तुलाम् , यदि दारकेण प्रयोजनम् ।'

एवन्तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुलं गतौ । तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच–'भोः अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! मम शिशुरनेन चौरेणाऽपहृतः' ।

अथ धर्माधिकारिणस्तमूचुः–'भोः ! समर्प्यतां श्रेष्ठिसुतः ।' स आह–'किं करोमि ? । पश्यतो मे नदीतटाच्छ्येनेनापहृतः

'लोहपलसहस्रघटिते' त्यस्य स्थाने–लोहभारघटिते'ति क्वचित्पाठ । निक्षेप=न्यासः[2] । ('धरोहर')। निक्षेपतुला=निक्षेपभूता तुला । शाश्वत=स्थिरम् । तत्=तस्मात् । स्नानोपकारण=धौतवस्त्रादि । कार्यकारणम्=प्रयोजनादिकम् ('मतलब') ॥ ४४५ ॥ श्येनः=पक्षी ('बाज') । दारकेण=बालकेन । अब्रह्मण्यम्=महान-

---

१ 'भयावहा' 'असुखावहा' 'अभयावहे'ति च पाठान्तराणि ।

२ (न्यास='गहना धरना' कर्जा लेने के लिये) ।

शिशुः।' तच्छ्रुत्वा ते प्रोचुः-'भोः ! न सत्यमभिहितं भवता, किं श्येनः शिशुं हर्त्तुं समर्थो भवति ?'।

स आह-'भो भोः ! श्रूयतां मद्वचः—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः।
'राजंस्तत्र हरेच्छ्येनो बालकं नात्र संशयः' ॥ ४४७ ॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?'। ततः स (श्रेष्ठी-)-सभ्यानामग्रे आदितः सर्वं वृत्तान्तं निवेदयामास। ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं संबोध्य तुलाशिशुप्रदानेन सन्तोषितौ। अतोऽहं ब्रवीमि-'तुलां लोहसहस्रस्य—' इति। ❀। तन्मूर्ख ! सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वयैतत्कृतम्। अहो साध्विदमुच्यते—

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः, स्त्रीवल्लभं दुर्भगा,
दातारं कृपणा, ऋजूननृजवस्तेजस्विनं कातराः।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं, सौख्यस्थितं दुःस्थिता,
नानाशास्त्रविचक्षणञ्च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥४४८॥

तथा च—मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या, निर्धनाना महाधनाः।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः॥ ४४९ ॥

तन्मूर्ख ! त्वया हितमप्यहितं कृतम्। उक्तञ्च—

पण्डितोऽपि वरं शत्रुर्न मूर्खो हितकारकः।
वानरेण हतो राजा, विप्राश्चौरेण रक्षिताः ॥ ४५० ॥

दमनक आह—'कथमेतत्?'। सोऽब्रवीत्—

२२. नृपसेवकवानर-कथा

कस्यचिद्राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तः-

न्यायः। ('दुहाई सरकार की') सभ्याना=निर्णेतृणा ('जज मजिस्ट्रेट')। संबोध्य=उपदिश्य। ('समझा-बुझाकर')। स्त्रीवल्लभं=स्त्रीप्रिय, दुर्भगाः=कुलटा., असौभाग्यशालिन्यश्च ॥ ४४८ ॥

---

१ 'वित्ते स्थितं निर्धना'। २ 'धर्माश्रय पापिनः'।

१ 'न तु मित्रमपण्डितम्। स्ववध्यार्थं नृपश्चौरो वानरेण हतो नृपः' पा०।

पुरेऽप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रागतस्य वानरे व्यञ्जनं नीत्वा वायुं विदधति राज्ञो वक्षः-स्थलोपरि मक्षिकोपविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानापि पुनः पुनस्तत्रैवोपविशति ।

ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्णं खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः । ततो मक्षिकोड्डीय गता तेन शितधारेणाऽसिना राज्ञो वक्षो द्विधा जातं, राजा मृतश्च । तस्माच्चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः।

अपरम्—एकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान्-परं पूर्व-जन्मयोगेन चौरो वर्तते । स तस्मिन्पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो विप्रान्बहूनि वस्तूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्–'अहो ! केनोपायेनैषां धनं लभे ?' । इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि चातिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा । अथवा साध्वि-दमुच्यते—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरञ्च शीतलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥ ४५१ ॥

अथ तस्मिन्सेवां कुर्वति तैर्विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहु-मूल्यानि रत्नानि क्रीतानि । ततस्तानि जङ्घामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः । ततः स धूर्तविप्रस्ता-न्विप्रान् गन्तुमुद्यतान्प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः ।

'अहो ! धनमेतन्न किंचिन्मम चटितम् । अथैभिः सह यामि, पथि क्वापि विषं दत्त्वैतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि ।'–

–इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्यैवमाह–'भो मित्राणि ! यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यता', तन्मे मनो भवद्भिः सह

अङ्गसेवक=शरीररक्षक । अप्रतिषिद्ध प्रसरो यस्यासौ तथा=अनवरुद्ध-गमन । तत्रैव=वक्षसि । तस्या =मक्षिकाया ।

पुरः=अग्रे । तत्समक्ष=पश्यतश्चौरस्य पुरत । चटितम्=हस्ते लग्नम् ।

स्नेहपाशेन बद्धं भवद्भिरहनाम्नैव तथाऽऽकुलं सञ्जातं, यथा धृतिं क्वापि न धत्ते, यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत।' तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्तास्तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः।

अथाऽध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाङ्क्षाः कथयितुमारब्धाः-'रे रे किराताः! धावत धावत! सपादलक्ष-धनिनो यान्ति, एतान्निहत्य धनं नयत'!!। तत. किरातैर्ध्वाङ्क्ष-वचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः, परं धनं किञ्चिन्न लब्धम्। तदा तैः किरातैरभिहितम्-'भोः पान्थाः! पुरा कदापि ध्वाङ्क्ष-वचनमनृतं नासीत्, ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते तदर्पयत, अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्ग प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः-'इति।

तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्ति-तम्-'यदैषां विप्राणां वधं विधायाऽङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदा मामपि वधिष्यन्ति। ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्यैतान् रक्षामि। उक्तञ्च—

मृत्योर्बिभेषि किं बाल! न स भीतं विमुञ्चति।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥ ४५२॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः।
सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम्॥॥ ४५३॥

—इति निश्चित्याऽभिहितञ्च-'भोः किराताः! यद्येव ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत'-इति। ततस्तैस्तथाऽनुष्ठिते तं धन-

---

'चढित'मिति पाठान्तरम्। ('हमारे हाथ कुछ भी न चढा')। धृतिं=धैर्यम्। पल्लीपुरमध्ये=किरातपुरमध्ये। ध्वाङ्क्षा=काका। (सपादलक्षधनिन.=सवालाख के धनी)। मोचयित्वा=पृथक्कृत्य ('तलासी लेकर')। अनृत=मिथ्या। अरत्नं=

रहितमवलोक्याऽपरे चत्वारोऽपि मुक्ताः । अतोऽहं ब्रवीमि-'पण्डितोऽपि वरं शत्रुः-'इति । ❀

अथैवं संवदतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात ।

अथ तं गतासुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच-'भो ! अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता । यतो विश्वासघातादन्यन्नास्ति पापतरं कर्म । उक्तञ्च—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः ।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४५४ ॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे ।
नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः समत्वं, नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥४५५॥

तथा मया सभामध्ये स सदैव प्रशंसितः । तत्किं कथयिष्यामि तेषामग्रतः । ? उक्तञ्च—

उक्तो भवति यः पूर्वं 'गुणवा' निति संसदि ।
न तस्य दोषो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५६ ॥

एवं बहुविधं प्रलपन्तं दमनकः समेत्य सहर्षमिदमाह—'देव ! कातरतमस्तवैष न्यायो, यद्-द्रोहकारिणं शष्पभुजं हत्वेत्थं शोचसि ! । तन्नैतदुपपन्नं भूभुजाम् । उक्तञ्च—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत् ।
प्राणद्रोहं यदा गच्छेद्धन्तव्यो, नास्ति पातकम् ॥ ४५७ ॥

रत्नरहितम् । तथानुष्ठिते=पण्डितचौरे हते सति । गतासु=मृतः सन् । पापेन=पापशीलेन । भूमिक्षये-सति राजविनाश एव=राज्ञो विनाश एव मन्तव्य । किञ्च योग्यस्य भृत्यस्य विनाशे च राजविनाशो मन्तव्य । परमनयोर्भूमिभृत्ययोर्विनाशयो समता न, यतो नष्टापि भूमि सुलभा, परं नष्टा भृत्या न सुलभा इति सम्बन्ध ॥ ४५५ ॥ तेषां =सभ्यानाम् । यदा राजप्राणद्रोहं गच्छेत्=राजवधोद्यत स्यात्तदा सोऽवश्यं हन्तव्य , तत्र हते पातक नास्तीत्यर्थ ॥ ४५७ ॥

तथा च—

राजा घृणी, ब्राह्मणः सर्वभक्षी
स्त्री चाऽत्रपा, दुष्टमतिः सहायः ।
प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी,
त्याज्या अमी, यश्च कृतं न वेत्ति ॥ ४५८ ॥

अपि च—

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चाऽर्थपरा वदान्या ।
भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४५९ ॥

अपि च—

अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते ।
पूजयन्ति नरा नागान्न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥४६०॥

तथा च—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ॥४६१॥

घृणी=दयावान् । अत्रपा=निर्लज्जा । सहायः=अनुचरः मित्रञ्च । प्रेष्यः=भृत्यः । प्रतीपः=विरुद्धः । अधिकृतः=अधिकारारूढः । (अफसर) प्रमादी=अनवधानपरः । ('वेपरवाह') । कृतं न वेत्ति—कृतघ्नः ॥

सत्या=सत्यवदवभासमानाऽपि । अनृता=कूटकपटकुटिला । प्रियवादिनी=प्रियंवदाऽपि, परुषा=कठोरा । दयालुः=दयापराऽपि । हिंस्रा=हिंस्रापरा । अर्थपरा=धनलोलुपा । वदान्या=दानपरा च । नित्यव्ययेति पाठान्तरम् । भूरिव्यया, वहुलायव्ययवती च । नृपनीतिः=राजनीतिः । अनेकरूपा=विरोधिनानागुणवती ॥ ॥ ४५९ ॥ महानपि=पूजनीयगुणोपेतोऽपि । अकृतोपद्रवः=अहिंसकः । नागान्=सर्पान् । तार्क्ष्यं=गरुडम् ॥ ४६० ॥

प्रज्ञावादान्=पाण्डित्यपूर्णानि वाक्यानि । ('वहुत वढ वढ कर वोलते हो') । गतासून्=मृतान् । अगतासून्=जीवतोऽपि लोकान् ॥ ४६१ ॥

एवन्तेन सम्बोधितः पिङ्गलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत् ॥ *

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदं नाम प्रथमं तन्त्रम् ।

तेन=दमनकेन। संबोधित =सम्यक् प्रबोधित । सान्त्वित । दमनकसाचिव्येन=दमनकं सचिव कृत्वा। राज्यम्=काननसाम्राज्यम् ।

मित्रभेदमिति । मित्रयोर्भेदो यस्मिस्तन्त्रे तन्मित्रभेदमिति विग्रह । मित्रभेद इति पाठे तु-मित्रयोर्मित्राणा वा भेद -मित्रभेद । उपचाराच्च कथाशोऽपि मित्रभेद इत्युच्यते इत्यववेयमिति शिवम् ॥

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य-षट्शास्त्रवाचस्पति-मरुमण्डलमार्त्तण्ड पण्डितराज-
श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणा पौत्रेण, 'प्रतिवादिभयङ्करभयङ्कर'-विद्यावाचस्पति-
न्यायशास्त्राचार्य-श्री शिवनारायणशास्त्रिणां पुत्रेण,
श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां पञ्चतन्त्रा-
ऽभिनवराजलक्ष्म्या मित्रभेदं नाम
प्रथमं तन्त्रम् । *

अथ मित्रसम्प्राप्तिः

अथेदमारभ्यते मित्रसंप्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं, यस्यायमादिमः श्लोकः—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाऽऽखुमृगकूर्मवत्[1] ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते–'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्, नानाविहङ्गोपभुक्तफलः, कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् । अथवा युक्तम्–

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छदः[2]
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

---

* *श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता अभिनवराजलक्ष्मीः* *

वाचस्पत्यवतारश्रीस्नेहिरामजिशास्त्रिणाम् ।
मरुमण्डलमार्त्तण्डपादपङ्कजयोर्भजे ॥ १ ॥

असाधनाः=साधनोपायहीनाः । बहुश्रुताः=व्यवहारकुशलाः । श्रुतसम्पन्नाः ॥ १ ॥ महोच्छ्रायवान्=अतिविशालः । 'नगाद्यारोह उच्छ्राय' इत्यमरः । नानाविहङ्गोपभुक्तफलः=अनेकपत्रिक्षिन्दास्वादितफलः । छायया आश्वासिताः=सन्तोषिताः–पथिकजनसमूहा येनासौ तथा । छायायामाश्वासिताः परिश्रान्ता इति वा । न्यग्रोधपादपः=वटवृक्षः । छायेति । छायाविश्रान्तहरिणः । शकुन्तानां=पक्षिणां, निवहैः=वृन्दैः, विष्वक्=समन्तात्, विलुप्ताः=छिन्नाः, छदाः=पर्णानि यस्यासौ तथाभूतः । कीटैः=सर्पादिभिः आवृतानि=पूर्णानि, कोटराणि यस्यासौ तथा । कपिकुलैः=वानरयूथैः, स्कन्धे=प्रकाण्डे, कृतः–प्रश्रयः=प्रणयो निवासश्च यस्यासौ

---

१. 'काककूर्ममृगाखुवत्' । २ 'निवहैरालीननीलच्छदः' इति पाठान्तरम् । आलीनाः व्याप्ताः नीलच्छदाः=स्निग्धनीलपत्राणि यस्येति विग्रहः ।

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्णतनु स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिङ्कराकारो नरः सम्मुखो बभूव। अथ तं दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—'यदयं दुरात्माऽद्य ममाश्रयवटपादपसंमुखोऽभ्येति, तन्न ज्ञायते, किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां सङ्क्षयो भविष्यति ?'। एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—'भोः ! अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति, तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्, एष जालं प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति, ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटसदृशा द्रष्टव्याः'। एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतले आगत्य जालं प्रसार्य सिन्दुवारसदृशांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः। अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्तांस्तण्डुलान् हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थुः।

अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमंस्तांस्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यँल्लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतत्, सपरिवारो निबद्धश्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

तथा। मधुपै =भृङ्गै। 'विश्रब्ध'मिति क्रियाविशेषणम्। स एव द्रुम श्लाघ्यो य. सर्वाङ्गै –बहुसत्त्वसङ्गसुखद =नानाजन्तुविश्रामसुखद। अपर =इतोऽन्यादृशस्तु भूभारभूत एवेत्यर्थ ॥ २ ॥ वायस.=काक। प्राणयात्रार्थ=भोजनोपार्जनाय। स्फुटितचरण =विदीर्णपाद। यमेति। यमदूतसन्निभ इत्यर्थ। आश्रयेति। मन्निवासवटवृक्षसम्मुख इत्यर्थ। संक्षय =विनाश। तमेव=स्वनिवासभूतम्। लुब्धक =व्याध। कालकूट'=तीक्ष्णविषभेद। सिन्दुवारसदृशान्=निर्गुण्डीसदृशान्,–ईषद्रक्तान्। निभृत =प्रच्छन्न। तत्र=वटपादपे। लघुपतनकवाक्यमेव–अर्गला=निरोधदण्ड,–तया हालाहलाङ्कुरानिव=तीक्ष्णविषाङ्कुरानिव। निभृता = विनीता इव। (चुप चाप)। 'निभृतविनीतप्रश्रिता समा' इत्यमर।

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।
अचिन्तितो वधोऽज्ञाना मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

उक्तञ्च—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान् ?
रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः ? ।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं ?,
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायोः मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥

तथा च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्[1] ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान्बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे-अहो न भेतव्यम् !

उक्तञ्च—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम्[2] ॥ ६ ॥
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चाऽस्तमये तथा ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्याऽदर्शनं गत्वा।

जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम्=स्वाद लुब्धानां, अज्ञाना, जलमध्यनिवासिना मीनानामिव जडमध्यनिवासिनाम् । (जल=जड) अचिन्तित =अतर्कित , वधो जायते ॥३॥ पौलस्त्य =रावण । अन्यदारहरणे=सीताहरणे । लक्षित =ज्ञात । अक्षै = पाशकै. । अनर्थ ,=राजनाशरूप । क्षीयते=नश्यति ॥४॥ कृतान्त.=यम । कुब्ज गामिन्य.=विकलगमना , विपरीता , कुण्ठिता इति यावत् ॥५॥ तद्वधार्थं=कपोतवधार्थम् । हीयते=अवसीदति । तेषा=व्यसनानाम् । तत्प्रभावात्=बुद्धिसामर्थ्यात् ॥ एकरूपता=सादृश्यम् । रक्त =रक्तवर्ण , अनुरक्तश्च ॥ ७ ॥ हेलया=

---

१ 'दैवेनाविष्टचेतसा'मिति पाठान्तरम् । २ 'पारमभ्येत्य प्राप्नोति परम सुख'मिति पा०।

मुक्तिं प्राप्नुमः। अथ चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ, ततो मृत्युमवाप्स्यथ। उक्तञ्च—

तनवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८॥

तथाऽनुष्ठिते लुब्धको जालमादायाऽऽकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत्। तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमेनमपठत्—

'जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी।
यावच्च विवदिष्यन्ति पतिष्यन्ति न संशयः' ॥ ९॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा 'किमत्र भविष्यती'ति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति। अथ दृष्टेरगोचरतां गतान् विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठत्। उक्तञ्च—

नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति, यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १०॥

तथा च—

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद्द्रविणोदयः।
तत्सोऽन्यदपि सङ्गृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११॥

तदास्तां तावद्विहङ्गामिषलाभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं

अवज्ञया, अनायासेन च। अस्य=लुब्धकस्य। 'हेलावज्ञाविलासयो'रिति कोशः। यथा—तनवः=सूक्ष्माः। आयताः=दीर्घाः। तन्तवः=सूत्राणि। बहुलाः=बहवः। समाः=समानाः। बहुत्वात्=अनेकत्वात् मिलितत्वाच्च। यथा बहून् आयासान्=घर्षणादिभारादिखेदान्। सहन्ति=सहन्ते। तथा लोकेऽपि संहतिः कार्यसाधिकेत्यर्थः ॥८॥

तथाऽनुष्ठिते। हेलयोड्डीनेषु पक्षिषु। नहीति यत्कार्यं न भाव्यं, तन्न भवत्येव, यच्च खलु भाव्यं=भावि, तद्विनापि यत्नेन भवत्येव। यस्य=पुंसः, धनादेर्वा भवितव्यता=भाग्यं, भवनावसरो वा ॥ १०॥ विधौ=दैवे। पराङ्मुखे=अननुकूले। द्रविणोदयः=धनलाभः। तत्=तदा। सः=द्रविणोदयः। अन्यदपि=स्वनिकटस्थमपि धनम्। शङ्खनिधिरिति। केनचिद्वैश्येन कस्यचन द्विजस्य शिवार्पित शङ्ख-

---

१ वशमेष्यन्ति मे तदे'ति पाठः।

जालमपि मे नष्टम्। चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच-'भोः! निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः। तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे। तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति। उक्तञ्च-

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सन्दधे॥ १२॥

एवन्ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यकबिलदुर्गं प्रापुः। हिरण्यकोऽपि सहस्रबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभयः सुखेनास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते—

अनागतं भयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः।
अवसन्मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं बिलम्॥ १३॥
दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः॥ १४॥

तथा च-न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
तत्कर्म साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे॥ १५॥
शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः।
तस्माद्दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः॥ १६॥

निधिः—शङ्खाकारो निधिरपहृत, ततो दुःखितेन विप्रेण प्रार्थित शम्भुर्मृषाशङ्खं पूर्वशङ्खादपि गुणवत्तरतया भाव्यमानं दत्तवान्। तद्गुणाकर्णनलुब्धेन वणिजा स्वद्रविणसहितं पूर्वं गृहीतं शङ्खनिधिं दत्त्वा स मृषाशङ्खो (लपोडशंख) गृहीत, स च केवलं वदति, न किञ्चिदपि ददातीति सर्वधनापहारो वैश्यस्य शङ्खनिधिचौर्यफलतया जात इति लौकिकी कथा।

विहङ्गामिषास्य=पक्षिमासस्य-लोभ। कुटुम्बवर्त्तन=कुटुम्बजीविका('रोजी')। स्वस्थै=अव्याकुलै, संदधे=विधत्ते॥१२॥ हिरण्यकस्य बिलमेव दुर्गं ('किला')। अकुतोभय=निर्भय। अनागतमपि=अनुपस्थितमपि, दृष्ट्या=बुद्ध्या पूर्वमेव विभाव्य। दंष्ट्रा=विषदंष्ट्रा ('जहर के दात')॥ १४॥ साध्यते' इत्यत्र 'जायते' इत्यपि पठन्ति॥ १५॥ सन्धत्ते=युध्यते॥ १६॥

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच-'भो! भो! मित्र हिरण्यक! सत्वरमागच्छ, महती मे व्यसनावस्था वर्तते'।

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच-'भोः ? को भवान् ?, किमर्थमायातः ?, किं कारणम् ?, कीदृक्के व्यसनावस्थानम् ? तत्कथ्यताम्'-इति।

तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह-'भोः! चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत्, तत्सत्वरमागच्छ, गुरुतरं प्रयोजनमस्ति।

तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्त।

अथवा साध्विदमुच्यते—

'सुहृदः स्नेहसंपन्ना लोचनानन्ददायिनः।
गृहे गृहवता नित्यमागच्छन्ति महात्मनाम्॥ १७॥
आदित्यस्योदयस्तात! ताम्बूल भारती कथा।
इष्टा भार्या सुमित्रञ्च अपूर्वाणि दिने दिने॥ १८॥
सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यश.।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम्'॥ १९॥

अथ चित्रग्रीवं सपरिवार पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषादमिदमाह-'भोः! किमेतत् ?'।

स आह-'भोः! जानन्नपि किं पृच्छसि ?। उक्तञ्च यतः—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म।

तारस्वरेण=उच्चै स्वरेण। व्यसनावस्था=विपत्तिदशा। सत्वरं=शीघ्रम्। गुरुतरम्=अतिमहत्। पुलकिततनु=हर्षरोमाञ्चितदेह। स्थिरमना=नि शङ्कचित्त। महात्मना=भाग्यशालिनाम्। गृहवता=गृहिणाम्॥ १७॥ हे तात=हे वत्स!, भारती कथा=महाभारतस्येयं कथा। इष्टा=प्रिया। अपूर्वाणि=नवीनवद्भासन्ते। प्रतिमं=तुल्यम्॥ १९॥ यत्र यथायथं शुभाशुभं=शुभं दुष्टं वा,

तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ २० ॥

तत्प्राप्तं मयैतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात्। साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु।' तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राह—

अर्धार्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्बन्धनं न च पश्यति!॥ २१ ॥

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम्।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां 'विधिरहो बलवा'निति मे मतिः॥२२॥

तथा च—

'व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते बडिशैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि।
दुर्णीतं किमिहास्ति? किञ्च सुकृतं? कः स्थानलाभे गुणः?
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि' ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह-'भद्र! मा मैवं कुरु, प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु, तदनु ममाऽपि च!' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भोः! न युक्तमुक्तं भवता, यतः-स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः।' स आह-'भद्र! मा मैवं वद, मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः, अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः, तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि। उक्तञ्च—

आत्मकर्म=स्वभोग्यं फलं, तत् तथैव-तत्रैव स्थाने कृतान्तवशात्=अदृष्टवशात्, उपैति=आगच्छति। उपैति=तं जनो भुङ्क्ते इति वा॥ २०॥

अर्धार्धात्=पादमितात् योजनशतात्। (२५ योजन=१०० कोश)। आमिषं=स्वभक्ष्यं मांसम्। खग.=गृध्रादि ॥ २१॥ ग्रहपीडन=राहुग्रहणक्लेश। गजभुजङ्गविहङ्गाना=हस्तिसर्पपक्षिणा। बन्धनं=जालादिना बन्धनम्। अहो!= आश्चर्ये, विधि=दैवम ॥ २२ ॥ व्योमेति। गगनमात्रसञ्चारिणोऽपि पक्षिण, बन्धनरूपामापदं प्राप्नुवन्ति। बडिशै=मत्स्यग्रहणसाधनैर्जलान्तःस्था अपि मत्स्या बध्यन्ते। किं दुष्कृतं? पापं, किंवा सुकृतं=पुण्य?, विशिष्टजलादिदुर्गमस्थानलाभे

य: संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
वित्ताऽभावेऽपि तं हृष्टास्ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २४ ॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २५ ॥

अपरं-मम कदाचित्पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति, अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति, तन्नून मम नरकपात एव । उक्तश्च—

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः ।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह-भोः ! वेद्म्यहं राजधर्मं, परं मया तव परीक्षा कृता, तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि । भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति । उक्तश्च—

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।
सम्भाव्यः स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २७ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह- 'मित्र ! गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति, भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्'-इति । तान्सम्प्रेष्य हिरण्यकः पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः । चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत् । अथवा साध्विदमुच्यते ।

वा को गुणः ? । न किमपि । हा ! केवलं व्यसनव्याजेन=विपत्तिच्छलेन-कालो जगत्कर्षतीत्यर्थः ॥२३॥ भृत्या -इत्यस्य 'सम्भाव्या' इति शेषः । सत्कार्या इत्यर्थः।

तेन=विश्वासेनैव । मृगाधिपतिरपि न मृगैः सेव्यतेऽविश्वासात् । विश्वासाच्च पुनः-यूथपो गजो गजैः परिवार्यते ॥ २५ ॥ परत्र=परलोके । नरकं याति= नरके वसति । इह=अस्मिन् लोके । सीदति=क्लेशमनुभवति ॥ २६ ॥ राजधर्मं= राजनीतिम् । अनेन विधिना=कारुण्यपूर्णव्यवहारादिना । कारुण्यं=करुणा । संविभागः=आत्मतुल्योपचारः, सम्यगवेक्षणं, यथायोग्यं सत्कारश्च । स महीपाल- स्त्रैलोक्यस्याऽपि रक्षणे-सम्भाव्यः=त्रैलोक्यपालकोऽयं भविष्यतीति सम्भावनीयः।

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाधानपि वै यतः ।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चाऽऽत्मनः[1] ॥ २८ ॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्-'अहो ! बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य, शक्तिश्च, दुर्गसामग्री च । तदीदृगेव विधिर्विहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मकः । यद्यप्यहं न कस्यचिद्विश्वसिमि, चलप्रकृतिश्च, तथाप्येनं मित्रं करोमि । उक्तञ्च-

अपि[2] सम्पूर्णतायुक्तैः कर्तव्याः सुहृदो बुधैः ।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २९ ॥

एवं सम्प्रधार्य पादपादवतीर्य विलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्-'एह्येहि भो हिरण्यक ! एहि । तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्-'किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति !।' आह च-भोः ! को भवान् ?' । स आह-'अह लघुपतनको नाम वायसः ।'

तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह-'भोः ! द्रुत गम्यतामस्मात्स्थानात् ।' वायस आह-'अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः, तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् ? ।'

हिरण्यक आह ! न मेऽस्ति त्वया सह सङ्गमेन प्रयो-

॥ २७ ॥ शक्ति=सामर्थ्यम् । दुर्गसामग्री=दुर्गादिरक्षासामग्री च । 'अस्ती'ति शेष. । विहङ्गाना=पक्षिणाम् । ईदृगिति । यथा चित्रग्रीवेण धैर्यमवलम्ब्य हिरण्यकसाहाय्येनात्मा मोचितो बन्धनादेवं सर्वैरेव पक्षिभिर्बुद्धि-मित्रादिवलेनात्मा विपत्तेर्मोचनीय इत्यर्थ । बन्धमोक्षप्रसङ्गश्च पक्षिणां प्रायो भवत्येवेति मयाऽपि स्वबन्धमोक्षार्थमेष मित्रतयाऽऽश्रयणीय एवेत्याशय । एनं=हिरण्यकम् । सम्पूर्णतायुक्तै.=समृद्धै., शक्तिशालिभिश्च ॥२९॥ सम्प्रधार्य=निश्चित्य । पादपात्=वृक्षात् । विशेषात्=पूर्वापेक्षयाप्यधिकम् । अन्तर्लीनः=विलान्तर्निगूढ सन् । नव

[1] 'समान्येव श्रियाऽऽत्मन' इति पा० ।
[2] 'सम्पूर्णेनापि कर्त्तव्यं मित्रमभ्युदयार्थिना । उदधि. परिपूर्णोपि रवातेर्जलमपेक्षते' ॥ पा

जनम्'-इति। स आह-'भोः! चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम्, तेन मम महती प्रीतिः सञ्जाता। तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति। तत्क्रियतां मया सह मैत्री।'

हिरण्यक आह-'अहो! त्वं भोक्ता, अहं ते भोज्यभूतः, तत्कथ त्वया सह मम मैत्री?। तद्गम्यताम्। मैत्री विरोधभावात्कथम्?। उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवादश्च, न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ ३०॥

तथा च-

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः।
हीनं वाऽप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः॥ ३१॥

तद्गम्यताम्'—इति। वायस आह—'भो हिरण्यक! एषोऽहं तव दुर्गद्वारे उपविष्टः, यदि त्वं मैत्रीं न करोषि-ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि। अद्यारभ्य प्रायोपवेशनं मे स्यात्–' इति। हिरण्यक आह-'भोः! त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि?। उक्तञ्च—

वैरिणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम्॥ ३२॥

वायस आह-भोः! त्वया सह दर्शनमपि नास्ति,-कुतो वैरम्! तत्किमनुचितं वदसि?। हिरण्यक आह—'द्विविध वैरं भवति, सहज. कृत्रिमञ्च। तत्सहजवैरी त्वमस्माकम्। उक्तञ्च-

सकाशात्=त्वया कृतम्। भोक्ता=भक्षकः। विरोधभावात्=विरोधात्। मैत्री कथं?=न कथमप्युचितेति भाव। पुष्टविपुष्टयो=अधिकबल-हीनबलयो. ॥ ३०॥ प्राणमोक्षणं=प्राणत्याग। प्रायोपवेशनं=मरणपर्यन्तमन्नत्याग, ('अनशन' 'धरना')। सन्दध्यात्=मेलनं कुर्यात्। सुश्लिष्टेन=अतिदृढेन, स्वानुकूलतमेन

१ 'अथवा' पा०।

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक् कृत्रिमैर्गुणैः।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३३ ॥

वायस आह-'भोः! द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि, तत्कथ्यताम्।' हिरण्यक आह-'भोः! कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद्गच्छति। स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति। तद्यथा-'नकुल-सर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देव दैत्यानाम्, सारमेय मार्जाराणाम्, ईश्वर-दरिद्राणाम्, सपत्नीनाम् सिंह-गजानाम्, लुब्धक-हरिणानाम्, श्रोत्रिय-भ्रष्टक्रियाणाम्, काकोलूकानाम्, मूर्ख पण्डितानाम्, पतिव्रता-कुलटानाम्, सज्जन-दुर्जनानाञ्च नित्यं वैरं भवति। न कस्यचित्केनापि कोऽपि व्यापादितः, तथापि प्राणान्ताय यतन्ते।'[1] वायस आह भोः! अकारणमेतत्। श्रूयतां मे वचनम्—

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवाऽत्र योज्यं वैरं न धीमता ॥ ३४ ॥

तस्मात्कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम्।

च ॥ ३२ ॥ सहजं=स्वाभाविकम्। कृत्रिमैः=कल्पितैः। गुणैः=सन्धिविग्रहादिगुणैः, आर्जवक्षान्त्यादिभिश्च। नाशमायाति'त्यपि पाठः। प्राणदानं विना=शत्रुवधं विना। क्षयं=नाशम् ॥ ३३ ॥ निर्वृत्तम्=उत्पन्नम्। तत्=कृत्रिमं। तदर्होपकारकरणात्=यथायोग्योपकारकरणात्। यथा-पटादिवस्तुनाशजं वैरं कृत्रिमं-तादृशद्विगुणसुन्दरतरपटदानादिना निवर्त्तयितुं शक्यते। शष्पभुजः=गवादयः। नखायुधाः=व्याघ्रादयः। सारमेयः=कुक्कुरः। ईश्वराः=धनिनः। लुब्धकः=व्याधः। श्रोत्रियः=वेदविहितकर्मकुशलः। भ्रष्टक्रियाः=अनाचाराः।

न कस्यचिदिति। एषां काकोलूकादीनामकृतपरस्परापकाराणामपि परस्परं महानयं विरोधः सहज एवेति भावः। व्यापादितः=मारितः। 'प्राणान्सन्तापयन्ती'ति पाठे-सन्तापयन्ति=परस्परं पीडयन्ति। समागमं=दर्शनादिकम्। मित्रधर्मार्थं=मैत्रीकरणार्थम्। उपकारार्थं च पाठान्तरे-इष्टं=प्रियमपि।

---

1 न च कश्चित् केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति। इति पा०।

हिरण्यक आह-भोः! त्वया सह मम कः समागमः?। श्रूयतां नीति-सर्वस्वम्—

सकृद्दुष्टञ्च[1] यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३५ ॥

अथवा-'गुणवानहं, न मे कश्चिद्वैरनिर्यातनं[2] करिष्यति'-एतदपि न सम्भाव्यम् । उक्तञ्च-

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
र्मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ? ॥ ३६ ॥

वायस आह-अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

उपकाराच्च लोकानां, निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥ ३७ ॥
मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसन्धिश्च ॥ ३८ ॥
इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानान्तु विपरीता ॥ ३९ ॥

सकृद्दुष्टम्=एकवारमपि विकृतम् ॥ ३५ ॥

गुणवान्=साधुः, विद्वांश्च । वैरनिर्यातनं=वैरशोधनम् । (बदला) ।

सिंह इति । प्रियान् प्राणानहरत्=त जघान । उन्ममाथ=जघान । वेलातटे=समुद्रवेलाकूले । (वेला=जलवृद्धिमर्यादा) । अतिरुषाम्=क्रूराणाम् । तिरश्चां=पश्वादीनाम् । गुणैः=पाण्डित्यादिभिः । को गुणः ?=कः स्नेहः ? । न कोपीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

लोकानां=साधारणजनानाम् । निमित्तात्=सहवासादिना । सतां-दर्शनमात्रा-देवेति सम्बन्धः ॥ ३७ ॥ कनकघटः=स्वर्णकलशः । तद्वत्=प्रत्यहं वर्धमानरसा सतां मैत्री । खलानान्तु-प्रत्यहं विरसेति भावः ॥ ३९ ॥

1 सकृद्दुष्टमपीष्टं यः'इति पाठः। २'वैरयातनां'पा०। ३'द्रवत्वात्सर्वलोहानां'मिति पाठान्तरम्।

तथा च—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥४०॥

तत्सर्वथा साधुरेवाहम्[1]। अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करोमि[2]। हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः[3] प्रत्ययः। उक्तञ्च—

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४१ ॥
न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवाऽत्र विश्वसेत्।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यञ्च सुखानि च ॥ ४३ ॥

तथा च—

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविशत्यन्तरं[4] रिपुः।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४४ ॥
न विश्वसेदविश्वस्तं विश्वस्तं नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४५ ॥
न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि मदोत्कटैः।
विश्वस्ताश्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४६ ॥

आरम्भेति। दिनस्य पूर्वभागे यथा वृक्षादिच्छाया—आरम्भे दीर्घा भवति, पश्चात्क्रमशो हीयते। तथा खलाना मैत्री आदौ महती, पश्चात्क्षीणा च भवति। एवमपराह्णकाले वृक्षादिच्छाया पूर्वं लघ्वी भवति, क्रमशश्च वर्धते, एवं सज्जनमैत्री क्रमशो वर्धते इत्यर्थः ॥ प्रत्ययः=विश्वासः। वृत्रः=वृत्रासुरः। सूदितः=हतः ॥ ४१ ॥ सिध्यति=वशमेति। त्रिदशेन्द्रेण=इन्द्रेण। विश्वास्य त्रिदशेन्द्रेणेति पाठान्तरम्। दितेः=दैत्यमातुः। विदारितः=खण्डितः ॥ ४२ ॥ तस्मात्=विश्वासस्यानर्थहेतुत्वात् ॥४३॥ प्लवं=भग्नं पोतं। सलिलपूरः=जलवेगः ॥४४॥

---

१ 'तत्साधुरहम्' पा०। २ 'करिष्यामि' पा०।
३ 'त्वदीयशपथैः। ४ 'प्रविश्याभ्यन्तरम्'।

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राऽऽप्तिर्भार्गवस्य च।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४७ ॥

तथा च—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४८ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास-'अहो! बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवाऽत एवास्योपरि मे मैत्रीपक्षपातः।' आह च-'भो हिरण्यक!—

'सख्यं साप्तपदीनं स्या'दित्याहुर्विबुधा जनाः।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४९ ॥

—'दुर्गस्थेनापि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोष-सुभाषितगोष्ठीकथाः सर्वदा कर्त्तव्याः। यद्येवं न विश्वसिषि।'

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्-'विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः, सत्यवाक्यश्च, तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्'।

आह च[2]-भोः-भवत्वेवं,-त्वया, परं कदाचिन्मम दुर्गे चरण-पातोऽपि न कार्यः। उक्तञ्च—

निकृन्तति=विनाशयति ॥ मदोत्कटै=अतिबलशालिभि ॥ ४६ ॥ सुकृत्य=यथावदुपायकरणं-विष्णुगुप्तस्य=चाणक्यस्य-नीतिः। भार्गवस्य=शुक्राचार्यस्य, नीतिरिति सम्बन्ध। अविश्वासो-बृहस्पतेर्नीति। सन्धि=शृङ्खला। मार्ग। त्रिधा स्थित=त्रिप्रकार ॥ ४७ ॥

अर्थसारेण=अतिधनबलसम्पन्नोऽपि। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। तदन्तं=तावत्पर्यन्तम्। ततो वध्यते इत्यर्थ ॥ ४८ ॥ सता=सज्जनाना। सख्यं=मैत्री। साप्तपदीन=सप्तभिरपि पदै-सह गमनैर्निष्पद्यते। त्वया तु मम एतावान् वार्त्तालापो जात, अतस्त्वमनिच्छन्नपि मे सुहृज्जात एव। त्वं=हिरण्यक। तत्=तस्मात् ॥ ४९ ॥ वचनमेवाह वायस-दुर्गेति दुर्गस्थेन=स्वबिलस्थेन। गुण-दोषविचारपरा या सुभाषितगोष्ठी तस्या कथा=आलापा। विदग्धवचन=चतुर।

---

१ 'सतां साप्तपद मैत्र'मिति। 'बलात्त्व मित्रता' मिति च पाठान्तरम्।
२ इतः पूर्वं-"आह च-भोः। भवत्वेव, त्वया"-इत्यर्थक पाठः खण्डित इवाभाति।

भीतभीतः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥ ५० ॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह–'भद्र ! एवं भवतु।' ततः प्रभृति तौ द्वावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयत। लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति।

हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषाँल्लघुपतनकार्थं रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति। अथवा युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तश्च–

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥
नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्य चिद्भवेत्।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५२ ॥
तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५३ ॥
पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारणम्।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

भूमौ–मन्दं मन्दं=शनैः शनैः, शत्रुः प्रसर्पति=चेष्टते, पश्चात्,–प्रहेलया=त्वरया, अवज्ञया,–सत्वरमिति यावत्। यथा जारस्य हस्तः–पराङ्गनावपुषि पूर्वं शनैः शनैः, पश्चाज्जाते विश्रम्भे सरभसं प्रवर्तते तथेत्यर्थः ॥ ५० ॥

एवं भवतु='नाहं तव दुर्गे चरणपातं करिष्यामी'त्येव मे प्रतिज्ञेत्यर्थः। सुभाषितगोष्ठीसुखं=परस्परमधुरालापसुखम्। मांसशकलानि=मांसखण्डानि। मेध्यानि=पवित्राणि, बलिशेषाणि=काकबल्यादिशेषाणि। वात्सल्याहृतानि=स्नेहानीतानि। पक्वान्नविशेषाणि=खण्डखाद्यानि ('मिठाई' 'लड्डू पेडा')। आहृत्य=आनीय। तत्कालायातस्य=रात्रावागतस्य। (रात्रौ=रात्रिमुखे-प्रदोषे)। गुह्यं=रहस्यम्, आख्याति=ब्रूते। पृच्छति–'रहस्य'मिति शेषः ॥५१॥ उपयाचितम्=उपहारः। ('मनौती' 'भोग' 'प्रसाद') ॥ ५२ ॥ वत्सः=तर्णकः। 'बछडा'।

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुताऽपि पश्य ॥ ५५ ॥

किं बहुना—

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतावेकान्तमित्रताम् ॥ ५६ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति ।

अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच-'भद्र ! हिरण्यक ! विरक्तिः सञ्जाता मे साम्प्रतं देशस्यास्योपरि, तदन्यत्र यास्यामि ।'

हिरण्यक आह-'भद्र ! किं विरक्तेः कारणम् ?' । स आह-'भद्र ! श्रूयताम्,-अत्र देशे महत्याऽनावृष्ट्या दुर्भिक्ष सञ्जातम् । दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं-गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति । अहमप्यायुःशेषतया पाशे न पतितोऽस्मि ।

क्षीरं=दुग्धम् ॥ ५३ ॥ प्रत्यय=विश्वास । द्वेषी=शत्रु ५४ ॥ पशोरपि दानं प्रियतर, यतो सवत्साऽपि महिषी ('भैंस')—खले=तिलकल्के ('खली') दत्तेऽशेष दुग्धं ददाति, वत्सार्थमपि न गोपयतीत्यर्थ ॥ ५५ ॥ नखमांसवत्= नखाङ्गुलीसम्बन्धवत् । (जैसे 'अङ्गुलियों से नख दूर नहीं होते हैं') । एकान्त-मित्रता=दृढमैत्रीम् । 'अकृत्रिममित्रता'मिति पाठान्तरे-स्वाभाविकी मैत्रीम् । ॥ ५६ ॥ उपकाररञ्जित =उपकारावर्जितस्वान्त । पक्षमध्ये=छदमध्ये ('पाखों में') । गोष्ठी=कथा ('गप-सप') साम्प्रतम्=इदानीम् । अनावृष्ट्या=अवर्षणेन । दुर्भिक्षम्=दुष्कालम् । (सूखा 'अकाल') । बलिमात्रमपि=काकबलिमपि । विहङ्गाना=पक्षिणाम् । पाठान्तरे-उद्धारितः=उन्मुक्त । इति=अस्मात्कारणात् ।

1 'पाशेन बद्ध उद्धारितोऽस्मि' इति मुद्रितपाठः ।

एतद्विरक्तेः कारणम् । तेनाहं विदेशं चलित इति-वाष्पमोक्षं करोमि ।'

हिरण्यक आह-'अथ भवान् क्व प्रस्थितः'? । स आह-'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः । तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम। स च मे लघुमत्स्यमांसखण्डानि दास्यति । तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि । नाहमत्र विहङ्गानां पाशवन्धनेन क्षयं द्रष्टुमि[1]च्छामि । उक्तञ्च—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयङ्गते ।
धन्यास्तात[2] ! न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५७ ॥

कोऽतिभारः समर्थानां ?, किं दूरं व्यवसायिनाम् ? ।
को विदेशः सविद्यानां ?, कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥५८ ॥

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५९ ॥

हिरण्यक आह-'यद्येवं तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि, ममापि महद्दुःखं वर्तते' ।

वायस आह-'भोः ! तव किं दुःखम् ? तत्कथय ।'

हिरण्यक आह-'भोः ! बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये, तत्तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि ।' वायस आह-'अहं ताव-दाकाशगतिः, तत्कथं भवतो मया सह गमनम् ?' । स आह-'यदि मे प्राणान्रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापय, नान्यथा मम गतिरस्ति ।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह-'यद्येवं तद्धन्योऽहं, यद्भवतापि सह तत्र कालं नयामि । अहं

वाष्पमोक्षम्=अश्रुमोचनम् । वनगहनमध्ये=दुर्गमवनमध्ये । कूर्मः=कच्छप । तेन=कच्छपेन । क्षयं=विनाशम् । शस्ये=धान्ये । प्रलयं=विनाशम् । देशभङ्गं=प्रजा-

---

१ 'शक्नोमि' । २ 'धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् । परहस्तगता भार्या मित्रञ्च विषमस्थितम्' । पा०

सम्पातादिकानष्टा[1]वुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि । तत्समारोह मम पृष्ठम् । येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि ।'

हिरण्यक आह-'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि ।' स आह—

'सम्पातञ्च विपातञ्च महापातं निपातनम् ।
वक्रं तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम्' ॥ ६० ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः । सोऽपि शनैः—शनैस्तमादाय सम्पातोड्डयनेन प्रस्थितः सन् क्रमेण तत्सरः प्राप्तः ।

ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालवित्-'असामान्यकाकोऽय' मिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः ।

लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच-'भो मन्थरक ! आगच्छ आगच्छ, तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः । तदागत्यालिङ्गय माम् । उक्तञ्च—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः ? ।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६१ ॥

तथा च—

केनामृतमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम् ।
आपदां च परित्राणं शोकसन्तापभेषजम् ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच-'एह्येहि मित्र !

पलायनाद्देशभङ्गम्॥५७॥ उड्डीनगतिः=विहायसा गमनम् । ('उडान')। असामान्यकाकः=विशिष्टोऽयं काकः । मुक्त्वा=संस्थाप्य । तुहिनैः=तुषारैः ('वर्फ')। परित्राणं=रक्षणम् । शोकाख्यस्य सन्तापस्य=रोगस्य शोकसन्तापयोर्वा-भेषजम्=औषधम्॥६२

१ 'सम्पातादिकान्यष्टावुड्डयनानी'ति पा० ।

आलिङ्गय माम्, चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः। तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः। उक्तञ्च-

'यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम्।
न तेन सङ्गतिं कुर्या'दित्युवाच बृहस्पतिः॥ ६३॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान्। अथवा साध्विदमुच्यते-

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः?।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः॥ ६४॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम्। हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः।

अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह-'भोः! कोऽयं मूषकः? कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्याऽऽनीतः? तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम्!'। तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह-'भोः! हिरण्यको नाम मूषकोऽयं, मम सुहृद् द्वितीयमिव जीवितम्। तत्किंबहुना—

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः।
भूतले रेणवो यद्वत्सङ्ख्यया परिवर्जिताः॥ ६५॥
गुणाः सङ्ख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः।
परं निर्वेदमापन्नः सम्प्राप्तोऽयं तवान्तिकम्'॥ ६६॥

निपुणतरं=नितराम्। (अच्छी तरह से)। चिरकालात्=चिरवियोगाद्धेतोः। वीर्यं=पराक्रम। विचेष्टितं=व्यापारादि॥ ६३॥ कायक्षालनसम्भवैः= शरीरमात्रसुखदैः॥ ६४॥ विहितालिङ्गनौ=कृतपरिष्वङ्गौ। पुलकितशरीरौ= रोमाञ्चितदेहौ। आत्मनः-चरित्रस्य=शीलस्य, आचरणस्य। वृत्तान्तं=वार्त्ताम्। वायसाभ्याशे=काकसमीपे। भूतले रेणवः=वालुकाकणाः। 'सिकतारेणवो यद्व'-दिति पाठान्तरम्। परं=किन्तु-सर्वगुणवानप्ययं महात्मा। निर्वेदं=शोक, ग्लानिञ्च। आपन्नः=उपगतः सन्। अयं=हिरण्यकः। तव=कच्छपस्य। अन्तिकं=समीपम्॥ ६६॥

मन्थरक आह-'किमस्य वैराग्यकारणम्' ?। वायस आह-पृष्टो मया तत्रैव, परमनेनाभिहितम्,-'यद्बहु वक्तव्यमस्ति, तत्तत्रैव गत्वा कथयिष्यामि' इति। ममापि न निवेदितम्। तद्भद्र हिरण्यक! इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम्। सोऽब्रवीत्-

१ हिरण्यक-ताम्रचूड-कथा

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म। स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति, भिक्षाशेषञ्च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्वा सम्यक्तत्रैव देवतायतने समार्जनोपलेपनमण्डनादिकं सम्यक्कारयति।

अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्-'स्वामिन्! मठायतने सिद्धमन्नं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव, तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः। स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति, तत्किं वृथाऽटनेनान्यत्र, अद्य तत्र यथेच्छं भुञ्ज्महे भवत्प्रसादात्।'

तदाकर्ण्याऽहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः। उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः। तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकानां दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि। सर्वेषां तृप्तौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि। एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि। परि-

---

मठायतन=देवागारम्। प्राणयात्रा=जीवननिर्वाहं। नागदन्ते=भित्तिकाष्ठे ('खूँटी पर')। प्रत्यूषे=प्रभाते। कर्मकराः= भृत्या। समार्जनादय-गृहसंस्कारभेदाः ('झाड़' 'सफाई' 'लिपाई' 'पुताई')। बान्धवै=मूषकै। सिद्धमन्नं=पक्वमन्नं ('रोटी' आदि)। स्वामिन=हिरण्यकस्य भवत।

---

१ मठायतनं भगवतो महेश्वरस्य। तत्प्रत्यासन्ने मठे'इति। २ 'समाज्ञापयति'। पा०।

व्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति,-परं यदैव निद्रान्तरितो भवति तदाहं तत्रारुह्यात्मकृत्यं करोमि।

अथ कदाचित्तेन मम त्रासार्थं महान्यत्नः कृतः, जर्जरवंशोऽपि समानीतः, तेन सुप्तोऽपि मम भयाद्भिक्षापात्रं ताडयति। अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि। एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य मे कालो व्रजति।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन प्राघुणिकः समायातः।

तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना संभाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितवान्। ततश्च रात्रावेकत्र कुशस्रस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुमारब्धौ।

अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति, तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति।

अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच-'भोस्ताम्रचूड! परिज्ञातस्त्वं सम्यङ् न सुहृत्, तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि। तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि। उक्तञ्च—

'एह्यागच्छ, समाश्रयासन[1]मिदं, कस्माच्चिराद् दृश्यसे?

निद्रान्तरित =निद्रापरिवृत। निद्रान्वित' इति पाठान्तरम्। आत्मकृत्यं=भिक्षाभक्षणम्। तेन=जर्जरितवंशेन (टूटे बाससे)। विग्रहपरस्य=कलहपरस्य। बृहत्यौ स्फिचौ यस्यासौ बृहत्स्फिक्। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथा'वित्यमरः। ('फोंच' ढूंगा')। प्राघुणिक.=अतिथि ('पाहुना')। सम्भाव्य=सत्कृत्य। प्रतिपत्तिपूर्वकम्= सादरम्। अभ्यागतक्रियया=अतिथियोग्यभोजनादिकर्मणा। नियोजित =सन्तर्पित.। कुशस्रस्तरे=कुशास्तरणे। 'संस्तरे' इत्यपि पाठ। बृहत्स्फिचा सह याः कथागोष्ठ्य =वार्त्ताप्रसङ्गा -तासु-बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु। व्याक्षिप्तमना =व्याकुलचित्त। शून्य=केवलं-वाङ्मात्रेण प्रतिवचनम्=उत्तरम्। (हुँकारा)। प्रयच्छति= ददाति। तन्मय =मूषकाक्षिप्तचित्त। उदाहरति=ब्रूते।

१ 'समाविशासनमिदं' 'समाश्वस'।

का वार्ता ? न्वतिदुर्बलोऽसि !, कुशलं ?, प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।'

एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६७ ॥
गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाऽप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृङ्गरहिता वृषाः ॥ ६८ ॥
नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नाऽऽलापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥ ६९ ॥

तदेकमठप्राप्त्याऽपि त्वं गर्वितस्त्यक्तसुहृत्स्नेहो नैतद्वेत्सि यत्त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् ? । उक्तञ्च—

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ७० ॥

तन्मूर्ख ! शोचितव्येऽप्यर्थे त्वं गर्वितः । तदहं त्वदीयं मठं रात्रावपि परित्यज्य यास्यामि' । अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमना स्ताम्रचूडस्तमुवाच-'भो भगवन् ! मैवं वद, न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति, परं तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । 'एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशेषञ्च तत्रस्थं भक्षयति । तदभावादेव मठे मार्जनक्रियापि न भवति । तन्मूषकत्रासासामर्थ्यमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि । नान्यत्कारण'मिति । अपरमेतत्कुतूहलं पश्यास्य

अभ्यागत.=अतिथि । साह्लाद=सस्नेहं । कुशलम्=अपि तव कुशलम् ? । एव ये प्रणयिन=सुहृद । प्रह्लादयन्ति=हर्षयन्ति, तेषामेव हर्म्याणि=गृहान् प्रति, गन्तुमुचितम्, नान्येषामित्यर्थ ॥ ६७ ॥ गृही=गृहस्वामी । दिशो वीक्षेत =इतस्ततो पश्येत् । अध =भूमिं वा वीक्षेत, तेषा गृहे गच्छन् पुरुष, शृङ्गरहितो वृष =बलीवर्दो मूर्ख एव ॥ ६८ ॥ मठचिन्ता=मठरक्षादिकम् । पाठान्तरे माठपत्यं=मठाधिपतित्वं ('महन्ती')।'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो य'गिति यक् ॥७०॥

१ 'का वार्ताऽतिसुदुर्बलोऽसि पा० । २ 'प्रत्याययन्त्यादरात्' पा० । ३ 'नालापमधुरा गिरः' । ४ 'तस्य हर्म्ये' । ५ 'माठपत्य'मिति पा० । ६ 'शोचितव्यस्त्व गर्व गत ।'-पा० ।

दुरात्मनो-यन्मार्जारमर्कटादयोऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन।'

बृहत्स्फिगाह-'अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिंश्चित्प्रदेशे?। ताम्रचूड आह-'भगवन्! न वेद्मि सम्यक्'। स आह-'नूनं निधानस्योपरि तस्य बिलम्। निधानोष्मणा निश्चितं प्रकूर्दतेऽसौ।

उक्तञ्च—

'ऊष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः' ॥ ७१ ॥

तथा च—

'नाकस्माच्छाण्डिली[2] मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥ ७२ ॥

ताम्रचूड आह-कथमेतत्?। स आह—

२. शाण्डिली-तिलकल्कविक्रयकथा।

एकदाऽहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्त कञ्चिद्ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान्। ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि। अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि।

तदभावात्=भृत्यादिदानाय भिक्षाशेषस्याऽभावात्। अस्य=मूषकस्य। मर्कटः=वानर.। उत्पतनेन=उत्प्लवनेन, (कूदने मे)। अथेति-प्रश्ने। निधानस्य=भूमिस्थधनस्य ('गड़ा हुआ खजाना') निधानोष्मणा=निधानबलेन ('धन की गर्मी से')। हे मात! शाण्डिली=शाण्डिल्यगोत्रा काचन ब्राह्मणी। अकस्मात्=सहसा। निष्कारणम्। व्यर्थमेव। लुञ्चितान्=कुट्टितांस्तिलान्। अन्यैः=अखण्डितैः। न विक्रीणाति, किन्तु-अत्र कश्चन हेतुर्भविष्यतीत्यर्थः। 'नूनं हेतुरत्रे'ति पाठो युक्ततरः। शण्डिलस्य गोत्रापत्यं स्त्री शाण्डिली॥ ७२ ॥

प्रावृट्काले=वर्षर्तौ। व्रतग्रहणनिमित्तं=वर्षासु मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानाय। ('चौमासा करनेको')। यतीनां वर्षर्तौ चतुर्षु मासेषु एकत्रावस्थानं हि व्रतम्।

---

१ 'अनेन स्योत्पतनेन' पा०। २ 'शाण्डिलीमाते'ति पा०।

तत्र ब्राह्मण आह–'ब्राह्मणि! प्रभाते दक्षिणायनसङ्क्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति। तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि। त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किञ्चिद्भोजनं दातव्यम्'।

अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह–'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः?। तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः?। अपि च–'[1]न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम्, न मिष्टान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम्।'

तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह–ब्राह्मणि! नैतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तञ्च—

> [2]ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु।
> इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति? ॥ ७३ ॥
> 'ईश्वरा भूरि दानेन यल्लभन्ते फलं किल।
> दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुया'दिति नः श्रुतम्[3] ॥७४॥
> दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्ध्या।
> कूपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य, न समुद्रः ॥७५॥

तद्वचनात्=ब्राह्मणवचनात्। तेन=ब्राह्मणेन। दक्षिणायनसङ्क्रान्ति=कर्कसङ्क्रान्तिः। सूर्यस्योद्देशेन=सूर्यमुद्दिश्य, श्रीसूर्यप्रीतये।

दारिद्र्योपहतस्य=दारिद्र्यविकलस्य। भोजनप्राप्तिरपि नास्ति, कुतो ब्राह्मणभोजनस्यावसर इत्यर्थ। तव हस्तलग्नया=तव पाणिगृहीत्या भार्यया। आस्वादन–'लब्ध'मिति शेष। एतत्=इत्थम्। अर्थिषु=याचकेभ्य। विभवः=धनसम्पत्ति–न भविष्यतीत्यर्थ ॥ ७३ ॥ ईश्वराः=राजानो धनिनश्च। भूरि दानेन=बहु दानेन। काकिण्या=कपर्दिकयाऽपि ('कौड़ी')। श्रुतं=वेदधर्मशास्त्रादिनिर्णयोऽस्माभि श्रुत ॥ ७४ ॥ दाता लघुरपि सेव्यते कूपवत्। कृपणो महाधनोऽपि समुद्रवत्–न लोकसन्तोषाय भवतीत्याशय ॥ ७५ ॥

---

१ 'न मया तव हस्ताग्रं प्राप्य लब्धं क्वचित्सुखम्।
नास्वादितञ्च मिष्टान्नं का कथा भूषणादिषु? ॥'

२ 'ग्रासादर्धमपि ग्रासमर्थिभ्य किं न दीयते'। ३ 'श्रुति' पा०।

तथा च—

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं 'राजराज'शब्देन ?।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥७६॥

अपि च—

सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७७ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्करी ॥ ७८ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७९ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम्। उक्तञ्च--

सत्पात्रं महती श्रद्धा देशः कालो यथोचितम्।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदानन्त्याय कल्पते ॥ ८० ॥

तथा च—

अतितृष्णा न कर्त्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाऽभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८१ ॥

दानशक्तिविकलं निधीना गोप्तारं=कुबेरं सर्वनिधिपतिमपि राजराजपदवाच्यमपि च लोका महेश्वरं न कथयन्ति। किन्तु गिरिशं=शिवं, त्यागशीलं–महेश्वरं महादेवं कथयन्ति। 'राजराजो धनाधिप' 'शिव शूली महेश्वर' इत्यमरः॥७६॥

दानं=मद, त्यागश्च। शस्त =शोभन। करीश्वर =हस्तियूथपति। पीनगात्रः= पीवरतनु. ॥ ७७ ॥ प्रपादौ–घट'–जलायदानात्–अधो याति=नीचैरेव तिष्ठति। कर्करी=गलन्तिका तु ('करी' 'तृतिया')। पान्थेभ्यो जलादिदाने साधनीभूता अत एव उपरि=घटमुखोपरि तिष्ठति। प्रपादौ हि घटोपरि शरावं निधाय तदुपरि कर्करी स्थाप्यते ॥ ७८ ॥ प्रसारितकरः= भिक्षार्थं प्रसारितपाणिः, विस्तारितमयूखश्च। मित्रः=सूर्यः, मित्रं=सुहृत्, अपिशब्दात् ॥ ७९ ॥

ब्राह्मण्याह--'कथमेतत् ?'। स आह--

३. पुलिन्द-शूकर-सर्प-शृगालकथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः । स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः ।

अथ तेन प्रसर्पता महान् अञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः समासादितः । तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टबाण इमं श्लोकमपठत्--

न मे धनुर्नाऽपि च बाणयोजनं दृष्ट्वाऽपि शङ्कां समुपैति शूकरः ।
तथा च पश्याम्यहमस्य निश्चयं यमेन नूनं प्रहितो ममान्तिकम् ॥

अथासौ तेन निशितसायकेन समाहतः ।

अथ शूकरेणाऽपि कोपाविष्टचेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुर्भूतले न्यपतत् । अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः । एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम । यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्--'भोः ! सानुकूलो मे विधिः, तेनैवैतदचिन्तितं भोजनमुपस्थितम् ।

अथवा साध्विदमुच्यते--

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम् ।
शुभाऽशुभं समभ्येति विधिना संनियोजितम् ॥ ८२ ॥

पुलिन्दः=शबर । पापर्द्धिं=मृगयाम् । 'पापर्द्धिर्मृगयाऽऽखेटो मृगव्याच्छोदने अपी'ति हैम । ('शिकार') । प्रसर्पता=गच्छता । अञ्जनपर्वतशिखराकार= सौवीराञ्जनपर्वतशिखरतुल्यकृष्णवर्ण । क्रोड=शूकर । कर्णान्तमाकृष्टबाण= कर्णान्ताकृष्टशर । निशितेन=तीक्ष्णेन । सायकेन=बाणेन । समाहत=ताडित । बालेन्दुद्युतिना=खण्डचन्द्रकान्तिना । निशिततरेण । दंष्ट्राग्रेण=दन्ताग्रेण । पुलिन्द=शबर । गतासु=मृत । लुब्धक=शबरं । व्यापाद्य=हत्वा । पञ्चत्वं= मृत्युम् । निराहारतया=भोजनाऽलाभेन । तेनैव=अनुकूलेन भाग्येनैव । अचि-

तथा च—

'यस्मिन्देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाऽशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते' ॥ ८३ ॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बह्न्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि। उक्तञ्च—

'शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन' ॥ ८४ ॥

—इत्येवं मनसा निश्चित्य चापचटितां कोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन शिखावन्निष्क्रान्ता।

सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या—' इति। ॐ

स पुनरप्याह—'ब्राह्मणि! न श्रुतं भवत्या?—

'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ ८५ ॥ (इति')

अथैवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—यद्येवं तदस्ति मे गृहे स्तोकस्तिलराशिः। ततस्तिलाँल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि-' इति। ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामङ्गतः।

सापि ताँस्तिलानुष्णोदकेन संमर्द्य लुञ्चित्वा सूर्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तेषां तिलानां मध्ये

न्तितम्=अतर्कितम्। वयसा=अवस्थया। 'वपुषे'ति केचित्पठन्ति ॥ ८३ ॥

प्राणयात्रा=जीवननिर्वाहः, भोजनम्। स्नायुपाशं=स्नायुनिर्मितां धनुषो मौर्वीम्। ('धनुष की डोरी') कोटिः=कोणः। शिखावत्=चूडावत्। (चोटी की तरह)। वित्तं=धनम्। हेलया=सहसा, एकपद एव ॥ ८४ ॥ चापचटितां कोटिम्=कोदण्डसंलग्नाम्। अधिज्यस्य धनुषः कोटिं=प्रान्तभागं (चटित=प्रत्यञ्चा चढी हुई)। सः=ब्राह्मणः। 'किं न श्रुत'मित्यस्य अग्रिमेण श्लोकेन सम्बन्धः। निधनं=मरणम्। सृज्यन्ते=निर्मीयन्ते ॥ ८५ ॥ स्तोकः=स्वल्पः। लुञ्चित्वा=

कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती- 'अहो! नैपुण्य पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः-यदेतेऽपि तिला अभोज्याः कृताः। तदहमेतान्समादाय कस्यचिद्गृहं गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानानयामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति'—इति।

अथ तान् शूर्पे निधाय गृहाद्गृहं प्रविशन्तीदमाह-'अहो गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितांस्तिलान्'।

अथ यस्मिन् गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे सापि तिला-नादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च—'गृह्णातु कश्चिदलु-ञ्चितैर्लुञ्चितांस्तिलान्'। अथ तद्गृहगृहिणी प्रहृष्टा यावदलुञ्चितै-र्लुञ्चितान्गृह्णाति, तावदस्याः पुत्रेण कामन्दकीयशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मातः! अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलु-ञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किञ्चिद्भविष्यति-येनैषाऽलुञ्चितै-र्लुञ्चितान्प्रयच्छति।' तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः।

अतोऽहं ब्रवीमि-'नाकस्माच्छाण्डिली मातः!-'। इति। *।

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह-'अथ ज्ञायते तस्य क्रमण-मार्गः'?। ताम्रचूड आह-'भगवन्! ज्ञायते, यत एकाकी न समागच्छति, किन्त्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नि-तस्ततः सर्वजनेन सहाऽऽगच्छति, याति च।'

अभ्यागत आह-'अस्ति किंचित्खनित्रकम्?'। स आह- 'बाढम्, अस्ति। एषा सर्वलोहमयी सुहस्तिका।' (गृह्यताम्)।

अभ्यागत आह-तर्हि, प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्,

कण्डयित्वा,-संशोध्य, चूर्णयित्वा (छाट पछोड कर)। सारमेय =कुकुर। विधे = दैवस्य। अलुञ्चितान्=अखण्डितान्। विधिना=मार्गेण। गृहिणी=गृहस्वामिनी। 'तद्गृहिणी'त्यपि पाठ। अस्या=गृहिण्या। कामन्दकीयशास्त्रं=अर्थनीति-शास्त्रम्। स =अतिथि -बृहत्स्फिक्। अस्य=मूषकस्य। क्रमणमार्ग =यातायात-

१ 'नाकस्माच्छाण्डिलीमाता' इत्यपि पाठः। तत्र शाण्डिलीमातेति तस्या नामधेयम्।
२ 'प्रबोद्धव्यम्'।

येन द्वावपि जनैश्चरणाऽमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छाव।

मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो! विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते। नूनमनेन यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्ययमस्माकं ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेवास्य ज्ञायते। उक्तञ्च—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य।
हस्ततुलयाऽपि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति॥ ८६॥

वाञ्छैव सूचयति-पूर्वतरं, भविष्यत् पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः 'कलापी'॥८७॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्य मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः। ततः सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्संमुखीनो बृहत्कायो मार्जारः समायाति। स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात। अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य

मार्ग। अथेति—प्रश्ने। खनित्रकम्=खननसाधनम्। बाढं=नूनं-('हाँ अवश्य है') सुहस्तिका=खननोपकरणभेद ('कुदाली','फावड़ा') 'स्वहस्तिके'ति पाठान्तरम्। अस्तीति शेष.। जनचरणाऽमलिनाया=मनुष्यसञ्चाराऽमलिनितायाम्। तत्पदानुसारेण=मूषकपदानुसारेण ('चूहों के खोज पहिचान कर')। साभिप्रायवचांसि=दृढमनोरथसूचकानि वचनानि। नूनम्=अवश्यम्। 'ज्ञास्यती' त्यस्य 'इती'ति शेष·। एतदभिप्रायात्=बृहत्स्फिगाशयादेव। हस्ततुलया=हस्तरूपया तुलया। पलप्रमाणं=पलादिप्रमाणम्। (अन्दाज से ही तौल जान लेते हैं)॥८६॥ भविष्यत्=भावि। पूर्वतरं च शुभाशुभम्—पुंसा वाञ्छयैव=इच्छादिना शीलाचरणादिनैव च ज्ञायते। यथा—मयूरशिशु—कलापै—मयूरपिच्छै रहितोपि—उत्प्लुत्य सरसं गच्छन् विशिष्टेन गमनेनैव—'मयूरोऽय'मिति लोकैर्ज्ञायते। भाविकलापस्य गतिविशेषेणानुमानमिति भाव·। 'प्रत्युत्पदै· परिसरन् सरस 'इति पाठान्तरम्॥८७॥ संमुखीन=संमुखायात.। उत्पपात=आक्रमणं चक्रे। कुमार्गगामिन=दुर्गमार्गा-

---

१. 'चरणमलितायां भूमौ' पा०। मलिता=मूषकपादमर्दितेत्यर्थ।
२ 'साभिप्रायाण्यस्य वचांसि'। पाठान्तरम्।

गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः। अथवा साध्विदमुच्यते--

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात्।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः
कूपान्तः पतित., करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ? ॥८८॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः। शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः। अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव मार्गेण दुर्गमुपगतः। ततश्च सुहस्तिकया खनितुमारब्धः। अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्योपरि सदैवाऽहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागतः-'भो भगवन्! इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरणं संपादयति।'

एवमुक्त्वा तन्निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च 'किं करोमि ?, क्व गच्छामि ?, कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः ?'।

एवं चिन्तयतो मे महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः। अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवारः प्रविष्टः।

ऽतिरिक्ताऽयोग्यमार्गगामिनम्-दुष्टञ्च। रुधिरेण प्लाविता वसुन्धरा यैस्ते तथाभूता.।

छित्त्वेति। कूटरचनाम्=उन्माथाख्यकूटयन्त्रमायारचनाम्। अपास्य=दूरीकृत्य। वागुरा=मृगबन्धनसाधनभेद। पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलात्=समन्ततो दावाग्निज्वालावलयितात्, वनाद्दूरं निर्गत्य,-व्याधैर्बाणविषयादपि वेगादुत्प्लुत्य, निर्गत-धावन्मृगो-दैवात्कूपे पतित.[१]। हा हन्त! भाग्ये विपरीते सति न किमपि पौरुषेण सिध्यति॥ ८८॥

शेषाः=हतशेषा मूषका। आरब्ध =आरब्धवान्। यस्य=निधानस्य। ऊष्मणा=प्रभावेण। ('गर्मी से')। अरमणीयम्=असुन्दरम्। उद्वेगकारकम्=अरतिप्रदम्।

---

१ 'करोति' इति पाठे-पौरुष किं करोतीत्यन्वय.।

अथाऽस्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथाऽसावभ्यागतः प्राह-'सखे! किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि?'। स आह-'भगवन्! भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः। तद्भया ज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि।' ततो विहस्याऽभ्यागतः प्राह—'सखे! मा भैषीः, वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः। सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तञ्च—

'यदुत्साही सदा मर्त्यः, पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं, तत्सर्वं वित्तजं बलम्' ॥ ८९ ॥

अथाऽहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तच्छ्रुत्वासौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच-'भोः! पश्य कौतूहलम्!'। आह च—

अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तश्च पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम् ॥ ९० ॥

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः, यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम्। अथवा साध्विदमुच्यते-

'दंष्ट्राविरहितः सर्पो, मदहीनो यथा गजः।
तथाऽर्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः' ॥ ९१ ॥

तच्छ्रुत्वाहं मनसा विचिन्तितवान्-'अहो सत्यमाह ममैष शत्रुः। यतो ममाऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति। तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्तञ्च-

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९२ ॥

परिग्रहशब्दं=मूषकपरिवारपदशब्दम्। वित्तेन=निधानेन। कूर्दनोत्साहः=उल्लवनसाहसम्। उद्धतं=सगर्वम् ॥ ८९ ॥ व्यर्थम्=अर्थशून्यम्। स्वजाते=मूषकजाते ॥ ९० ॥ यत्=धनम्। नामधारक इति। केवलमर्थशून्यं 'पुरुष'इति नाम धारयति, पौरुषन्तु तत्र न भवतीत्यर्थः ॥ ९१ ॥ अर्थहीनपुरुषस्य जीवितं

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथाऽरण्यभवास्तिलाः ।
नाममात्रा न सिद्ध्यै स्युर्धनहीनास्तथा नराः ॥ ९३ ॥
सन्तोऽपि न[1] हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः ।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥ ९४ ॥
न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखोचितः[2] ॥ ९५ ॥
शुष्कस्य[3] कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म, न चार्थिनः ॥ ९६ ॥
शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९७ ॥
उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ ९८ ॥

धिगिति सम्बन्धः । काकयवः=निष्फलयवजातिभेदः । अरण्यभवास्तिलाः= जर्तिलाः । वन्ध्यतिलाः । उभयत्र तिलयवनामसत्त्वेपि यथा न ते तिलयव-कार्यकरणसमर्थास्तथा निर्धनः पुमानिति भावः । सिद्ध्यै=कार्यसिद्ध्युपयोगिनः । 'सिद्धौ हि'–इति पाठे तु–सिद्धौ=कार्यसिद्धौ, न=न समर्थाः ॥ ९३ ॥

सन्तः–वर्त्तमानाः । राजन्ते=प्रकाशन्ते । इतरे=दारिद्र्यातिरिक्ताः । श्रिया तु गुणाः प्रकाशन्ते इति लक्ष्म्याः सूर्यवत्प्रकाशकतेति भावः ॥ ९४ ॥ बाध्यते= दुःखितो भवति । प्रकृत्या=स्वभावेन । द्रव्याणि संप्राप्य=पूर्वं धनवान् भूत्वा, पश्चान्निर्धनस्तु बलवद्दुःखमनुभवति ॥ ९५ ॥ कीटभुक्तस्य=कीटनाशितस्य । 'कीटखातस्ये'ति पाठे–कीटैर्विदारितस्येत्यर्थः । ऊषरस्थस्य=अयोग्यभूमिस्थस्य । (ऊसर में उत्पन्न) । वरम्=ईषत् श्रेष्ठम् । अर्थिनः=याचकस्य ॥ ९६ ॥

निष्प्रतापा=निष्प्रभावा । निःस्वं=दरिद्रम् । सन्त्यज्य=दूरतः परित्यज्य । लोकोऽपयातीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

निर्धनानां मनसि मनोरथा उत्थाय उत्थाय विलीयन्ते, धनाऽभावात् ॥ ९८ ॥

१ 'न विराजन्ते' पा० । २ 'सुखे स्थितः' । पा० ।
३ 'कुब्जस्य कीटखातस्य दावनिष्कुषितत्वचः' । पाठा० ।

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥ ९९ ॥

एवं विलप्याऽहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा व्यर्थश्रमः स्वं दुर्गं प्रभाते गतः। ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—'अहो ! असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकं । केवलमस्य पृष्ठलग्नानां बिडालादिभ्यो विपत्तयः । तत्किमनेनाऽऽराधितेन ? ।

यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः' ॥ १०० ॥

एवं तेषां वचांसि मार्गे शृण्वन् स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावन्निर्धनत्वात्परिजनमध्यात्कश्चिदपि मम न संमुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्-'अहो धिगियं दरिद्रता । अथवा साधुचेदमुच्यते-

मृतो दरिद्रः पुरुषो, मृतं मैथुनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं, मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' ॥ १०१ ॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः। ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति। अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तितम्-'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा

व्यक्ते=सुप्रकाशेऽपि । वासरे=दिनेऽपि । दौर्गत्यं=दारिद्र्यमेव । तमः=अन्धकारः । तेन-आवृत =छन्नः । दरिद्र इति यावत् । समीपस्थोऽपि न केनापि वीक्ष्यते इति भावः ॥ पाठान्तरे-भास्वान्=सूर्यः, समुज्ज्वलश्चेत्यर्थः ॥ ९९ ॥

निधानं=स्वधनम् । गण्डोपधानीकृतम्=गेन्दुकस्थाने स्थापितम् । (गण्डोपधान='गेंडुवा' 'तकिया' 'गालमसूरिया') । अयं=हिरण्यक । पृष्ठलग्नानाम्=अनुचराणां-सेवकानाम् । बिडालादिभ्यो विपत्तयः=मार्जारादिजन्या आपद । कश्चित्=सेवक । मृतः=मृतवत् व्यर्थः । अप्रजं=सन्तानशून्यम् । अश्रोत्रियं=वेदाध्यायिब्राह्मणशून्यम् । मृतः=व्यर्थ । अदक्षिणः=दक्षिणारहितः ॥ १०१ ॥

विडम्बनाम्=उपहासम् । योगनिद्रा=सावधाननिद्रा, कृतकनिद्रा वा ('जागते हुए सोना' या 'आख बन्द किए पड़े रहना') । कुतपस्विनः=दुष्टसंन्यासिन । समा-

---

१ 'भास्वानपि न दृश्यते' पा० । २ 'शस्त्रजीविभि' । ३ 'श्रुत्वा' । पा०

तद्गण्डोपधानवर्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशङ्गतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति। उक्तञ्च--

'व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः।
नाऽनुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव॥ १०२॥
दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम्।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव॥ १०३॥
दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम्।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः॥ १०४॥
लज्जन्ते वान्धवास्तेन सम्बन्ध गूहयन्ति[1] च।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः॥ १०५॥
मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम्।
पर्यायो मरणस्याऽयं निर्धनत्वं शरीरिणाम्॥ १०६॥
अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः।
दीपखद्योतच्छायेव त्यज्यते निर्धनो जनः॥ १०७॥

अर्थं=मठं। तद्गण्डोपधानवर्तिकृताम्=उपबर्हाभ्यन्तरे स्थापिताम्। ('गेंडुवे मे छिपाई हुई')। वित्तपेटा=धनमञ्जूषा। विदार्य=खण्डयित्वा।

धनैर्हीना लोका मनोरथशतानि कुर्वन्ति, न च कार्यानुष्ठानं कर्त्तुं शक्नुवन्ति। यथा--कुलीना विधवा रतिविषये नानामनोरथान् निष्फलानेव मनसि रचयन्ति, परन्तु न तासां ते मनोरथा सफलीभवन्ति, पत्युरभावादित्यर्थ॥ १०२॥

दौर्गत्य=दारिद्र्यं परमपमानकारकम्, येन स्वजनैरपि--दरिद्रा जीवन्तोपि मृतवदेव मन्यन्ते॥ १०३॥ दैन्यस्य=दीनतायाः। पराभूतेः=पराभवस्य। पदं=स्थानम्। शश्वत्=नित्यमेव॥ १०४॥ तेन=दरिद्रेण। गूहयन्ति=अपह्नुवते। कपर्दका=काकिण्य। ('कौडी--' 'पैसा-टका')॥ १०५॥ मूर्त्तं=मूर्तिमत्। लाघव=तुच्छत्वम्। अपायाना= नाशाना, हानेश्च। मरणस्य पर्याय= रूपान्तरम्॥ १०६॥ अजाधूलि', मार्जनीरज, दीपखद्योतयोश्छाया च--पुण्यविनाशकतया धर्मशास्त्रेषु कथिता, अतो लोकास्ततो यथा पलायन्ते, एवमेव

[1] 'गोपयन्ति' इति पाठे--'गुप गोपने' इत्यस्य रूपम्।

शौचावशिष्टयाऽप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १०८ ॥
अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम् ।
मन्यते 'याचकोऽयं', धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम्' ॥ १०९ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम्। उक्तञ्च—

स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः ।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥ ११० ॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा ।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥ १११ ॥

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां यावन्मया छिद्रं कृतं तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथञ्चिदायुषः सावशेषतया निर्गतोऽहं, न मृतश्च । उक्तञ्च—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥११२॥

काककूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत् ?'। हिरण्यक आह—

४. प्राप्तव्यमर्थवणिक्पुत्रकथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना

दरिद्रादपीत्यर्थ. ॥ १०७ ॥ शौचावशिष्टया=हस्तशोधनाद्यवशिष्टया अशुचिभूतयापि । मृदा=मृत्तिकया ॥ १०८ ॥
दातुमुपागतोऽपि दरिद्रो याचकोऽयमिति मन्यते=ज्ञायते,अतो दारिद्र्यं धिक्॥१०९॥
वित्तापहार=स्वधनानयनम्। असून्=प्राणान् ॥११०॥ गवार्थे=गोरक्षणार्थे । ब्राह्मणार्थे=ब्राह्मणरक्षणार्थे । स्त्रीवित्तहरणे=स्वकीयस्त्रीधनादिहरणसमये तद्रक्षणार्थे यो युद्धे। प्राणास्त्यजेत् तस्य सनातना.=नित्या ब्रह्मलोकादय ॥१११॥ आयुःशेष

१ 'कातरो यस्तितिक्षते' पा०। २ इय कथा काशिकपरीक्षापाठ्यतो वहिष्कृताऽश्लीलत्वात् ।

रूपकशतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः ।

तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो, देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' ॥११२॥

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः–'पुत्र! कियता मूल्येनैष पुस्तको गृहीतः?'। सोऽब्रवीत्–'रूपकशतेन।' तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्–'धिङ् मूर्ख! त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यद्गृह्णासि, एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि?। तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्'। एवं निर्भर्त्स्य गृहान्निःसारितः।

स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्याऽवस्थितः। अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः—'कुतो भवानागतः?, किन्नामधेयो वा?' इति। असावब्रवीत्–'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति। अथान्येनापि पृष्टेनाऽनेन तथैवोत्तरं दत्तम्। एवं यः कश्चित्पृच्छति, तस्येदमेवोत्तरं ददाति। एवञ्च तस्य नगरस्य मध्ये 'प्राप्तव्यमर्थ'इति प्रसिद्ध नाम जातम्।

अथ राजकन्या इन्दुमती[1] नामाऽभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणाऽस्ति। तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरङ्गतः।

तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणहतया तया निजसख्य-

तयेतिपाठे–जीवितकालावशेषतया। प्राप्तव्यम्=अवश्यलभ्यम्। देव=विधिरपि। लङ्घयितुं=विनाशयितुम्। अन्यथाकर्तुम्। विस्मय=आश्चर्यम्॥ ११२॥

रूपकशतेन=रूप्यकशतेन (१०० रुपये में)। पुस्तक=पुस्तकम्। (पोथी)। गृहीत=क्रीत। निर्भर्त्स्य=तिरस्कृत्य। निर्वेदेन=शोकेन। विप्रकृष्टं=दूरतरम्। तया=इन्दुमत्या। कुसुमबाण=काम। हले=हेसखि। क्वचित्तथैव पाठ।

---

१ 'चन्द्रमती'ति 'चन्द्रवती'ति च पाठान्तरम्।

भिहिता-'हले'! यथा किलाऽनेन सह समागमो भवति तथाऽद्य त्वया यतितव्यम्'। एवं श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्-'यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता, भणितश्च त्वां प्रति तया-यत्-'मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता, तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम्।'

इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्-यदवश्यं मया तत्रागन्तव्यं, तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम्?'।

अथ सख्याभिहितम्-'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्।' सोऽब्रवीत्-'यद्येवं निश्चयो भवत्यास्तदहमेवं करिष्यामि।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता।

अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत्-'अहो! महदकृत्यमेतत्।

उक्तञ्च—

'गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम्।
यो गच्छति पुमाँल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम्' ॥११४॥

अपरञ्च—

अयशः प्राप्यते येन, येन चाऽपगतिर्भवेत्।
स्वार्थाच्च भ्रश्यते येन, तत्कर्म न समाचरेत्॥ ११५॥

—इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम। अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याऽधिरूढः। तया च राजपुत्र्या 'स एवायं'-मित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना संमान्य तेन

अनेन=राजपुत्रेण। मनोभवेन=मदनेन। पश्चिमा=कामस्यान्तिमा दशा नष्टचेष्टत्वादिरूपा। मदन्तिके=मन्निकटे। तत्र=राजपुत्रीसन्निधौ। सौधावलम्बितया=राजप्रासादावलम्बिन्या। वरत्रा=स्थूला रज्जु। ('बद्दी' 'मोटी रस्सी' 'कमन्द')। अकृत्यम्=अनुचितं कर्म। गेहिनी=पत्नी। गच्छति=सेवते ॥ ११४॥ तत्=व्यभिचारादि दुष्टं कर्म॥ ११५॥ तत्सकाशं=इन्दुमतीसन्निधौ।

---

१ 'सखि' पा०। २ 'स्वर्गाच्च'। पा०।

सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसञ्जातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्–'युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयं, त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति' इति। तत्कस्मान्मया सह न ब्रवीषि ?'। सोऽब्रवीत्–'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इत्युक्ते तया 'अन्योऽय'मिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः। स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः। अथ तत्र कयाचित्स्वैरिण्या दत्तसङ्केतको यावद्दण्डपाशिकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च–'को भवान् ?'। सोऽब्रवीत्–'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा दण्डपाशिकेनाभिहितं यत्–'शून्यं देवगृहमिदं, तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्तः। अथ तस्य आरक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषस्याऽनुरक्ता–सङ्केतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्ताऽऽसीत्।

अथ सा तमायान्तं दृष्ट्वा 'स एवायमस्मद्वल्लभ' इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता। विकसितवदनकमला तमाह–'किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान्न ब्रवीति ?'।

सोऽब्रवीत् 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'। इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्–'यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति। एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ। स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्ति-

धवलगृहं=सौध।(महल)। स=मदभिलषित। आश्वस्तचित्तया=विश्वस्तचित्तया। मया=राजपुत्र्या। आत्मा=देह। त्वद्वर्जं=त्वा विहाय। खण्डदेवकुले=अपूर्णदेवमन्दिरे, जीर्णमन्दिरे वा। स्वैरिण्या=व्यभिचारिण्या। दत्तसङ्केतक=कृतसङ्केत। दण्डपाशिक=नगररक्षकसेनाध्यक्ष ('फौजदार' 'कोतवाल')। प्रतिपद्य=स्वीकृत्य। मतिविपर्यासात्=भ्रान्त्या। आरक्षकस्य=दण्डपाशिकस्य। इति=इत्थं मत्वा। घनतरान्धकारव्यामोहिता=गाढान्धकारेणोपहतलोचनशक्तिर्भ्रमसुपगता, वञ्चिता। विश्रब्धं=सस्नेहं, निर्भयञ्च। असमीक्षितम्=असम्यग्विचारितं सत्। सविषादया=

नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः सह गन्तुमारब्धवान् ।

अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुता तिष्ठति, तावन्मदमत्तो हस्त्यारोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयंस्तमेवोद्देशं प्राप्तः । तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः । अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः–अहं परित्राता'–इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ सङ्गृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान् ।

ततः कथमपि दैवयोगादपयाते हस्तिनि यावत्ससुहृद्बान्धवो वरकीर्तिरतिक्रान्ते लग्नसमये समागच्छति तावद्वधूरन्येन हस्ते गृहीता तिष्ठति । तद् दृष्ट्वा वरकीर्तिनाऽभिहितम्–'भोः श्वशुर! विरुद्धमिदं त्वयाऽनुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्याऽन्यस्मै प्रदत्ता'–इति । सोऽब्रवीत्–'भोः ! अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहाऽऽयातो–न जाने किमिदं वृत्तम् ?' । इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धवान्–'वत्से ! न त्वया सुन्दरं कृतम्, तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः ?' ।

दुःखितया । वीथीमार्गेण=नगररथ्यामार्गेण । अन्यविषयवासी=देशान्तरनिवासी । वरः=वैवाह्य· ('दुलहा' 'बीन्द') । तैः=वरपक्षीयैः । लग्नसमये=विवाहलग्नसमये । राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे=राजपथनिकटवर्त्तिधनिगृहद्वारे । (मण्डप = 'मांडा' । वेदिका = 'वेदी') कृतकौतुकमङ्गलवेशा=रचितविवाहोचितमङ्गलवेशा । हस्ती=गजः । आरोहकं=महामात्रम् । ('महावत') । प्रणश्यता=पलायमानानां–लोकाना कोलाहलेन=कलकलेन । 'प्रणश्ये'ति पाठे प्रणश्य=पलाय्येत्यर्थ· । (भाग कर) । लोकं=नगरवासिजनम् । उद्देशं=स्थानम् । प्रणश्य=प्रपलाय्य ('भागकर') । दिशो जग्मु·=यत्र तत्र गता· ।

भयेन तरले चञ्चले लोचने यस्यास्ताम् । परित्राता=रक्षकः । सुधीरं=महता

---

१ 'प्रणश्य' पा० ।

साऽब्रवीत्–'यदहमनेन प्राणसंशयाद्रक्षिता, तदेनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नाऽन्यः पाणिं ग्रहीष्यति'–इति। अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा। अथ प्रातस्तत्र सञ्जाते महाजनसमवाये तं वार्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशिकसुतापि तत्रैवागता। अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजापि तत्रैवाजगाम,–प्राप्तव्यमर्थं प्राह च–'भोः, विश्रब्धं कथय, कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः'?।

अथ सोऽब्रवीत्–'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'–इति। राजकन्या स्मृत्वा प्राह–'देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः–' इति। ततो दण्डपाशिकसुताऽब्रवीत्–'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे'–इति। तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताऽब्रवीत्–'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'–इति।

अभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वाऽवगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालङ्कारपरिवारयुतां दत्त्वा 'त्वं मे पुत्रोऽसी'ति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान्। दण्डपाशिकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सम्भाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ।

अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि–'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः'–इति।

धैर्येण। स्थिरीकृत्य=आश्वास्य। अपयाते=गते। श्वशुर=हे कन्यापितः!। प्रदाय=वाचा दत्त्वा। प्राणसंशयात्=जीवनसङ्कटात्। मुक्त्वा=विहाय। वार्ताव्यतिकरेण=वार्त्तालापप्रसङ्गेन। ('इस बातचीत के प्रसङ्गसे')। व्युष्टा=व्यतिक्रान्ता। प्रभातमभूदित्यर्थः। महाजनसमवाये=पौरजनमेलापके। (भीड मे)। वार्ताव्यतिकरं=जनकथाकोलाहलं, ('कहासुनी' गडबड)। स्मृत्वा=स्ववृत्तान्तं स्मृत्वा। विस्मय =कौतुकम्। पृथक् पृथक्–राजकन्यादे । अवगततत्त्व:=ज्ञातसकलवृत्तान्त । प्राप्तव्यमर्थाय=तस्मै वणिक्पुत्राय। 'पुत्रोऽसी'ति=मत्पुत्रस्त्वमिति नगरलोकविदितमुक्त्वा। सम्भाव्य=सत्कृत्य च। स =वणिक्सुत , वणिक् च।

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्।'

मन्थरक आह–'भद्र ! भवति सुहृदयमसन्दिग्धं, यत् क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति,—न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तञ्च यतः—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च, कारयेन्मित्रमुत्तमम्॥ ११६॥
विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः॥ ११७॥

तथा च—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं, मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत्॥ ११८॥

तन्ममाप्यद्याऽस्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो-यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह-जलचराणाम्।

अथवा साध्विदमुच्यते—

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत्।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षितः॥ ११९॥

तत्स्वागतं भवतः, स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे। यच्च

सुखदुःखं=सुखञ्च दुःखञ्च। सुख-सहितमिति वा विग्रहः। अनेन मित्रेण=वायसेन। त्वत्सकाशं=मन्थरकसन्निधौ। हिरण्यको मूषकराजोऽहम्। अयम्=वायसः। असन्दिग्धं यथा स्यात्तथा,—सुहृत्=मित्रम्। क्षुत्क्षामः=क्षुधातुरः। तथा च=तथाहि। ईदृशैश्चिह्नैर्मित्रपरीक्षा कार्येत्यर्थः। मित्रमेव–न दुर्जनः। वृद्धिकाले=समृद्धिकाले तु॥ ११८॥

अस्य=वायसस्य। अद्य यावत्तु मम दृढो विश्वासो नासीत्। यतः=यस्माद्धेतोः ('क्योंकि'-)। जलचराणामिति। मम कच्छपस्येति यावत्। नितान्तं=सर्वदा। मित्रेण=मित्रनामधारिणा। विध्वस्तात्=विनाशितात्। कार्यात्=कार्येण। परीक्षितः=कृतपरीक्षः। वैरी दृश्यते=वैरीत्युच्यते। कार्यहान्यादिचिह्नैर्मित्रनामधारी शत्रुरित्युच्यते इति यावत्। अन्येतु 'दृश्यते मित्रमुद्दिष्टात्कार्याद्वैरी

वित्तनाशो [विदेशवासश्च] ते सञ्जातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्तव्यः ।

उक्तञ्च—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नञ्च योषितः ।
किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १२० ॥

अत एव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति ।

उक्तञ्च—

सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितैर्निजेऽपि देहे न नियोजितैः क्वचित् ।
पुंसो यमाऽन्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरैरेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते ॥१२१॥

अन्यच्च—

यथाऽऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२२ ॥
निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२३ ॥
अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२४ ॥
अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२५ ॥

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यं । यतः—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः ?, को वा विदेशः स्मृतो,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।

विरोधतः' इति पठन्ति ॥ ११९ ॥ अभ्रच्छाया=मेघच्छाया । सिद्ध=पक्वम् । किञ्चिदिति । शीघ्रमेव धनयौवनादिकं विनश्यतीत्यर्थः ॥१२०॥ जितात्मानः=वशीकृतेन्द्रियाः । नियोजितैः=स्वशरीरार्थमपि न व्ययीकृतैः । यमान्तं=यमराजसन्निधिं । पञ्चपदी=पञ्चपदान्यपि सह तेन न गम्यत इत्यर्थः ॥१२१॥ आमिषं=मासम् । 'तानि चेत्–मोक्षार्थी सहते' इति सम्बन्धः ॥ १२५ ॥ स्वविषयः=स्वदेशः । न कोपीत्यर्थः । श्रयते=आश्रयते । बाहुप्रतापार्जितम्=बाहुबलोपार्जि-

यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः[1] सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १२६ ॥

अर्थहीनः परदेशे गतोऽपि यः प्रज्ञावान्भवति स कथञ्चिदपि न सीदति । उक्तञ्च—

कोऽतिभारः समर्थानां ?, कि दूरं व्यवसायिनाम् ? ।
को विदेशः सविद्यानां ?, कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥ १२७ ॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्यः । अथवा—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः[2] ॥१२८॥

अपरं प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत् । मुहूर्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते । स्वयमागतमपि विधिनाऽपह्रियते ।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैवाऽभाग्यः समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १२९ ॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत् ?' । स आह—

५. सोमिलकगुप्तधनोपभुक्तधनकथा ।

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म । स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि वस्त्राण्युत्पा-

तम् । दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरण सिंह —यद्वनं गाहते=श्रयते, तस्मिन्नेव वने हतगजरुधिरैः स्वतृष्णां शमयतीत्यर्थ ॥ १२६ ॥

प्रज्ञावान्=पण्डित । सीदति=क्लिश्यते । प्रज्ञानिधि =अतिबुद्धिमान् । प्राकृत = =साधारण. । अदीर्घसूत्रम्=अचिरक्रियम् । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रिय' इत्यमर ॥१२८॥ कर्मप्राप्त्या=अदृष्टवशात् । 'कर्माऽप्राप्त्ये'ति केचित्पठन्ति । फलप्रदकर्माभावादिति च तदर्थ. । तत्=धनम् । विधिना=भाग्येन ।

अधिष्ठाने=नगरे । पट्टरचना=विविधाकृतिमनोहरश्रेष्ठवस्त्ररचना । काष्ठ-

[1] 'प्रहरणै' रिति पाठे उपलक्षणे तृतीया । तैर्युत इत्यर्थ. । [2] 'मार्गति वासहेतोः' पा० ।

द्यति परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजना-च्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं सम्पद्यते । अथान्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्नाः। तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये ! पश्यैतान्स्थूलपट्ट-कारकान्धनकनकसमृद्धान्। तदधारणकं ममैतत्स्थानम् । तद-न्यत्रोपार्जनाय गच्छामि ।'

सा प्राह–'भोः प्रियतम ! मिथ्या प्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति, स्वस्थाने न भवती'ति । उक्तञ्च—

उत्पतन्ति[1] यदाकाशे निपतन्ति महीतले ।
धरण्यन्तमपि प्राप्ता नाऽदत्तमुपतिष्ठति ॥ १३० ॥

तथा च—

न हि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥१३१॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३२ ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति ।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठत्यथ सहात्मना ॥ १३३ ॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम् ।
एवं कर्म च कर्त्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३४ ॥

यन्त्ररचना वा । ('छापा')। तया रञ्जितानि (रंग बिरंगे छपे हुए)। पार्थिवो-चितानि=राजोपभोगार्हाणि । पट्टरचनानिपुणस्य=श्रेष्ठवस्त्रनिर्माणचतुरस्य । नाना-विधवस्त्ररञ्जनदारुयन्त्रैर्वस्त्ररञ्जनकर्मणि चतुरस्य वा । तत्र=अधिष्ठाने । धनसमृ-द्धान्=महाधनिन । अधारणकम्=अननुकूलम् । अशुभम् ।

उत्पतन्तीति । आकाशपातालपृथिव्यन्तेषु भ्रमताऽपि पूर्वजन्मोपार्जितातिरिक्त न लभ्यते इत्यर्थः ॥ १३० ॥ विन्दति=लभते । पुराकृतं=पूर्वजन्मार्जि-तम् । आत्मना सह तिष्ठति=आत्मानं न जहाति ॥ १३३ ॥ (छायातपौ=

---

१ "उत्पततोऽप्यन्तरिक्षं गच्छतोऽपि महीतलम् ।
धावतः पृथिवीं सर्वां नाऽदत्तमुपतिष्ठति ॥" इति पा० ।

तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव।' कौलिक आह-'प्रिये! न सम्यगभिहितं भवत्या, व्यवसायं विना कर्म न फलति। उक्तञ्च-

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम्॥ १३५॥
पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम्।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रं प्रविशेन्न कथञ्चन॥ १३६॥

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः?॥१३७॥

तथा च—

उद्यमेन हि सिद्ध्यति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ १३८॥
उद्यमेन विना राजन्! न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः।
कातरा इति जल्पन्ति 'यद्भाव्यं तद्भविष्यति'॥ १३९॥
स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः॥ १४०॥

'तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्'। इति निश्चित्य वर्धमान-पुरं[1] गतः। तत्र च वर्षत्रयं, स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः। अथाऽर्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान्रविरस्तमुपागतः। तदाऽसौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावशृणोत्। तत्रैक आह-'भोः कर्त्तः! त्वं किं सम्यङ् न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छा-

'धूप-छांह')। कर्त्ता=आत्मा, पुरुष.। कर्म=अदृष्टम्॥ १३४॥ यद्भावि तद्भविष्यति किं प्रयत्नेनेति कातरा=अनुद्योगिनः-क्लीबा जल्पन्ति, न शूरा॥१३९॥ दैवेनान्तरितः=विफलीकृत-पौरुषो यस्यासौ तथाभूतः॥ १४०॥ अर्धपथे=

१ वर्द्धमानपुरं='बदायूँ' इति प्रसिद्धम्।

दनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति, तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम् ?'। स आह—'भोः कर्मन् !, मयाऽवश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम्। तत्र च तस्य परिणतिस्त्वदायत्ता' इति। अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्तं पश्यति। ततः साक्षेपं चिन्तयामास-'अहो ! किमेतन्महता कष्टेनोपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम् ?। तद्व्यर्थश्रमोऽकिञ्चनः कथं स्वपत्न्या मित्राणाञ्च मुखं दर्शयिष्यामि।' इति निश्चित्य तदेव पत्तनङ्गतः। तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः। यावदर्धपथे स्थितमटवीगतन्तं वटं भूयः समासादयति तावदस्य भगवान्भानुरस्त जगाम[1]।

अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति, केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति। अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाऽशृणोत्। तत्रैकः प्राह—भोः कर्तः ! किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् ? तत्किं त्वं न वेत्सि यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किञ्चिन्नास्ति !'। स आह-भोः कर्मन् ! मयाऽवश्यं देयं व्यवसायिनाम्, तस्य परिणामस्त्वदायत्तः, तत्किं मामुपालम्भयसि !।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद्ग्रन्थिमवलोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति। ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्-'अहो ! किं मम धनरहितस्य जीवितेन ? तदत्र वटवृक्षे आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि।'

अर्धमार्गे। ('आधी दूर आनेपर') अटव्या=वने। पर्यटत=गच्छत। व्यालभयात्=सिंहादिभयात्। रौद्राकारौ=भीषणाकृतिधारिणौ। कर्मन्=हे अदृष्ट ! व्यवसायिनाम्=उद्योगिनाम्। तस्य=धनस्य। परिणति=परिणाम, स्थिरीभाव, उपभोगश्च। रिक्तं=सुवर्णखण्डरहितम्। साक्षेपम्=आत्मनो निन्दापूर्वकम्। हेलया=सहसा। व्यर्थश्रम=निष्फलप्रयास। अकिञ्चन=दरिद्र। कृता गृहं प्रति उत्कण्ठा येनासौ तथा। तादृशौ=भीषणाकारौ। उद्बध्य=ऊर्ध्वं बध्वा। प्रक्षि-

१ 'यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानु'रिति मुद्रितः पाठः।

एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो भोः सोमिलक ! मैवं साहसं कुरु, अहन्ते वित्तापहारकः, न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहे, तद्गच्छ स्वगृहं प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः, यथा मे न स्याद्व्यर्थं दर्शनं, तत्प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्।' सोमिलक आह-'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्।' स आह भोः! किङ्करिष्यसि भोगरहितेन धनेन ?। यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति।

किन्तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १४१ ॥

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु। उक्तञ्च—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि तद्दानाश्रितमानसैः।
सेव्यते स नरो लोकैर्यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ॥ १४२ ॥

तथा च—

शिथिलौ च सुबृद्धौ च पततः पततो न वा।
'निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पञ्च च' ॥ १४३ ॥

पति=शरीरं पातयति। (फाँसी पर लटकना चाहता ही था कि-) वराटिकां= कपर्दिकां (='कौड़ी')।

अन्यच्च=किन्तु। प्रभूतं=विपुलम्। केवला=स्वमात्रोपभोग्या। सामान्या= सकलोपभोगार्हा। पथिकैः=मार्गागतैरपि। भुज्यते=सेव्यते ॥ १४१ ॥ तद्दानाश्रितमानसैः='कदाचिदयं दास्यती'त्याशापाशबद्धैः। वित्तसञ्चय=धनराशि.। ॥ १४२ ॥ शिथिलौ=श्लथबन्धनौ। सुवृद्धौ=नितरां वृद्धिङ्गतौ। एतेन पतनयोग्यता ध्वनिता। सुबद्धाविति पाठे-वृत्तौ। पुष्टावित्यर्थ.। पततः=शीघ्रं पतिष्यत ?। नवा=नवा पतिष्यत.-? इत्येवं विचार्य। 'भद्रे' इति स्वभार्यासम्बोधनम्। मया पञ्चदश वर्षाणि यावदाशया निरीक्षितौ तदापि न पतिताविति भाव.। एवञ्चाशाबद्धा लोका अदातारमपि धनिनमनुसरन्त्येवेति भावः ॥१४३॥

पुरुष आह—'किमेतत् ?।' सोऽब्रवीत्—

६. वृषभवृषणानुसारिशृगालकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः[1] प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव।

अथ तत्रैव वने प्रलोभको[2] नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्! पश्याऽस्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ। यथा स्थितौ—तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः, एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।'

शृगाल आह—'प्रिये! न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति वा, न वा, ?। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि, ?। अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्य कश्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति, तन्नैतद्युज्यते कर्तुम्। उक्तश्च—

> यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
> ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च॥ १४४॥

मदातिरेकात्=गर्वातिशयात्। यूथं=वृन्दम्। शष्पाणि=घासाङ्कुरान्। वृषणौ=अण्डकोशौ। मांसपिण्डौ=मांसखण्डावण्डकोशौ। यथास्थिताविति। अनयोः स्थितिविशेषेण ज्ञायते यच्छीघ्रं पतिष्यत इत्यर्थः। यतः=यस्मात्कारणात्। तेषां=मूषकाणाम्। मुक्त्वा=परित्यज्य। ध्रुवाणि=निश्चितानि,—केवलमाशया, निषेवते। तस्य ध्रुवाण्यपि नश्यन्ति। अध्रुवाणि तु नष्टान्येवेत्यर्थः॥ १४४॥

---

[1] 'प्रलम्बवृषणो नाम षण्ड' (षण्ड=साड)। [2] 'प्रलोभिक.' पा०

शृगाल्याह—'भोः कापुरुषस्त्वं, यत्किञ्चित्प्राप्तं तेनैव सन्तोषं करोषि। उक्तञ्च—

सुपूरा स्यात्कुनदिका, सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसन्तुष्टः कापुरुषः, स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ १४५ ॥

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम्। उक्तञ्च—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम् ॥ १४६ ॥
न 'दैव'मिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन नो तैलं तिलेभ्योऽपि हि जायते ॥ १४७ ॥

अन्यच्च—

यः स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते ॥ १४८ ॥

यच्च त्वं वदसि-'एतौ पतिष्यतो न वे'ति ?। तदप्ययुक्तम्। उक्तञ्च—

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातकः को वराकोऽयं ?, यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥१४९॥

अपरं-मूषकमांसस्य निर्विण्णाऽहम्, एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते, तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्'-इति।

अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नो ह्रियते बलात् ॥ १५० ॥

यत्रेति। उत्साहेन-समारम्भः=कार्यारम्भः। 'समालम्ब इत्यपि पाठः'। नयस्य=नीतेर्विनयस्य च। संयोगः=समवायः। तत्र=महात्मनि पुरुषे। नेति। 'ना-उद्योग'मितिच्छेदः। दैवमस्तीत्येवं विचार्य-ना=पुरुषः, आत्मन उद्योगं न त्यजेत्। तिलेभ्योऽपि तैलमुद्योगेन विना न लभ्यते, अत उद्योग आवश्यक एवेत्यर्थः ॥१४७॥ दत्ता=भाग्यप्राप्तापि। मार्ज्यते=क्षीयते ॥१४८॥ तुङ्गिमा=शरीरमहत्त्वं। वारिवाहकः=जलवाहकः ('पनिहारा') ॥१४९॥ निर्विण्णा=खिन्ना।

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १५१ ॥

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमंश्चिरकालमनयत् । न च तयोः पतनमभूत् । ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह-

'शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १५२ ॥

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति, तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः' । अतोऽहं ब्रवीमि-'शिथिलौ च सुबद्धौ च-'इति । *

पुरुष आह-'यद्येवं तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरं, तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः । एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः । ततस्तयोः स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरं प्रार्थनीयः । यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन,-ततस्त्वामपि गुप्तधनं करोमि । अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि'—इति ।

एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः । सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः । सन्ध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्राल्लब्ध्वा अस्तमिते सूर्ये प्रविष्टः ।

अथाऽसौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठाद्गृहं प्रविश्योपविष्टः । ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम् । ततो भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः ।

तत्रैक आह-'भोः कर्त्तः ! किं त्वयाऽस्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितः ?, यत्सोमिलकस्याऽनेन भोजनं दत्तम् । तदयुक्तं त्वया कृतम् ।' स आह—भोः कर्मन् ! न ममात्र दोषः,

---

ग्लानिमुपगता । स्त्रीवाक्याङ्कुशेन=स्त्रीवाक्यान्येवाङ्कुशस्तेन, विशेषेण क्षुण्ण'=ताडित, यावद्बलान्न ह्रियते=न निगृह्यते । सुगं=सुगमम् ॥ १५१ ॥ तयो =अण्डकोशयो । 'पतत ' 'न वा पतत'-' इति निरीक्षितौ मयेत्यन्वय ॥ १५२ ॥

यद्येवम्=महती ते धनेच्छा । भूय =पुनरपि । गुप्तधन =रक्षितधन -कदर्य । अदर्शनम्=अन्तर्धानम् । तत्पुरं=वर्द्धमानपुरम् । निर्भर्त्स्यमान =सन्तर्ज्यमान ।

मया पुरुषस्य लाभः क्षतिश्च दातव्यौ, तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता'—इति ।

अथाऽसौ यावदुत्तिष्ठति तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाऽभिभूतः क्षणं तिष्ठति । ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः सञ्जातः ।

सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गतः । तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसम्मानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप । ततश्च निशीथे यावत्पश्यति तावत्तावेव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः ।

अथ तयोरेक आह—'भोः कर्त्तः ! अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः, तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति, ? । अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम् ।' स आह—'भोः कर्मन् ! मम कृत्यमेतत्, परिणतिस्त्वदायत्ता'—इति ।

अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास । तत् दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास-सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधनः । उक्तञ्च—

अग्निहोत्रफला वेदाः, शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा, दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५३ ॥

हठात्=वलात्कारेण, (जबरदस्ती) । भक्तिवर्जितम्=अनादरेण । विषूचिका=उदरामयः ('हैजा' 'दस्त') । खिद्यमानः=क्लिश्यमान· । विहितो भोजनाच्छादनादिना सम्मानो यस्यासौ तथा । उद्धारकविधिः=ऋणप्रतीकारोपाय· । (उद्धारक='उधार' 'कर्ज') । कथमस्योद्धारकमत आह—अनेनेति । अनेन=भुक्तधनेन । व्यवहारकगृहात्=कुसीदजीविगृहात् । ('वौहरा' महाजन') । कृत्यं=कार्यकरणमात्रम् । परिणाम =फलम् । राजप्रसादजं=राजानुग्रहसूचकम् । कदर्यः=बद्धमुष्टिः ('कञ्जूस') । श्रुतं=शास्त्राभ्यास· । शीलवृत्तफलं=विनयसदाचारफलं दानभोगफलकमेव धनं श्रेष्ठम् ॥ १५३ ॥

---

१ 'लाभः क्षतिश्च कर्त्तव्येति' पाठान्तरम् । तत्र क्षतिः=व्ययः ।

तद्भद्र हिरण्यक ! एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः । अथ विद्यमानमपि धनं भोगवन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम् ।

उक्तञ्च—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ? ॥ १५४ ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तधनं करोतु; न कार्यं मे गुप्तधनेन ।' तत. सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जात॰ ।

अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा'–इति । ※ ।

तथा च—

उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥१५५॥
दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्त्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥१५६॥

अन्यच्च—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१५७॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्तव्यम्, यतो दुःखाय तत् । उक्तञ्च—

धनादिकेषु खिद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशया ।
तप्ता ग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥१५८॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।

विधाता=ब्रह्मा । कर्माधिष्ठात्री देवता । कर्मभोगवन्ध्यतया=उपभोगदानादि-फलशून्यतया । तेन=निगूढेन । (गाडकर–रखेहुए) तेनैव=अन्यैर्निखातेन ॥ ॥१५४॥ परीवाह'=प्रणालिकामार्गेण क्षेत्रादौ प्रापणम् (सिचाई) ॥ १५५ ॥ मधुकरी=मधुमक्षिका । अन्ये=अन्ये लोकाः ॥ १५६ ॥ तृतीया गतिः= चौरादिना नाश. ॥ १५७ ॥ स्थित्यर्थं=केवलं स्थापनार्थम् ।

धनादीति । धनपुत्रदारादौ सुखाशा मृगतृष्णैवेति भावः ॥ १५८ ॥

कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥१५९॥
सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥१६०॥
पीयूषमिव सन्तोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ॥१६१॥
निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥१६२॥
वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः।
वाञ्छा निवर्तते नाऽर्थैः पिपासेवाऽग्निसेवनैः ॥१६३॥
अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ? ॥१६४॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरन्तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१६५॥
दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्सन्तोषतुल्य धनमस्ति नान्यत् ॥१६६॥
दारिद्र्यस्य परा मूर्तिर्याच्ञा, न द्रविणाल्पता
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥१६७॥

निधानं=सुगुप्तं धनम् । पीयूषम्=अमृतम् । पिबता=धारयताम् । परा=उत्कृष्टा । निर्वृत्ति=सुखम् ॥ १६१ ॥ मनसो निरोधे कृते सर्वेन्द्रियनिरोध स्वत एव भवति । गभस्तयः=किरणा ॥ १६२ ॥ वाञ्छाविच्छेदनम्=आशात्याग । स्वास्थ्यं=नीरोगताम् । शान्ता =वशीकृतेन्द्रियग्रामा । अर्थैः=धनैः । धनैराशा न निवर्तते, न हि वह्निना पिपासा शान्तिर्दृष्टेति भाव ॥ १६३ ॥ उच्चकैः=नितरामेव । स्वापतेयं=धनम् । किं किं न कुर्वते=अकृत्यं सर्वमपि कुर्वन्त्येवेत्यर्थ. । ॥ १६४ ॥ न शुभावहा=धनेच्छा न शुभदा । 'तस्यापि न शुभावहा'–इति पाठान्तरम् ॥ १६५ ॥ परा मूर्त्तिः=द्वितीयं रूपम् । न द्रविणाल्पता=नाल्पधनता ।

---

१ अत्र 'पराभूति' रिति मुद्रितः पाठ आसीत् ।

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १६८ ॥

एवं ज्ञात्वा भद्र! त्वया सन्तोषः कार्य.' । इति मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह-'मन्थरको यदेवं वदति तत्त्वया चित्ते न कर्तव्यम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

सुलभाः पुरुषा राजन्! सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६९ ॥
अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृदः प्रोक्ता, अन्ये स्युर्नामधारकाः' ॥ १७० ॥

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः । अथाऽऽयान्तं ससम्भ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः । मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः ।

अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—'एह्येहि सखे! मन्थरक! मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसि प्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं, न मानुषसम्भवः'—इति ।

तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक! यथायं मृगो दृश्यते-प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति,-तन्न तृषार्त एषः,—नूनं लुब्धकत्रासितः । तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति, न वा?-इति । उक्तञ्च—

जरद्गवधन =जीर्णवृषभमात्रधन । शर्व =शिव. । अतो याच्ञैव दारिद्र्यं, नाल्पधनता । अल्पधनस्यापि हि अयाचकस्य शिवस्य परमेश्वरत्वादिति भाव: ॥१६७॥ आर्य =सज्जन' । पतन्नपि=विपदमनुभवन्नपि । कन्दुकपातेनेति । कन्दुकवत्पतति—पुनरुत्तिष्ठति च द्रागेवेत्यर्थ । मूर्खस्तु—मृत्पिण्डवत्—पतित पुनर्नोन्नतिमश्नुते इत्याशय. ॥ १६८ ॥

नामधारका =मित्रनाममात्रधारका, न वस्तुत सुहृद ॥१७०॥ लुब्धक.=व्याध. । सरसि=सरोवरपरिसरभूमौ । शरस्तम्बम्=शरतृणगुल्मम् । ('पानी'

१ एवम्=अप्रियम् । २ 'क्रोधो न विधेय' ।

भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः ।
दिशोऽवलोकयत्येव, न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित् ॥ १७१ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक! ज्ञातं त्वया सम्यङ् मे त्रासकारणम्। अहं लुब्धकशरप्रहाराद्‌द्धारितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्यापादितं भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्।

तदाकर्ण्य मन्थरक आह-'भोश्चित्राङ्ग! श्रूयतां नीतिशास्त्रम्-

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने ।
हस्तयोश्चालनादेको, द्वितीयः पादवेगजः ॥ १७२ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः। अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्योवाच-'भो मन्थरक! गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः-प्रचुर मांसपिण्डधारिणः। तच्चित्राङ्ग! त्वं विश्रब्धो वनाद्बहिर्भव।'

ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।
विनापि सङ्गमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥ १७३ ॥
सुभाषितमयद्रव्यसङ्ग्रहं न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ?॥ १७४ ॥

'कूँचा')। उद्भ्रान्तदृष्ट्या=चकितत्रस्तदृष्ट्या। स्वास्थ्यं=स्थैर्यम् ॥१७१॥

उद्धारितः=दैवात्संरक्षितः। विमुक्तौ=विमुक्तये, प्राणरक्षणाय। हस्तयोश्चालनात्=सम्मुखयुद्धरूपः। पादवेगजः=पलायनात्मकः ॥ १७२ ॥ विश्रब्धः=निश्शङ्कः। सुभाषितरसास्वादेन बद्धः-धृतः-रोमाञ्च एव कञ्चुको यैस्ते-सुधियः= विद्वांसः। स्त्रीसङ्गं विनापि परं सुखमनुभवन्ति। स्त्रीसङ्गमे सुभाषितास्वादे च रोमाञ्चो भवति। 'सुख' मिति क्रियाविशेषणम् ॥ १७३ ॥

प्रस्तावयज्ञेषु=सुभाषितप्रसङ्गरूपे यज्ञे। तत्र यज्ञे सुभाषितमेव हि दक्षिणा-

तथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति, स्वयं वा न करोति यः ।
यस्य सम्पुटिका नास्ति, कुतस्तस्य सुभाषितम् ?॥१७५॥

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायातः । अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुमारब्धाः-'अहो ! किमद्य सुहृन्न समायातः ?, किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः ? उत लुब्धकैः?, अथवा अनले प्रपतितो, गर्तविषमे वा नवतृणलौल्यात्' ?-इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

स्व[1]गृहोद्यानगतेऽपि हि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ? ॥१७६॥

अथ मन्थरको वायसमाह-'भो ! लघुपतनक ! अहं हिरण्यकश्च तावद् द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषणं कर्त्तु-मन्दगतित्वात्, तद्गत्वा त्वमरण्यं शोधय-यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि ।

तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचत्-भद्र ! किमिदम् ?' । चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत्-

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वाऽपीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७७ ॥

ऽव्यम् ॥ १७४ ॥ सम्पुटिका=सुभाषितरत्नमञ्जूषा । सुभाषितसङ्ग्रह । तत्पुस्तकमिति यावत् । (सम्पुटिका='सुभाषित-सन्दूख' कापी) अनले=वह्नौ । गर्त्तविषमे=श्वभ्रबहुलप्रदेशे । नवतृणलौल्यात्=घासाङ्कुरलालसया । पापम्=अमङ्गलम् । दृष्टा ये बहव -अपाया =विपत्तय , तै प्रतिभये=भयानके । कान्तारस्य=दुर्गमवर्त्मन -मध्यस्थिते-सुहृदि-अमङ्गलाशङ्काया किमु ?-किं वक्तव्यम् । अवश्यमेव वनगते सुहृदि शङ्का भवत्येवेति भाव ॥ १७६ ॥

शोधय=यथावद्विलोकय । त=चित्राङ्गं मृगम् । नातिदूरे=किञ्चिद्दूरे । पल्वलतीरे=अल्पजलसरस्तीरे । कूटाख्ययन्त्रस्य पाशै-नियन्त्रित=बद्ध । मन्दः

---

१ 'लोलोद्यानगतेऽपि हि सहसा पाप विशङ्क्यते बन्धौ' पा० ।

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह-'भो मित्र ! सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः, तद्युक्तं सम्पन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं सञ्जातम् । उक्तञ्च—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
द्वयोः[1] सुखप्रदं तच्च जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १७८ ॥

तत्क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

'अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम् ।
तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः' ॥ १७९ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह-'भद्र ! न भेतव्यमस्मद्विधैर्विद्यमानैः । यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि । अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्तञ्च-

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ १८० ॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान् । हिरण्यकञ्च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्राङ्गसमीपे गतः । सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया संश्लिष्ट[2] आह—

विनष्टो वा दुःखवेगः-इष्टस्य=प्रियजनस्य, दर्शनात्-भूयोऽपि वर्द्धत इत्यर्थः । ॥ १७७ ॥ बाष्पावसाने=विलापाश्रुसमाप्तौ । सञ्जातः=सञ्जात एव । सम्पन्नं= जातम् । ('ठीक हुआ') ।

प्राणात्यये=प्राणनाशे । द्वाभ्यां=द्वयोः । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां वा । जीवतः सुखं सुहृद्दर्शनात्, मृत्युमापन्नस्यापि सुखं-मित्रदर्शनादेवेत्याशयः ॥ १७८ ॥ प्रणयात्=स्नेहात् । दुरुक्तम्=दुर्वचनम् । उदाहृतम्=उक्तम् । व्यसने=विपत्तौ । भुवनत्रयस्य तिलकं=भूषणमिव श्रेष्ठम् । विरलं=कश्चिदेव ॥ १८० ॥ भूयोऽपि=

---

१ 'तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च' पा० । २ 'संहृष्ट.' ।

आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः ॥ १८१ ॥

हिरण्यक आह–भद्र ! त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः, तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः ?' । स आह–'भोः ! न कालोऽयं विवादस्य । तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति तावद् द्रुततरं कर्तयेमं मत्पाशम् । तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः— किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद्बिभेषि ? । यतः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः सम्पन्ना,–यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति, तेन त्वां पृच्छामि ।'

स आह–'भद्र ! कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते । उक्तञ्च–

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ १८२ ॥
विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याऽप्यतिपण्डिताः ॥ १८३ ॥

एवन्तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसन्तप्तहृदयो मन्थरकः शनैः-शनैस्तं प्रदेशमाजगाम । तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह– 'अहो न शोभनमापतितम् ।' हिरण्यक आह–'किं स लुब्धकः समायाति' । स आह–'आस्तां तावल्लुब्धकवार्त्ता । एष मन्थरक समागच्छति । तदनीतिरनुष्ठिताऽनेन, यतो वयमस्य कारणान्नूनं व्यापादनं यास्यामः ।

यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति–तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि, त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि, चित्राङ्गो-

पुनरपि । संश्लिष्ट=समन्वित, संयुक्त । 'संहृष्ट' इति तु वयं गौडाः पठामः । अमला=अकपटाः, निर्दोषाश्च ॥ १८१ ॥ दक्षमति.=निपुणबुद्धि । कर्तय= छिन्धि । एना=बन्धनादिरूपाम् । मृत्युपाशबद्धानाम् । दैवेन=अदृष्टेन । उपहतं=कुण्ठितं चेतो येषा–तेषाम् । कुब्जगामिन्यः=विकलगतय, कुण्ठिताः ॥१८२॥ सुहृद्व्यसनसन्तप्तहृदयः=मित्रविपत्तिदुःखितचित्त । मन्थरक=तन्नामा कच्छप ।

ऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति, एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यति ?—इति व्याकुलोऽस्मि' ।' अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः ।

हिरण्यक आह—'भद्र ! न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः, तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम् ,—यावदसौ लुब्धको न समायाति ।'

मन्थरक आह—'भद्र ! किं करोमि, न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाऽग्निदाहं सोढुं, तेनाहमत्रागतः । अथवा साध्विदमुच्यते—

दयितजनविप्रयोगा वित्तवियोगाश्च केन सह्याः स्युः ?।
यदि सुमहौषधिकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥ १८४ ॥
वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः ।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो भवन्ति न भवद्विधाः' ॥ १८५ ॥

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागतः । तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः ।

अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः । लघुपतनको वृक्षमारूढः । हिरण्यकश्च समीपवर्ति बिलं प्रविष्टः ।

अथाऽसौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान् । अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्ययं कूर्म आहारार्थं सम्पादितः, तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यति' ।—एवं विचिन्त्य तं दर्भैः संछाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं

(आस्तान्तावत्='छोड़ो' 'रहने दो') । अनीतिः=अनुचितम् । अनुष्ठिता=कृता व्यापादनं=वधम् । एषः—मन्थरक । तत्रस्थः=क्षेत्रकोणस्थ. । मित्रेति । मित्रविपत्तिश्रवणवह्निज्वालाम् । दयितजनविप्रयोगाः=सुहृद्विरहाः । वित्तवियोगा.=धननाशादयः । विप्रयोग.=विरहः । सुमहौषधिकल्प =अमोघवीर्यमहौषधितुल्य. । वयस्याः=मित्राणि ॥ १८५ ॥ तस्य=कच्छपस्य । आकर्णपूरितशरासनः=कर्णपर्यन्ताकृष्टकोदण्ड. । पृष्ठमवलोकयन्=वलितग्रीवं पश्यन् । (घूम कर देखता हुआ) । कुरङ्ग =मृग । धात्रा=भाग्येन । कूर्म=कच्छपः । ('कछुवा') ।

प्रति प्रस्थितः । अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यदेवयत्–'कष्टं भोः ? । कष्टमापतितम्—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१८६॥
यावदस्खलितं तावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमञ्च पदे पदे ॥ १८७ ॥
यन्नम्रं सगुणं चापि यच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १८८ ॥
न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १८९ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मादपहृतम् ? ।

अपरमपि–मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात् । उक्तञ्च—

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १९० ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे । तत्किं ममोपर्यनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हन्त ! विधिः ? । यत आदौ तावद्वित्तनाशः, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो मित्रवियोगः–इति । अथवा स्वरूपमेतत्सर्वेषामेव जन्तूनां, जीवितधर्मस्य च । उक्तञ्च—

कायः सन्निहिताऽपायः सम्पदः क्षणभङ्गुराः ।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १९१ ॥

सम्पादित =सन्निधौ प्रेषित. । दर्भैः =तन्मयैर्बन्धनैः । अर्णवस्य=सागरस्येव महतो दुःखस्यैकस्य यावन्न समाप्तिरित्यर्थ. । छिद्रेषु=व्यसनेषु । बहुलीभवन्ति= वर्धन्ते ॥ १८६ ॥

अस्खलितम्=अपतनं, पादमोटनाद्यभावश्च । (स्खलितम्='गिरना' 'चोट-खाना') । विषमं=व्यसनादिना वैषम्यम् ॥ १८७ ॥ न सीदति=न विषादमनुभवति । ('न घबडावे') । शुद्धवंशजं=सुकुलोत्पन्नम्, गुणवद्वंशजञ्च । (वंश= 'बांस' व 'खान्दान') ॥ १८८ ॥ सोदर्ये=समानोदरे भ्रातरि ('सगा भाई') ।

तथा च–क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९२॥

अहो! साधूक्तं केनापि—

शोकाऽरातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम्? ॥ १९३ ॥

अत्रान्तरे चाऽऽक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ। अथ हिरण्यक आह–'अहो! किं वृथा प्रलपितेन? तद्यावदेष मन्थरको दृष्टिगोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्'–इति। उक्तञ्च—

व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत्।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्याऽन्तं नाधिगच्छति ॥ १९४ ॥
केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९५ ॥

अन्यच्च–अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम्।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः॥१९६॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह–'भोः, यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः, एष

आत्मजः=पुत्रः। विश्रम्भः=विश्वासः। निरन्तरे=अभिन्ने ॥१८९॥ कृतान्तेन=दुरदृष्टेन। 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाऽकुशलकर्मसु' इति विश्वः। अपरम्=अन्यत्। असम्पत्तौ=दारिद्र्यनिपाते। परो लाभः=उत्तमा धनाप्तिः। गुह्यस्य=गुप्तस्य। हन्त! इति विषादे। स्वरूपम्=प्रकारः, उदाहरणं वा। जीवितधर्मस्य=जीवनस्य। सन्निहितापायः=समीपतरवर्त्तिनाशः। सापगमाः=सवियोगाः ॥१९१॥ क्षते=व्रणे। ('चोट पर चोट')। जाठराग्निः=उदरभवोऽग्निः ('पेट की ज्वाला' 'भूख'।) समुल्लसन्ति=प्रकाशन्ते ॥१९२॥ परित्राणं=रक्षणम्। प्रीतिविश्रम्भयोः=स्नेहविश्वासयोः। भाजनं=पात्रम् ॥ १९३ ॥ आक्रन्दपरौ=विलापपरौ। भेषजं=प्रतीकारः। उच्छेदसमारम्भः=विनाशोद्योगः। विषादपरिवर्जनं=शोकत्यागः। ॥ १९५ ॥ अतीतलाभस्य=पूर्वलब्धस्य। सङ्गमः=निष्पत्तिः। परमः=उत्तमः

---

१. 'बहलीभवन्ती'ति पाठे–बहलं=घनम्। २. 'भविष्यदायस्ये'ति गौडाः पठन्ति।

चित्राङ्गोऽस्य मार्गे गत्वा किञ्चित्पल्वलमासाद्य, तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु, अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्दैश्चञ्चुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति। अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्डनीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति।'

चित्राङ्ग आह—'भोः! भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः, नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः'—इति। उक्तञ्च—

सिद्धिं वा यदि वाऽसिद्धिं चित्तोत्साहो निवेदयेत्।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः॥ १९७॥

—तदेवं क्रियताम्'—इति। तथानुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गासन्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत्।

तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत्—'नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा कथमप्येतद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात्, तदेनमपि तावद्गृह्णामि। इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत्। एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः।

चित्राङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तत उत्थाय वायसेन सह पलायितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो

॥ १९६॥ अस्य=व्याधस्य। पल्वलम्=अल्पं सरः। अहं=काकः। अस्य=मृगस्य। उल्लेखयिष्यामि=विदारयामि। अमुं=मृगं। पल्वलं=क्षुद्रं सरः। भद्रः=शोभनः। दृष्टः=विचारितः। मुक्तो मन्तव्यः=लुब्धकान्मुक्त एव ज्ञातव्यः। ('छूट गया ही समझो'।) प्रथमं=कार्यारम्भात्प्रागेव। प्राज्ञः=विद्वान्। वायससनाथं=काकसहितम्। वराकः=दीनः। ('विचारा')। नूनम्=अवश्यम्। सावशेषजीवितः=किञ्चिदवशिष्टप्राणः, मरणासन्नः। सुयन्त्रितत्वात्=दृढं बद्धत्वात्। एनं=मृगम्। उपाद्रवत्=अधावत्। वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन=वज्रतुल्यदन्तशस्त्रशालिना। करणे चा तृतीया। ततः=पल्वलतीरात्। विलक्षः=लज्जितः।

यावत्पश्यति; तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रोपविश्येमं श्लोकमपठत्—

प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
सम्प्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवाऽऽदेशतः।
क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः[1] समं भार्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त! कुरुते तच्चापि सह्यं मया॥१९८॥

—एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरङ्गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषिकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मानं मन्यमानास्तदेव सरः सम्प्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसङ्ग्रहः कार्यः। न च मित्रेण सह व्याजेन वर्त्तितव्यमिति। उक्तञ्च यतः—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते।
तैः समं न पराभूतिं सम्प्राप्नोति कथञ्चन॥ १९९॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तिर्नाम[2] द्वितीयं तन्त्रम्।

गुरुमृगः=महान् मृगः। त्वया=दैवेन। कमठः=कच्छपः। नियतम्=अवश्यम्। आदेशतः=आज्ञातः। क्षुत्क्षामः=क्षुधाक्षीणः। भार्यया शिशुकैश्च विरहितः=रहितः। भ्रमामि=इतस्ततो वने पर्यटामि। कृतान्त=हे विधातः!। ते=तव। मया सह्यमेवेत्यर्थः॥ १९८॥ एवं=काककूर्मादिकथां ज्ञात्वा। न च=नहि। व्याजेन=कपटेन। तैः=मित्रैः। पराभूतिं=शत्रुकृतं पराभवम्। न प्राप्नोति=न लभते। अतो मित्रसम्पदा सर्वेषां शिवम्।

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य-षट्शास्त्रवाचस्पति-मरुमण्डलमार्त्तण्ड-
श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, 'प्रतिवादिभयङ्करभयङ्कर'-
विद्यावाचस्पति-न्यायशास्त्राचार्य-श्रीशिवनारायण-
शास्त्रिणां पुत्रेण, श्रीराजलक्ष्मीगर्भसम्भूतेन श्री-
गुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायाम्पञ्चतन्त्रा-
भिनवराजलक्ष्म्यां मित्रसम्प्राप्ति-
नाम द्वितीयं तन्त्रम् *

---

१ 'त्यक्तस्तया भार्यया' इति गौडाः पठन्ति। २ 'मित्रप्राप्ति' इति पाठान्तरम्।

अथ काकोलूकीयम् ।

अथेदमारभ्यते काकोलूकीयं नाम तृतीयं तन्त्रं, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥१॥

तद्यथानुश्रूयते—'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य समीपस्थोऽनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छन्नो न्यग्रोधपादपोऽस्ति ।

तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवारः प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचनः सपरिजनः कालं नयति स्म ।

तथाऽन्योऽरिमर्दनो नामोलूकराजोऽसङ्ख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रयः प्रतिवसति स्म ।

स च रात्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात्परिभ्रमति । अथोलूकराजः पूर्वविरोधवशाद्यं कश्चिद्वायसं समासादयति तं व्यापाद्य गच्छति । एवं नित्याऽभिगमानाच्छनैः-शनैस्तन्न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तान्निर्वायसं कृतम् । अथवा भवत्येवम्

---

* श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः *

काकाश्चोलूकाश्चैषां समाहारः-काकोलूकं । 'येषाञ्च विरोध' इत्येकवद्भाव । काकोलूकमधिकृत्य कृतं तन्त्रं—काकोलूकीयम् । 'शिशुक्रन्दे'त्यादिना छप्रत्यय । पूर्वं विरोधितस्य—इदानीं—मित्रत्वमुपागतस्यापि शत्रोर्विश्वासं न कुर्यात् । काकप्रणीतेन=काकप्रक्षिप्तेन, काकानीतेन वा । 'प्रणीतमुपसम्पन्ने कृते क्षिप्ते प्रवेशिते' इति हैम ॥ १ ॥

अतिघनतरपत्रच्छन्न =निबिडतरपलाशसंछन्न । अनेककाकपरिवार'=अनेककाककुलपरिवृत । विहिता दुर्गस्य रचना येनासौ तथाभूत' । गिरिगुहैवाश्रयो यस्यासौ तथाभूत । समासादयति=लभते । नित्याभिगमनात्=निरन्तरमागमनात् । निर्वायसं=काकशून्यम् ।

उक्तञ्च—य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगञ्चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥
तथा च—जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ ३ ॥

अथान्येद्युः स वायसराजः सर्वान्वायससचिवानाहूय प्रोवाच "भोः! उत्कटस्तावदस्माकं शत्रुरुद्यमसम्पन्नः, कालविच्च। नित्यमेव निशागमे समेत्याऽस्मत्पक्षकदनं करोति, तत्कथमस्य प्रतिविधानं?। वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः, न च तस्य दिवा दुर्गं विजानीमः,—येन गत्वा प्रहरामः। तदत्र विषये किं युज्यते—सन्धि-विग्रह-याना‌ऽऽसन-संश्रय-द्वैधीभावानामेकतमस्य क्रियमाणस्य?। तद्विचार्य शीघ्रं कथयन्तु भवन्तः।'

अथ ते प्रोचुः-'युक्तमभिहितं देवेन,—यदेष प्रश्नः कृतः। उक्तञ्च—
अपृष्टेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन।
पृष्टेन तु [1]ऋतं पथ्यं वाच्यं च प्रियमप्रियम् ॥ ४ ॥
यो न पृष्टो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम्।
[2]सुमन्त्री प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ॥ ५ ॥
तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपते!।
येन तस्य वयं कुर्मो निर्णयं का[3]रणं तथा ॥ ६ ॥

प्रसरन्तं=वर्द्धमानम्। यदृच्छया=स्वेच्छया। तेन=शत्रुणा रोगेण च। अतिपुष्टाङ्गयुक्तः=बलवानपि। तेन=रोगेण शत्रुणा च ॥ ३ ॥ सचिवान्=मन्त्रिणः। उत्कटः=प्रचण्ड.। उद्यमसम्पन्नः=उद्योगी। कालवित्=कर्त्तव्यकार्यसमयवित्। अस्मत्पक्षकदनम्=अस्मत्पक्षविनाशनम्। प्रतिविधानम्, उपायश्च। देवेन=राज्ञा। किञ्चन=यत्किञ्चिदपि प्रियमप्रियं वा। ऋतं सत्यम्। पथ्यं=हितम् ॥४॥

यो मन्त्री पृष्टोऽपि हितं परिणामसुखदं वचो न ब्रूते, स न मन्त्री, न च प्रियकर्त्ता, किन्तु स रिपुरेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ हे महीपते! तस्मादेकान्ते मन्त्रः क्रियताम्, येन वयं यथावद्वक्तुं शक्नुमः। तस्य=मन्त्रस्य ॥ ६ ॥

१ 'पृष्टेन तु विशेषेण वाच्यं पथ्यं महीपते.' इति पाठान्तरम्। २ 'मन्त्री च प्रियवक्ता चेति' पाठान्तरम्। 'न मन्त्रीति' तु गौडाः पठन्ति। ३ 'वारण' पा०।

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागताननुज्जीविसञ्जीव्यनुजीविप्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्नः पञ्च सचिवान्प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धवान्।

तत्रैतेषामादौ तावदुज्जीविनं पृष्टवान्-'भद्र! एवं स्थिते किं मन्यते भवान्?'। स आह-'राजन्! बलवता सह विग्रहो न कार्यः, यथा स बलवान्कालप्रहर्ता च—तस्मात्सन्धानीयः। उक्तञ्च यतः—

बलीयसे प्रणमतां काले प्रहरतामपि।
सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः॥ ७॥

तथा च—सन्न्यायो धार्मिकश्चाढ्यो भ्रातृसङ्घातवान्बली।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत्॥ ८॥
सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं राज्यं भवति रक्षितम्॥ ९॥

येनानेकयुद्धविजयी स-तेन विशेषात्सन्धेयः। उक्तञ्च—

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः॥ १०॥
सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि।
'न हि सांशयिकं कुर्या'दित्युवाच बृहस्पतिः॥ ११॥

अन्वयागतान्=वंशपरम्परागतान्। उज्जीविन=तन्नामान मन्त्रिणम्। 'उद्दीपी'ति पाठान्तरम्। स्थिते=उपस्थिते। मन्यते=प्रतिविधानं मन्यते। स = उलूकराज। कालप्रहर्त्ता=अवसरप्रहर्त्ता। बलीयसे रिपौ प्रणताना, सत्यवसरे तत्र प्रहरताञ्च राज्ञां सम्पदो न नश्यन्ति। प्रतीपं=विपरीतं। निम्नगा=नद्य॥७॥ सन्न्यायः=नीतिकुशल, न्यायकर्त्ता च। आढ्य=धनी। अनेकविजयी=संङ्ग्रामविजयी। सन्धेय.=सन्धिनोपायेन साध्य॥ ८॥

स=उलूकराज। तत्प्रभावेण=अनेकयुद्धविजयिप्रभावेण, तस्य=निर्बलस्यापि राज्ञ। वश गच्छन्ति, वशीभवन्ति॥१०॥ समेन=समबलेनापि। यतो युधि विजय सन्दिग्ध एव, सन्दिग्धं च कर्म नोचितमित्यर्थ.॥११॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे समेनापि हि युध्यताम् ।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥
असन्दधानो मानान्धः समेनापि हतो भृशम् ।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसङ्क्षयम् ? ॥ १३ ॥
समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।
दृषत्कुम्भमिवाऽभित्वा नावतिष्ठेत शक्तिमान् ॥ १४ ॥
अन्यच्च—भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषां विग्रहं न समाचरेत् ॥ १५ ॥
खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम् ।
प्राप्नोति नखभङ्गं वा फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥
तस्मान्न स्यात्फलं यत्र पुष्टं युद्धं तु केवलम् ।
तत्र स्वयं तदुत्पाद्य कर्त्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥
बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाचरेत् ।
वाञ्छन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गीं कदाचन ॥ १८ ॥
कुर्वन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

उपायत्रितयादूर्ध्वे=सामदानभेदाख्योपायत्रयवैफल्ये एव ॥ १२ ॥ मानान्धः=अभिमानान्धः । अस्फुटोयं श्लोकः ॥ १३ ॥ शक्तिमता समं=बलवता सह युद्धं निर्बलस्य मृत्युमेव फलं ददाति । दृषत्=प्रस्तरः । यथा शिलया सह मृद्घटस्य संघर्षे घटो नश्यति, तथा बलिना युद्धे निर्बलो हन्यत इत्यर्थः ॥१४॥ हिरण्यं=प्रभूतं धनम् । आखुबिलं=मूषकबिलं । पाषाणशकलैः=शिलाखण्डैः । आकुलं=व्याप्तम् । फलं-नखाना पाषाणैर्भङ्गः, मूषकस्य क्षुद्रस्य लाभो वा । यत्र=युद्धे । पुष्टं=विपुलं । तत्=युद्धम् । उत्पाद्य=स्वयमुत्थाप्य ॥१७॥ वैतसीं=वेत्रसदृशी—नम्राम् । वेतसा हि जलवेगे समागते नमन्ति । भुजङ्गस्य इय—भौजङ्गी, तां=सर्पवदुद्धता-वृत्तिम् । अभ्रंशिनीं=स्थिराम् ॥१८॥ कूर्मस्यायं कौर्मः, तं कौर्मं=कच्छपाश्रितं । सङ्कोचं=स्वाङ्गसङ्कोचेन प्रहारमर्पणम् । आस्थाय=स्वीकृत्य ॥ २० ॥

१ 'जनानामिहे'ति पाठा० । २ 'आमकुम्भमिवाभित्वा नावतिष्ठेत शक्तिमा'निति पाठे-शक्तिमान्=जलादिः, आमम्=अपक्वम् । ३ श्लोकोयमशुद्ध इवाऽऽभाति ।
४ 'क्रमाद्वैतसवृत्तिस्तु' इति पाठः ।

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
प्राप्ते काले च[1] मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥
आग्रहं विग्रहं मत्वा सुसाम्ना प्रशमं नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसं च समुत्सृजेत् ॥ २१ ॥

तथा च—'बलिना सह योद्धव्य' मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं नहि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

एवमुज्जीवी साममन्त्रं सन्धिकारं कृतवान् ।

अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह-'भद्र ! तवाभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि ।' स आह-देव ! न ममैतत्प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह सन्धिः क्रियते ।

उक्तञ्च यतः—

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

अपरञ्च-स क्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः, तत्त्वया विशेषान्न सन्धेयः । उक्तञ्च यतः—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

तस्मात्तेन सह योद्धव्यमिति मे मतिः । उक्तञ्च यतः—

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।
मूढो युद्धावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥ २५ ॥

'आग्रहं विग्रहे त्यक्त्वा तं साम्ना प्रशमं नये'दिति गौडाः पठन्ति । तं=कलहम् । रभसं=युद्धौत्सुक्यं, चाञ्चल्यं वा ॥ २१ ॥ निदर्शनम्=उदाहरणम् । प्रतिवातं=वायुसम्मुखम् । घनः=मेघः ॥२२॥ सन्धिकारं=सन्धिसाधकम् । कृतवान्=निश्चितवान् ।

सुश्लिष्टेन=अतिदृढेन, स्वानुकूलेनापि ॥२३॥ विशेषात्=विशेषतः । असाधुत्वात्=दुष्टत्वात् । विक्रियां=विकारम् ॥ २४ ॥ लुब्धः=लोभी । अलसः=निरु

---

१ 'काले काले' इति पाठान्तरम् ।

अपरं-तेन पराभूता वयं, यद्यदि सन्धानकीर्तनं करिष्यामः, स भूयोऽत्यन्तं कोपं करिष्यति । उक्तञ्च —

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ? ॥ २६ ॥
सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ २७ ॥

यच्चैष वदति-'रिपुर्बलवान्'इति । तदप्यकारणम् । यत उक्तञ्च-

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नागे, सुसाम्राज्यं प्रपद्यते ॥ २८ ॥
मायया शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ २९ ॥

तथा च—मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।
शष्पतुल्यं हि मन्यन्ते[1] दयालुं रिपवो नृपम् ॥ ३० ॥
प्रयात्युपशमं यस्य तेजस्तेजस्वितेजसा ।
वृथा जातेन किं तेन मातुर्यौवनहारिणा ? ॥ ३१ ॥

त्साह । अस्थिरः=चञ्चलः । मूढः=मूर्ख । युद्धावमन्ता=शान्तिप्रियः । सुखोच्छेद्य=सुखं यथास्यात्तथा नाशयितुं शक्य ॥ २५ ॥ **सन्धानकीर्तनं**=सन्धिचर्चाम् । चतुर्थोपायसाध्ये=युद्धसाध्ये । अपक्रिया=अनुचितः प्रतीकारः । स्वेद्यम्=स्वेदार्हम् । आमज्वरम्=आमदोषोत्थितं ज्वरम् । अम्भसा=जलेन, कः परिषिञ्चति–न कोपीत्यर्थः ॥ २६ ॥

सामवादाः=सान्त्ववचनानि । दीपका =उत्तेजका. । प्रतप्तस्य घृतस्य जलबिन्दवो यथा उद्दीपका एवेति भाव ॥ २७ ॥ **वदति** । 'उज्जीवी मन्त्री'ति शेष । **सोत्साहेति** । उत्साहसहितया शक्त्या युत । 'उत्साहे'तिपाठेऽर्थ सरल एव । कण्ठीरव =सिंहः । लघुरपि गुरुं नागं=गजं यथा हन्ति । 'नागे' इति पाठान्तरम् । **साम्राज्यं**=विजयचक्रवर्तित्वं, प्रपद्यते=लभते ॥ २८ ॥ **उग्रदण्डस्य**=तीक्ष्णदण्डस्य । द्विष.=रिपव. । शष्पतुल्यं=घासाङ्कुरसदृशं । 'शष्पं बालतृणं घास.' इत्यमर' ॥ ३० ॥ **तेजस्वितेजसा**=बलवत्तेजसा । यस्य तेज' प्रशाम्यति

---

१ 'सर्वे ते हन्तुमिच्छन्ति दयालु रिपवश्च तम्' इति पा० ।

या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी वैरिशोणितकुङ्कुमैः ।
कान्ताऽपि मनसः प्रीतिं न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३२ ॥
रिपुरक्तेन संसिक्ताऽरिस्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीवने !'॥ ३३ ॥

—एवं सञ्जीवी विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामास । अथ तच्छ्रुत्वाऽनुजीविनमपृच्छत्-'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं निवेदय ।' सोऽब्रवीत्-'देव ! दुष्टः स बलाधिको निर्मर्यादश्च, तत्तेन सह सन्धिविग्रहौ न युक्तौ, केवलं यानमर्हं स्यात् । उक्तञ्च—

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।
न सन्धिर्विग्रहो नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३४ ॥
द्विधाकारं भवेद्यानं भयत्रस्तप्ररक्षणम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३५ ॥
कार्तिके वाऽथ चैत्रे वा विजिगीषोः प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चाऽन्यदा ॥ ३६ ॥
अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिताः ।
व्यसने वर्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ॥ ३७ ॥

तस्य वृथैव जन्मेत्यर्थ ॥ ३१ ॥ वीरशोणितकुङ्कुमैः=बलवच्छत्रुरक्तकुङ्कुमैः—या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी, न लिप्तदेहा । सा कान्ता=मनोहराऽपि, मनस्विना=मानधनाना नागरिकाणाञ्च मनसो मोदाय न भवति ॥ ३२ ॥

यस्य राज्ञो भूमिर्वैरिशोणितेन वैरिस्त्रीनेत्रजलेन—अश्रुणा च—न सिक्ता तस्य राज्ञो जीवने का खलु श्लाघा ?—नैव । हतशत्रोरेव यशो वर्धतइत्याशय ॥३३॥ विग्रहमन्त्र=युद्धनिश्चयम् । यानं द्विविधम्,—एकं बलिना पीडितस्य भीतस्य रक्षणाय यानम् । अपरं—विजिगीषोः शत्रुविजयाय यात्रारूपं यानमित्यर्थ· ॥३४॥

उत्कृष्टवीर्यस्य=अतिपराक्रमस्य, सेनादिबलशालिनश्च ॥३६॥ अवस्कन्दप्रदानस्य=सुगूढमाक्रमणस्य । ('छापा मारना' छिपा धावा') । छिद्रान्वितस्य=दोषयुक्तस्य ॥ ३७ ॥

---

१ 'वैरिस्त्रीनेत्रवारिणा' इति पाठा० । २ 'भये प्राणप्ररक्षणम्'—इति पाठोन्त्र । स च युक्तः ।

स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलैः ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रतः ॥ ३८ ॥
अज्ञातवीवधाऽऽसारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः ।
परराष्ट्रं-, स नो भूयः स्वराष्ट्रमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

ततो युक्तं कर्तुमपसरणम् । अन्यच्च—

न विग्रहो न सन्धानं बलिना तेन पापिना ।
[1]कार्यलाभमपेक्ष्याऽपसरणं क्रियते बुधैः ॥ ४० ॥

उक्तञ्च यतः—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्त्तुं, मृगपतिरपि कोपात्सङ्कुचत्युत्पतिष्णुः ।
हृदयनिहितवैरा गूढमन्त्रप्रचाराः किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तःसहन्ते ॥

अन्यच्च—

बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा देशत्यागं करोति यः ।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन्स मेदिनीम् ॥ ४२ ॥
युद्ध्यतेऽहङ्कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा ।
स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४३ ॥

स्वस्थानं=स्वराज्यम् । सुदृढं=सुरक्षितम्, आप्तैः=विश्वस्तैः । परदेशं=शत्रुविषयम् । अग्रतः=आदावेव । प्रणिधिव्याप्तम्=गुप्तचरैः सर्वतो व्याप्तम् ॥३८॥ अज्ञातवीवधासारतोयशस्यः=अनिर्णीतधान्यादिप्राप्तिसुहृद्बलान्नजलादिः । 'धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बल'मिति वैजयन्ती । 'विवधो वीवधो भारे पर्य्याहाराध्वनोरपी'तिहैमश्च। परराष्ट्रं=शत्रुदेशं । भूयः-पुनरपि । न अधिगच्छति=न प्राप्नोति ॥ ३९ ॥ अपसरणं=पलायनं । 'कर्त्तुन्ते युक्त'मिति योजना । बुधैः-पापिना तेन बलिना-शत्रुणा विग्रहः=युद्धं, सन्धिर्वा न क्रियते, किन्तु कार्यलाभ-मपेक्ष्य=कार्यसिद्धिमुद्दिश्य । 'कार्यकालमपेक्ष्ये'ति गौडाः पठन्ति । अपसरणं=पलायनमेव, क्रियते ॥४०॥ अपसरति=पृष्ठतोऽपयाति, (पीछे हटता है) । प्रहर्त्तुं=शत्रुमपरं मेषं हन्तुम् । मृगपतिः=सिंहः । सङ्कुचति=अङ्गसङ्कोचं करोति । उत्पतिष्णुः=उत्पतनशीलः । गूढ-मन्त्रस्य प्रचारः=विषयः प्रसारो वा येषान्ते तथाभूताः।'गूढ-मन्त्रोपचारा'इति पाठान्तरम्। विगणयन्तः विचारयन्तः। समयं नयन्तः॥४१॥अहङ्कृतिं=

१'कार्यकालं''तत्र युक्तं प्रभो! कर्तुं द्वितीयं यानमद्य वः'। इतिपा०। द्वितीयं=भीतरक्षणं।

तद्बलवताऽभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं, न सन्धेर्विग्रहस्य च।' एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य।

अथ तस्य वाक्यं समाकर्ण्य प्रजीविनमाह–भद्र! त्वमप्यात्मनोऽभिप्रायं वद।'

सोऽब्रवीत्–'देव! मम सन्धिविग्रहयानानित्रीण्यपि न प्रतिभान्ति। विशेषतश्चाऽऽसनं[1] प्रतिभाति। उक्तञ्च यतः—

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते॥ ४४॥

अन्यच्च—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान्।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीताऽऽत्ममुक्तये॥ ४५॥
यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसन्त्रस्तमानसः।
स्वं स्थानं सन्त्यजेत्तत्र न स भूयो विशेन्नरः॥ ४६॥
दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्यात्सर्वजन्तुषु॥ ४७॥
निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेन्नरः।
शक्तानामपि शत्रूणां, तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत्॥ ४८॥
तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा वीवधाऽऽसारसंयुतम्।
प्राकारपरिखायुक्तं[2] शस्त्रादिभिरलङ्कृतम्॥ ४९॥

गर्व। तस्य=बलीयस शत्रो। वाञ्छित=स्वविनाशरूपमभिलाषम्॥४३॥ न प्रतिभान्ति=न रोचन्ते। (अच्छे नही लगते हैं)। आसनम्=स्वदुर्गे एव स्थित्वा शत्रुप्रहारैरात्मरक्षणम्। नक्र=जलचरविशेष। स्वस्थानं=स्वदुर्ग जलादिकम्। स्थानात्=सरोवरादे.। शुना=कुकुरेणापि॥ ४४॥ अभियुक्त=आक्रान्त। प्रयत्नवान्=सर्वोपकरणादियुक्त, सावधान.। तत्रस्थ'=दुर्गस्थ एव। आत्ममुक्तये=स्वरक्षणाय॥४५॥ आगमम्=आगमन। तत्र=तस्मिन् राष्ट्रे। विशेत्=प्रविशेत्। 'वसेच्च स' इति पाठे तु–आधिपत्य कुर्यादित्यर्थ॥ ४६॥

दंष्ट्रा=आशी। गम्य'=पराभवयोग्यः। वन्य इति केचित्पठन्ति॥ ४७॥ शक्तानामपि शत्रूणा शतं योद्धु सहेत्=शक्नुयात्। 'सहो नर' इत्यपि

१ 'विशेषतश्च यानं'–इति पा०। २ 'यन्त्रप्राकारपरिखाग्रादिभिरलङ्कृत'मिति।

तिष्ठ[1] मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतनिश्चयः ।
जीवन्सम्प्राप्स्यसि क्ष्माऽन्तं मृतो वा स्वर्गमेष्यसि ॥५०॥

अन्यच्च[2]—

वलिनापि न बाध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।
विपक्षेणापि मरुता यथैकस्थानवीरुधः ॥ ५१ ॥
महानप्येकको वृक्षो बलवान्सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्यैव हि वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ॥ ५२ ॥
अथ ये संहताः वृक्षाः सर्वतः सुप्रतिष्ठिताः ।
न ते शीघ्रेण वातेन हन्यन्ते ह्येकसंश्रयात् ॥ ५३ ॥
एवं मनुष्यमप्येकं शौर्येणापि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५४ ॥

—एवं प्रजीविमन्त्रः । इदमासनसञ्ज्ञकम् ।

एतत्समाकर्ण्य चिरञ्जीविनं प्राह–'भद्र ! त्वमपि स्वाभिप्रायं वद' । सोऽब्रवीत्–'देव ! षाड्गुण्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तच्चस्यानुष्ठानं कार्यम् । उक्तञ्च—

पाठः । सह.=समर्थ. । वीवधः=धान्यादिप्राप्तिः । आसारः=मित्रबलम् । 'धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बल'मिति यादव. । (प्राकार ='शहर पनाह') । परिखा=खेयम् । (खाई) ॥ ४९ ॥ क्ष्मान्तं=पृथिव्यन्तं, भूमण्डलं । 'तिष्ठेन्मध्यगतो नित्य' मिति पूर्वार्धे, 'जीवन् स लप्स्यते कीर्त्तिं मृत. स्वर्गमवाप्स्यती'त्युत्तरार्धे च पाठान्तरम् ॥ ५० ॥ एकसंश्रया·=एकाश्रया. । 'एकसंश्रया'दित्यपि पाठः । विपक्षेण=शत्रुभूतेन । वीरुधः=प्रतानिन्यो लता ॥ ५१ ॥ एकक = एकाकी । सुप्रतिष्ठित·=सुदृढ. । प्रसह्य=हठात् । धर्षयितुम्=उत्पाटयितुम् ॥५२॥

संहताः=बहवो मिलिता. । हि=यतः । एकसंश्रयात्=मिलितत्वात् । एकस्थानस्थितत्वात् ॥ एकम्=एकाकिनम् । शक्यं=जेतुं शक्यम् ॥५४॥ संश्रयः= बलवदाश्रयणम् । षाड्गुण्यं=सन्धि–विग्रह–याना·सन·द्वैधीभाव–संश्रया गुणाः षट् । तेजस्वी=कोशसैन्यप्रभावशाली, तेजोयुक्तश्च । निर्वाते=सहायभूतपवन-

---

१ 'जीवन्स लप्स्यते कीर्त्तिं मृतःस्वर्गमवाप्स्यति' । पा० । २ 'उक्तञ्च' ।

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी किं करिष्यति ? ।
निर्वाते ज्वलितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ ५५ ॥
सङ्गतिः श्रेयसी पुंसां स्वपक्षे च विशेषतः ।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ५६ ॥

तदत्रैव स्थितेन त्वया कश्चित्समर्थः समाश्रयणीयो-यो विपत्प्रतीकारं करोति । यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं त्यक्त्वाऽन्यत्र यास्यसि, तत्कोऽपि ते वाङ्मात्रेणापि सहायत्वं न करिष्यति । उक्तञ्च (यतः)—

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः ।
स एव दीपनाशाय, कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ! ॥ ५७ ॥

अथवा नैतदेकान्तं, यद्बलिनमेकं समाश्रयेत् । लघूनामपि संश्रयो रक्षायै एव भवति । उक्तञ्च यतः—

सङ्घातवान्यथा वेणुर्निबिडो वेणुभिर्वृतः ।
न शक्यः स समुच्छेत्तुं दुर्बलोऽपि तथा नृपः ॥ ५८ ॥

यदि पुनरुत्तमसंश्रयो भवति—तत्किमुच्यते ? । उक्तञ्च—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारकः ।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ॥ ५९ ॥

शून्ये । 'निवाते' इति पाठान्तरम् ॥ ५५ ॥

सङ्गति=सम्पर्क', संश्लेषश्च । 'संहरति'रिति गौडा पठन्ति । स्वपक्षे=स्ववर्गाणाम् । प्ररोहन्ति=उद्भवन्ति ॥५६॥

अत्रैव=स्वदुर्ग एव । विपत्प्रतीकार=विपत्तिनाशम् । सहायत्वं=सहायताम् । वह्ने=बलवतोऽग्ने । स एव=मारुत एव । दीपस्य-निर्बलस्य तेजसो-नाशाय । कृशे=निर्बले । सौहृदं=स्नेह ॥ ५७ ॥

एकान्त=निश्चय । सङ्घातवान्=वेणुसङ्घसमावृत' । वेणु=वंश । निबिड= निरन्तर । समुच्छेत्तुम्=उत्पाटयितुम् । उत्तम=श्रेष्ठ । महाजनस्य=श्रेष्ठस्य । सम्पर्क=संश्रय । मुक्ताफलश्रिय=मौक्तिकशोभाम् ॥ ५९ ॥

---

१ 'दीर्घायुष' पा० ।

तदेवं संश्रयं विना न कश्चित्प्रतीकारो भवति। तस्मात्संश्रयः कार्य इति मेऽभिप्रायः—एवं चिरञ्जीविमन्त्रः।

अथैवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिरन्तनं पितृसचिवं दीर्घदर्शिनं सकलनीतिशास्त्रपारङ्गतं स्थिरजीविनामानं प्रणम्य प्रोवाच–'तात! यदेते मया पृष्टाः सचिवास्तावदत्र स्थितस्यापि तव,–तत्परीक्षार्थं, येन त्वं सकलं श्रुत्वा यदुचितं तन्मे समादिशसि। तद्युक्तं भवति तत्समादिश्यताम्।' स आह–'वत्स! सर्वैरप्येतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्तं सचिवैः, तदुपयुज्यते स्वकालोचितं सर्वमेव। परमेष द्वैधीभावस्य कालः। उक्तञ्च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च।
द्वैधीभावं समाश्रित्य पापे शत्रौ बलीयसि॥ ६०॥

ततः स्वयमविश्वस्तैर्लोभं दर्शयद्भिः शत्रुर्विश्वास्य[1] सुखेनोच्छिद्यते। उक्तञ्च—

उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्धयन्त्यरिमेकदा।
गुडेन वर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते॥ ६१॥

चिरन्तनं=पुरातनं, वृद्धम्। पितृसचिवं=पितुरमात्यम्। चिरजीवीत्यपि पाठः। एते=अनुजीव्यादयः सर्वे मन्त्रिण.। अत्र स्थितस्यापि=अत्र स्थितं भवन्तमनादृत्य–अपृष्ट्वैव। परीक्षार्थं=परितः सकलस्य विषयस्योपस्थित्यर्थम्। तदाह–येनेति। सकलं=सर्वेषां वचनम्। समादेश्यं=सम्यगादिश्यताम्। तत्= एतदुक्तम् स्वकालोचितं=स्वे स्वे समये सर्वमप्युपयुज्यते। एषः=इदानीमुपस्थितः। द्वैधीभावः=सन्धिना शत्रुं विश्वास्य सत्यवसरे तद्दूषणम्। बलीयसि रिपौ सन्धि कृत्वापि द्वैधीभावमाश्रित्य सदैवाऽविश्वस्त. तिष्ठेत्, न तु द्वैधीभावमाश्रितो नृपो बलीयसि विश्वासं कुर्यादित्यर्थः। सन्धिमादौ बलवता विधाय काले विग्रहः कार्य इति तत्त्वम्। 'नैव शत्रा'विति पाठस्त्वयुक्त एव॥ ६०॥

लोभं दर्शयद्भिः=लोभादिना भेदं जनयद्भिः, विजयादिलोभं दर्शयद्भिर्वा। 'स्वचारै' रिति शेषः। उच्छेद्यं=विनाशनीयमपि। एकदा=किञ्चित्कालपर्यन्त। श्लेष्मा=कफ। वृद्ध्या=वर्धनेनैव। निपात्यते=दूरीक्रियते। 'वैद्यै' रिति शेप। शम-

---

१ 'तच्छत्रुं विश्वास्य' इति, 'सुखेनोच्छिद्यते रिपु' इतिपा०।

उक्तञ्च—स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः॥ ६२॥
कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा।
एकभावेन कर्तव्यं शेषं भावद्वयाश्रितैः॥ ६३॥
एको भावः सदा शस्तो यतीनां भावितात्मनाम्।
श्रीलुब्धानां न लोकानां विशेषेण महीभृताम्॥ ६४॥

तद्द्वैधीभावं संश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति, लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि। अपरं यदि किञ्चिच्छिद्रं तस्य पश्यसि तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि।

मेघवर्ण आह—'तात! अहमविदितसंश्रयस्तस्य। तत्कथं तस्यच्छिद्रं ज्ञास्यामि?।'

स्थिरजीव्याह—'वत्स! न केवलं स्थानं,—छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणिधिभिः। उक्तञ्च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥ ६५॥

तथा चोक्तमत्र विषये—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषत.।
आप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात्॥ ६६॥

नीयमपि कफ वैद्या. पूर्वं सितागुडादिना वर्धयित्वाऽपनयन्तीति प्रसिद्धमेव॥ ६१॥ पण्यस्त्री=वेश्या। एकभावेन=नितान्त विश्वासेन॥ ६२॥ द्विजातयः=विप्रा। एकभावेन=निश्चिन्तेन एकभावाश्रितेन चेतसा। भावद्वयं=द्वैधीभाव.। विश्वासमभिदर्शयताप्यविश्वस्तेन॥ ६३॥ एको भाव—विश्वासात्मकः, स्नेहात्मकश्च। श्रीलुब्धाना=लोके परा कोटिमिच्छताम्। 'स्त्रीलुब्धाना' मिति क्वचित्पाठः॥ ६४॥

लोभाश्रयात्=लोभावेशात्। उच्चाटयिष्यति=स्वस्थानादुच्छेदयिष्यसि। अविदितसंश्रय=अज्ञातनिवास। तस्य=शत्रो.। 'मया सोऽविदितसंश्रय' इति पाठान्तरम्। प्रणिधिभि=गूढपुरुषै.। ('खुफिया' 'जासूस')। द्विजा'=पण्डिता।

---

१ 'द्वैधीभावं संश्रितस्त्वं स्वस्थाने वासमाप्स्यसि।
लोभाश्रयाद्द्रुतं मृत्युः शत्रुमुच्चाटयिष्यति॥' इति श्लोकात्मक पाठः सुन्दर.।

मेघवर्ण आह—'तात! कानि तीर्थान्युच्यन्ते ?। कति संख्यानि च ?। कीदृशा गुप्तचराः ?। तत्सर्वं निवेद्यताम्'-इति।

स आह-'अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादश तीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश; त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि, तैर्ज्ञातैः स्वपक्षः परपक्षश्च वश्यो भवति।

उक्तञ्च (नारदेन युधिष्ठिरं प्रति)—

रिपोरष्टादशैतानि[1] स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः॥ ६७॥

तीर्थशब्देनात्र-आयुक्तकर्माभिधीयते। तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तत्स्वामिनोऽभिघाताय भवति। प्रधानं भवति, तद्वृद्धये स्यादिति। तद्यथा-मन्त्री[1]। पुरोहितः[2]। सेनापतिः[3]। युवराजः[4]। दौवारिकः[5]। अन्तर्वंशिकः[6]। प्रशास्तृ[7]-समाहर्तृ[8]-सन्निधातृ[9]-प्रदेष्टारः[10]। अश्वसाधनाध्यक्षः[11]। गजाध्यक्षः[12]। पर्षदध्यक्षः[13]। बलाध्यक्षः[14]। कोशाध्यक्षः[15]। दुर्गपाल[16]-सीमापाल[17]-प्रोत्कटभृत्याः[18]। एषां भेदेन

चारै=गुप्तचरैः। इतरे=साधारणाः ॥६६॥ तीर्थम्=अधिकारारूढमन्त्र्यादिराजपुरुषाः, लक्षणया आयुक्तानां तेषां व्यापारोऽपि तीर्थम्। अविज्ञातैः=अविदितैश्चारैः। ॥ ६७॥ आयुक्ताः=राजाधिकृता। (अफसर)। तेषाम्=आयुक्ताना मन्त्र्यादीनाम्। कुत्सितं=दूषितम्। प्रधानं=श्रेष्ठम्, अच्छिद्रम्। तद्वृद्धये=स्वामिवृद्धये।

तीर्थशब्दार्थभूतान् मन्त्र्यादीनष्टादशाह—मन्त्रीति। दौवारिक=द्वारपाल, अन्तर्वंशिकः=अन्तःपुररक्षकाध्यक्ष.। 'अन्तःपुरे त्वधिकृतः स्यादन्तर्वंशिको जनः' इत्यमरः। प्रशासक=चौरादिशासनकर्त्ता। विषयाध्यक्ष.('कमिश्नर-' मजिस्ट्रेट)। समाहर्त्ता=करादिसङ्ग्राहकः। ('तहसीलदार' 'कलक्टर')। सन्निधाता=राजनिकटवर्त्तीप्रधानपुरुषः। राजपरिचारकाध्यक्षः, सङ्गृहीतकररक्षाध्यक्षो वा। प्रदेष्टा=राजाज्ञाप्रचारक ,लेखकश्च। अश्वसाधनाध्यक्ष:=अश्वसेनाध्यक्ष.। 'अश्वाध्यक्ष' इत्येव तु लिखितपुस्तके पाठ। 'साधनाध्यक्षः' इति च पृथङ् नाम। साधनाध्यक्षः =बलाध्यक्षः।

दुर्गपाल=कोट्टपतिः। (कोतवाल 'किलेदार') 'करपाल' इत्यस्य स्थाने—'पुरपाल' इति पाठः स्यात्। पुरपाल=पुरनगरव्यवहाराध्यक्ष। ('व्यौहारीजी' 'पञ्च'

---

१ 'कच्चिदष्टादशे'ति मुद्रितः पाठः।

द्वारिपुः साध्यते। स्वपक्षे च–देवी[1]। जननी। कञ्चुकी। मालिकः। शय्यापालकः। स्पशाध्यक्षः। सांवत्सरिकः। भिषक्। जलवाहकः। ताम्बूलवाहकः। आचार्यः। अङ्गरक्षकः। स्थानचिन्तकः। छत्रधारः। विलासिनी। एतेषां द्वारेण स्वपक्षे विघातः।

वैद्यसांवत्सराचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः।
तथाऽहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥ ६८ ॥

तथा च—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ ६९ ॥

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्याऽत्रान्तरे मेघवर्ण आह–'तात! अथ किं निमित्तमेवंविधं प्राणान्तिकं सदैव वायसोलूकानां वैरम्?'।

स आह–वत्स!

१ प्रथमा कथा

कदाचिद्धंस-शुक-बक-कोकिल-चातको-लूक-कपोत-पारावत-

मुखियाजी)। लिखिते तु 'करपाल' इति न पाठः। बलाध्यक्ष=सेनापति। सीमापाल=अन्तपाल। क्वचित्तथैव पाठः। घोरकटभृत्याः=वनपाला, उद्दण्डा वा राजसेवकाः। आटविकेति लिखिते पाठः।

देवी=राजमहिषी। जननी=राजमाता। कञ्चुकी=अन्तःपुररक्षकः। मालिक=मालाकार। शय्यापालकः=रात्रिरक्षक। स्पशाध्यक्ष=चराध्यक्ष। 'स्पर्शाध्यक्ष' इति तु स्थूलदृश पठन्ति। सांवत्सरिक=ज्यौतिषिक। भिषक्=वैद्य। जलवाहक=पानीयशालाध्यक्ष। जलदाता च। ताम्बूलवाहक=स्थगीवाहक। आचार्य=गुरु। नाट्यशास्त्राध्यापकश्च। स्थानरक्षक=आसनाध्यक्ष। विलासिनी=वारवनितादि। विघात=शत्रुकृतो भेद।

सांवत्सरः=गणक। चरा=गूढचराः। आहितुण्डिक=व्यालग्राही। उन्मत्ता=उन्मत्तवेषधरा ॥ ६८ ॥ तीर्थेषु=मन्त्र्याद्यष्टादशसु जलाशयेषु च। कृत्यविद=कार्यकुशला। प्रणिधय=गूढपुरुषाः, रत्नाद्यन्वेषकाश्च। 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इत्यमर। अन्त-पदं=स्थानं, पादप्रक्षेपश्च-कृत्वा। महत.-विद्विषन्नेव=शत्रुरेव, अम्भ=जल, तस्य, तलं=तत्त्वं, तलप्रदेशश्च। विदाङ्कुर्वन्तु=जानन्तु ॥ ६९ ॥

---

१ लिखितपुस्तकेऽस्या कथाया 'प्रथमा कथे'ति व्यपदेशो दृश्यते।

विष्किरप्रभृतयः सर्वेऽपि पक्षिणः समेत्य सोद्वेगं मन्त्रयितुमारब्धाः। 'अहो ! अस्माकं तावद्वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तः, न कामपि चिन्तामस्माकं करोति, तत्किं तेन वृथा स्वामिना ?। यो लुब्धकपाशैर्नित्यं निबध्यमानानां न रक्षां विधत्ते।
उक्तञ्च—

यो न रक्षति वित्रस्तान्पीड्यमानान्परैः सदा।
जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७० ॥
यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ् नेता ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ ७१ ॥
षडिमान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७२ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाऽप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामञ्च गोपालं, वनकामं[1] च नापितम् ॥ ७३ ॥

तत्सञ्चिन्त्याऽन्यः कश्चिद्राजा विहङ्गमानां क्रियताम्-इति।

अथ तैर्भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहितं यत्-'एष उलूको राजाऽस्माकं भविष्यति, तदानीयन्तां नृपाभिषेकसम्बन्धिनः सम्भाराः'-इति। अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासङ्घाते, प्रदत्ते सिंहासने, वर्तिते सप्त-

---

प्राणान्तिकं=मृत्युपर्यवसायि। 'प्राणान्तकर'मिति पाठान्तरम्। विष्किराः=कुक्कुटादयः। सोद्वेगं=सोत्क्लेशं। लुब्धकाः=शाकुनिकाः। पार्थिवरूपेण=नृपतिरूपेण। कृतान्तः=यम एव ॥ ७० ॥ नेता=नायकः, रक्षकश्च। ततः=तदा। अकर्णधारा=कर्णधारशून्या। (कर्णधार='पतवरिया' 'सारंग' मांझी')। विप्लवेत=विशीर्येत। भिन्ना=विशीर्णाम्। अर्णवे=सागरे। अप्रवक्तारं=अनुपदेष्टारम्। गोपालं=गोपं। वनकामं=वनप्रियम्। गोपालकर्मणो गोपालनस्य वनाधीनत्वात्, नापितकर्मणश्च क्षौरादेर्वनेऽभावात् ॥ ७३ ॥

भद्राकारं=विशिष्टाकृतिधरं, सुन्दरमिति वा। सम्भाराः=उपकरणानि। (राजतिलक की सामग्री)। साधिते=आनीते। प्रगुणीकृते=सज्जिते। मूलिका=

---

१ 'धनकामम्'-पा०।

द्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले, प्रसारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु-हेमकुम्भेषु, दीपेषु वाद्येषु च; सज्जीकृतेषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु बन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु समुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतीजने, आनीतायामग्रमहिष्यां कृकालिकायाम् , उलूकोऽभिषेकार्थं यावत्सिंहासने उपविशति, तावत्कुतोऽपि वायसः समायातः ।

सोऽचिन्तयत्-'अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च ?। अथ ते दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः-'पक्षिणां मध्ये वायसश्चतुरः श्रूयते । उक्तञ्च—

नराणां नापितो धूर्तः, पक्षिणाञ्चैव वायसः ।
दंष्ट्रिणाञ्च शृगालस्तु, श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥ ७४ ॥

तदस्यापि वचन ग्राह्यम् ।

उक्तञ्च—

बहुधा बहुभिः सार्धं चिन्तिताः सुनिरूपिताः ।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नयाः ॥ ७५ ॥

अथ वायसः समेत्य तानाह-'अहो ! किं महाजनसमागमोऽयं, परममहोत्सवश्च ?' ते प्रोचु -'भोः ! नास्ति कश्चिद्विहङ्गमानां राजा, तदस्योलूकस्य विहङ्गमराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभिः, तत्त्वमपि स्वमतं देहि, प्रस्तावे समा-

चक्राङ्कितासहदेवीप्रभृतय ओषधय. । प्रदत्ते=प्रस्थापिते । वर्त्तिते=चित्रिते । (बनाया) । सप्तेति । सप्तद्वीपयुक्तसमुद्रमण्डिते भूमण्डले इत्यर्थ । हेमकुम्भदीपाना जलतैलाभ्या पूरणम् । वाद्यपूरणञ्च-ताडनमेव । (बजाना) । समुदितमुखेषु=सहैव पठत्सु । अग्रमहिषी=पट्टमहिषी । कृकालिका-पक्षिभेद । (कोचरी 'चिकचिकवा') । किम्=किमर्थम् । समागम =मेलापकः (मेला) । श्वेतभिक्षु = जैनभिक्षु ॥७४॥ अस्य=काकस्य । वचन=सम्मति । सुनिरूपिता =सुनिर्णीता । विलीयन्ते=अन्यथा भवन्ति । नया =नीतिमार्गा । मन्त्रा इति यावत् ॥ ७५ ॥

महाजन =श्रेष्ठो जन । निरूपित =विचारित । प्रस्तावे=उचिते समये ।

१ 'चतुष्पदा'मिति पाठान्तरम् ।

गतोऽसि। अथासौ काको विहस्याह-'अहो! न युक्तमेतत्, यन्मयूर-हंस-कोकिल-चक्रवाक-शुक-कारण्डव-हारीत-सारसादिषु पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्याऽस्य करालवक्त्रस्याभिषेकः क्रियते। तन्नैतन्मम मतम्।

यतः—

वक्रनासं सुजिह्माक्षं क्रूरमप्रियदर्शनम्।
अक्रुद्धस्येदृशं वक्त्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम्? ॥ ७६ ॥

तथा च—

स्वभावरौद्रमत्युग्रं क्रूरमप्रियवादिनम्।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का नु सिद्धिर्भविष्यति? ॥ ७७॥

अपरं-वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्धः क्रियते राजा?। तद्यद्यपि गुणवान्भवति तथाप्येकस्मिन्स्वामिनि स्थिते नाऽन्यो भूपः प्रशस्यते—

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः।
युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥ ७८ ॥
गुरूणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे।
दुष्टानां पुरतः क्षेमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ७९ ॥

तथा च—

व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम्' ॥ ८० ॥

करालवक्त्रस्य=भीषणमुखस्य। सुजिह्माक्षं=कुटिललोचनं। सिद्धि=लाभ.। 'का नः, इति क्वचित् पाठ'।

एक एव तेजस्वी पार्थिव'=राजा भुवो हितार्थाय भवति। यथा युगान्ते=प्रलये बहवो भास्वन्त.=द्वादशापि सूर्या. उद्यन्ति—ते च जगतो विपत्तय एव, तथाऽनेकराजसमवायोऽपि देशविपत्तय एव भवति, न कल्याणायेत्याशय'।

गुरूणां=महता दुष्टानां, पुरत.—स्वामिसम्भवे नाममात्रेपि गृहीते, क्षेमं=विपत्तिनाश। वीरस्य राज्ञो नामकीर्त्तनादेव चौरादयस्त्रस्यन्तीत्याशय ॥७८॥

पक्षिण ऊचुः—'कथमेतत् ?' । स आह—

१. शशगजयूथनाथकथा

कस्मिंश्चिद्वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिपः प्रतिवसति स्म । तत्र कदाचिन्महत्यनावृष्टिः सञ्जाता–प्रभूतवर्षाणि यावत् । तया तडागह्रदपल्वलसरांसि शोषमुपगतानि । अथ तैः समस्तगजैः स गजराजः प्रोक्तः–'देव ! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्रायाः, अपरे मृताश्च । तदन्विष्यतां कश्चिज्जलाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थतां व्रजन्ति । ततश्चिरं ध्यात्वा तेनाभिहितम्–'अस्ति महाह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगङ्गाजलेन सदैव पूर्णः, तत्तत्र गम्यताम्'–इति ।

तथानुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्पद्भिः समासादितस्तैः स ह्रदः । तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्याऽस्तमनवेलायां निष्क्रान्ताः । तस्य च ह्रदस्य समन्ताच्छशकविलान्यसङ्ख्यानि[१] सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति । तान्यपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भिः परिभग्नानि । बहवः शशका भग्नपादशिरोग्रीवा विहिताः, केचिन्मृताः, केचिज्जीवशेषा जाताः ।

अथ गते तस्मिन्गजयूथे शशकाः सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासाः, केचिद्भग्नपादाः, अन्ये जर्जरितकलेवरा रुधिरप्लुता, अन्ये हतशिशवो वाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रुः –

व्यपदेशेन=नामकीर्त्तनेन, व्यपदेशेन–नामकीर्तनव्याजेन वा ॥८०॥ तत्र=वने । प्रभूतवर्षाणि=बहूनि वर्षाणि यावत् । तया=अनावृष्टया (तडाग ='तलाव') । ह्रद ='झील' । पल्वलं='तलैया' । (सर ='सरोवर') । गजकलभा =बालगजा ।

स्थलेति । स्थलमध्यगतोऽपि पातालगङ्गाजलेन परिपूर्ण इत्यर्थ । उपसर्पद्भि = गच्छद्भिः । अस्तमनवेलायां=सायङ्काले । शशकाना विलानि=निवासभूतानि गह्वराणि । सुकोमलभूमौ=बालुकाप्रदेशे । भग्नपादशिरोग्रीवा =मर्दितपादशिरःकन्धराद्यवयवा. । जीवशेषा =प्राणमात्रशेषा अपि भग्नाङ्गा. । समावासाः=निवास-

---

१ विलशब्दस्य नपुसकस्यैव प्रसिद्धया मुद्रितेषु दृश्यमानः पुँल्लिङ्गप्रयोगस्तु नोचित ।

'अहो ! विनष्टा वयम्, नित्यमेवैतद्गजयूथमागमिष्यति, यतो नान्यत्र जलमस्ति । ततस्सर्वेषां नाशो भविष्यति ।

उक्तञ्च—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः ॥ ८१ ॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिदुपायः' । तत्रैकः प्रोवाच-'गम्यतां देशत्यागेन,-किमन्यत् ।

उक्तञ्च—

त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८२ ॥
क्षेम्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ८३ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि' ॥ ८४ ॥

ततश्चान्ये प्रोचुः—'भोः ! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते सहसा त्यक्तुम्, तत्क्रियतां तेषां कृते काचिद्विभीषिका,-यत्कथमपि दैवान्न समायान्ति । उक्तञ्च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा ।
विषं भवतु मा वाऽऽस्तु फटाटोपो भयङ्करः ॥ ८५ ॥

अथाऽन्ये प्रोचुः-'यद्येवं ततस्तेषां महद्विभीषिकास्थानमस्ति येन नागमिष्यन्ति । सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका । तत्र विजयदत्तो नाम राजाऽस्मत्स्वामी शशकश्चन्द्रमण्डले निवसति तत्प्रेष्यतां कश्चिन्मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाशं यत्-चन्द्रस्त्वामत्र

स्थानानि । जर्जरितकलेवरा=शीर्णशरीराः । स्पृशन्=स्पर्शमात्रेणापि ॥ ८१ ॥ एकं=गृहभूपरिजनधनादिकम् । अर्थे=उपकाराय । रक्षणाय च । क्षेम्यां=कल्याणदाम् । आत्मार्थं=स्वरक्षणाय ॥ आपदर्थे=विपत्तिनाशाय ॥८४॥ तेषां=गजानाम् । विभीषिका=भयजननम् । चतुरदूतायत्ता=कुशलदूताधीना । मिथ्यादूतः=विजय-

ह्रदे आगच्छन्तं निषेधयति, यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ता-द्वसति।' एवमभिहिते श्रद्धेयवचनात्कदाचिन्निवर्तते।'

अथान्ये प्रोचुः-'यद्येवं तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशकः, स च वचनरचनाचतुरो दूतकर्मज्ञः। स तत्र प्रेष्यतामिति।

उक्तञ्च—

साकारो निःस्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥ ८६॥

अन्यच्च—

यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत्।
मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति॥ ८७॥

तदन्विष्यतां यथाऽस्माद्व्यसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः'। अथान्ये प्रोचुः—'अहो! युक्तमेतत्, नान्यः कश्चिदुपायोऽस्माकं जीवितस्य, तत्तथैव क्रियताम्'। अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो, गतश्च। तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्याऽगम्यं स्थलमारुह्य तं गजमुवाच-'भो! भो दुष्टगज! किमेवं लीलया निःशङ्कतयाऽत्र चन्द्रह्रदे आगच्छसि?, तन्नागन्तव्यं, निवर्त्यताम्'-इति। तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह—भोः! कस्त्वम्?'। स आह-'अहं लम्बकर्णो नाम शशकश्चन्द्रमण्डले वसामि—साम्प्रतं भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूतः।

दत्तस्य राज्ञो मिथ्यादूत। अस्मत्परिग्रहः=मम चन्द्रस्यानुचरवर्ग। समन्तात्=ह्रदस्य सर्वत.। श्रद्धेयवचनात्=विश्वासार्हवाक्यात्। साकार=सुन्दराकृति, नि. स्पृह = त्यागी। वाग्मी=वाक्पटुः॥ ८६॥ लौल्यसम्पन्न=चाञ्चल्ययुतं, लुब्धश्च। मिथ्यावादं=मिथ्याभाषिणम्। राजद्वारिकं=राजप्रतिनिधिम्, 'राजा दूतं समाचारे'-दिति गौडा. पठन्ति॥ ८७॥

सुनिर्मुक्तिः=रक्षणम्। तथैव=दूतप्रेषणमेव। निरूपित.=निश्चित.। 'दूतत्वे-ने'ति शेप।

अगम्यं=दुर्गमम्। लीलया=हेलया। प्रहितो दूतः=दूतत्वेन प्रहित.। भवान्

जानात्येव भवान्,-यथार्थवादिनो दूतस्य न दोषः करणीयः, दूतमुखा हि राजानः सर्व एव। उक्तञ्च—

उद्यतेष्वपि[1] शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि।
परुषाण्यपि जल्पन्तो वध्या दूता न भूभुजा' ॥ ८८ ॥

तच्छ्रुत्वा स आह—'भोः शशक! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमसः सन्देशम्, येन सत्वरं क्रियते।' स आह—'भवताऽतीतदिवसे यूथेन सहागच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः, तत्किं न वेत्ति भवान्,—यन्मम परिग्रहोऽयं?, तद्यदि जीवितेन ते प्रयोजनं तदा केनापि प्रयोजनेनाऽत्र ह्रदे नागन्तव्यम्—'इति सन्देशः।'

गज आह-'अथ क्व वर्तते भगवान्स्वामी चन्द्रः?'। स आह-'अत्र ह्रदे साम्प्रतं शशकानां भवद्यूथमथितानां हतशेषाणां समाश्वासनाय समायातस्तिष्ठति, अहं पुनस्तवान्तिकं प्रेषितः।'

गज आह-यद्येवं तद्दर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्याऽन्यत्र गच्छामि।'

शशक आह-'भोः! आगच्छ मया सहैकाकी येन दर्शयामि'। तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं गजं ह्रदतीरे नीत्वा, जलमध्ये स्थितं चन्द्रबिम्बमदर्शयत्। आह च-'भो! एष नः स्वामी जलमध्ये समाधिस्थस्तिष्ठति, तन्निभृतं प्रणम्य सत्वरं व्रजति—नो चेत्समाधिभङ्गाद्भूयोऽपि प्रभूत कोपं करिष्यति।'

अथ गजोऽपि त्रस्तमनास्तं प्रणम्याऽपुनरागमनायप्रस्थितः।

गजयूथप.। दोष=अपराध.। उद्यतेष्विति। दूतेन शस्त्रोत्थापने कृतेऽपि, स्वबन्धुवर्गस्य वधे च कृतेपि, परुषवचनेषूक्तेष्वपि राज्ञा तस्य वधो न कार्य इत्यर्थ. ॥ ८८ ॥ स.=गजराज। सन्देशं=शासनम्। ('हुकुम')। क्रियते=अनुष्ठीयते। अतीतदिवसे=गतदिवसे। प्रभूता = बहव.। परिग्रह. = अनुजीविवर्ग। कुटुम्बम्। हतशेषाणां = निर्दलितावशिष्टानाम्। अन्तिकं=समीपं। तत्=तस्मात्। तथानुष्ठिते=गजेन तद्वचने स्वीकृते। समाधिस्थः=ध्यानावस्थित।

---

१ 'उद्धृतेषु' इति पाठान्तरम्।

शशकाश्च तद्दिनादारभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म। अतोऽहं, ब्रवीमि-'व्यपदेशेन महताम्-' इति । ❀ ।

अपि च-क्षुद्रमलसं कापुरुषं व्यसनिनमकृतज्ञं पृष्ठप्रलपनशीलं स्वामित्वेन नाभियोजयेज्जीवितकामः । उक्तञ्च—

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ८९ ॥

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?' । स आह—

२. शशक-कपिञ्जलकथा

कस्मिंश्चिद्वृक्षे पुराऽहमवसम् । तत्राधस्तात्कोटरे कपिञ्जलो नाम चटकः[1] प्रतिवसति स्म । अथ सदैवाऽस्तमनवेलायामागतयोर्द्वयोरनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो व्रजति । अथ कदाचित्कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैश्चटकैः सहाऽन्यं पक्वशालिप्रायं देशङ्गतः । ततो यावन्निशासमयेऽपि नायातस्तावदहं सोद्वेगमनास्तद्वियोगदुःखितश्चिन्तितवान्-'अहो ! किमद्य कपिञ्जलो नायातः ?, किं केनापि पाशेन बद्धः ?, आहोस्वित्केनापि व्यापादितः ? । सर्वथा यदि कुशली भवति तन्मां विना न तिष्ठति ।' एवं मे चिन्तयतो बहून्यहानि व्यतिक्रान्तानि ।

निभृतं=सविनयं यथा स्यात्तथा । क्षुद्रं=नीचं । व्यसनिनं=व्यसनासक्तं, पृष्ठप्रलपनशीलं=परोक्षेऽप्रियवादिनम् । अभियोजयेत्=अभिषिञ्चेत, स्वीकुर्यात् ।

अर्थपतिम्=निर्णेतारम्, स्वामिनञ्च । न्यायान्वेषणतत्परौ=न्यायाभिलाषिणौ । 'कपिञ्जल'इति चटकनामधेयम् ॥ ८९ ॥

सः=काकः । अस्तमनवेलाया=सायम् । देवर्षिब्रह्मर्षीणां यानि पुराणानि—चरितानि, तेषां कीर्तनेन=वर्णनेन । पर्यटनावसरे च यानि दृष्टानि—अनेककुतूहलानि=नानाश्चर्याणि, तेषां प्रकथनेन । पक्वशालिप्रायं=सम्पन्नशालिबहुलं । कुशली=स्वस्थः ।

---

१ 'कपिञ्जलो नाम तित्तिरि' इति पाठा० ।

ततश्च तत्र कोटरे कदाचिच्छीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलाया-मागत्य प्रविष्टः, मयापि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारितः।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः स्वमाश्रयं स्मृत्वा भूयोऽपि तत्रैव समायातः। अथवा साध्विदमुच्यते-

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम्।
दारिद्र्येऽपि हि यादृक्स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे॥ ९०॥

अथाऽसौ कोटरान्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह-'भोः शशक! न त्वया सुन्दरं कृतं यन्ममाऽऽवसथस्थाने प्रविष्टोऽसि, तच्छीघ्रं निष्क्रम्यताम्।' शशक आह-'न तवेदं गृहं, किन्तु ममैव, तत्किं मिथ्या परुषाणि जल्पसि?

उक्तञ्च—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम्।
उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते॥ ९१॥

तथा च—

प्रत्यक्षं यस्य यद्भुक्तं क्षेत्राद्यं दश वत्सरान्।
तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्यान्न साक्षी नाऽक्षराणि वा॥ ९२॥
[1]मानुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तितः।
तिरश्चां च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः॥ ९३॥

तन्ममैतद्गृहम्, न तव'-इति। कपिञ्जल आह-'भो! यदि स्मृतिं प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह, येन स्मृतिपाठकं पृच्छावः,

पीवरतनुः=स्थूलकायः। गृहे=स्वगृहे॥ ९०॥ साक्षेपं=सनिन्दम्। सुन्दरम्=उचितम्। आवसस्थाने=गृहप्रदेशे। निष्क्रम्यतां=गम्यताम्। ('निकलो')। परुषाणि=क्रूराणि। देवलयाः=देवमन्दिराणि। कुजन्मानः=वृक्षाः। उत्सर्ग-दानं। स्वाम्यं=प्रभुत्वम्॥ ९१॥ भुक्तम्=उपभुक्तं। भुक्ति=उपभोगः ('कब्जा')। अक्षराणि=लेखः। तिरश्चा=मृगादीनाम्, पक्षिणाञ्च। न भुक्तिः प्रमाणं किन्तु-यावदेव=यावत्कालम्। समाश्रयः=निवास एव प्रमाणम्॥ ९३॥ तत्=शून्यस्य

१ 'मानुषाणां प्रमाणं स्याद्भुक्तिर्वै दशवार्षिकी'-इति लिखिते पाठः।

स यस्य ददाति स गृह्णातु। तथानुष्ठिते मयापि चिन्तितम्–किमत्र भविष्यति ?, मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः।' ततः कौतुकादहमपि तावनु प्रस्थितः। अत्रान्तरे तीक्ष्णदंष्ट्रो नामाऽरण्यमार्जारस्तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्नं नदीतटमासाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरर्धपादस्पृष्टभूमिः श्रीसूर्याभिमुख इमां धर्मोपदेशनामकरोत्—

'अहो ! असारोऽयं संसारः, क्षणभङ्गुराः प्राणाः, स्वप्नसदृशः प्रियसमागमः। इन्द्रजालवत्कुटुम्बपरिग्रहोऽयम्। तद्धर्मं मुक्त्वा नान्या गतिरस्ति। उक्तञ्च—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसङ्ग्रहः ॥ ९४ ॥
यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ९५ ॥
नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—

पुलाका इव धान्येषु पूतिका[1] इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९७ ॥

मयाश्रयणात्। स्मृतिपाठकं=स्मृतितत्त्वज्ञम्। मया=काकेन। द्रष्टव्य =अवश्यं दर्शनीय.। न्यायः=अस्य निर्णय। तावनु=तयोः पृष्ठत·। कृतकुशोपग्रह =गृहीतकुशमुष्टि.। धर्मोपदेशना=धर्मोपदेशम्। (व्याख्यान)। क्षणभङ्गुराः=आशुविनाशिन.। स्वप्नसदृश.=स्वप्नदृष्टवदतात्त्विक। इन्द्रजालं=मायानिर्मित पदार्थजातम्। मुक्त्वा=विहाय। विभव.=सम्पत्ति। शाश्वत.=नित्य। धर्मसङ्ग्रह =धर्मोपार्जनम् ॥ ९४ ॥ धर्मविहीनानि=धर्मानुष्ठानशून्यानि। भस्त्रा=चर्मप्रसेविका। ('भाथी')। श्वसन्=वायुं मुञ्चन्नपि ॥ ९५ ॥ कौपीनः=गुह्य, स्त्रीपुरुषचिह्न–शिश्नयोन्यादि। 'कौपीनं स्यादकार्येपि चीरगुह्यप्रदेशयो'रिति विश्व।

पुलाकः–तुच्छधान्यभेदः। 'स्यात्पुलाकस्तुच्छधान्ये' इत्यमर.। पूतिका

---

१ 'कूतिका' इति लिखितपुस्तकपाठ।

श्रेयः पुष्पफलं वृक्षाद्दध्नः श्रेयो घृतं स्मृतम् ।
श्रेयस्तैलञ्च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषात् ॥ ९८ ॥
सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पशवो यथा ॥ ९९ ॥
स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०० ॥
संक्षेपात्कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः ।
'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' ॥ १०१ ॥
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाऽवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' ॥ १०२ ॥

अथ तस्य तां धर्मोपदेशनां श्रुत्वा शशक आह-'भो ! भोः कपिञ्जल ! एष नदीतीरे तपस्वी धर्मवादी तिष्ठति, तदेनं पृच्छावः ।'

कपिञ्जल आह-'ननु स्वभावतोऽस्माक शत्रुभूतोऽयमस्ति, तद्दूरे स्थितौ पृच्छावः, कदाचिदस्य व्रतवैकल्यं सम्पद्येत । ततो दूरस्थितावूचतुः-'भो भोस्तपस्विन् ! धर्मोपदेशक ! आवयोर्वि-

---

कूतिका वा-पक्षिभेदः । कारणम् =कर्त्तव्यकारणम् ॥ ९७ ॥ वृक्षात्-पुष्पं फलं वा श्रेयः-श्रेष्ठं लभ्यते, दध्न. श्रेष्ठं घृतं भवति, पिण्याकः=तिलकल्कः (खली)। मानुषात्=मनुष्यशरीरात् ॥ ९८ ॥

मूत्रेति । मूत्रपुरीषोत्सर्जन-भोजनादिमात्रव्यापारा. खलु धर्महीना, परार्थाय=पश्वादिवद्भारवहनाय ॥ ९९ ॥ यद्यपि-स्थैर्यं=स्थिरतया विमृश्य कार्यकरणम् । शंसन्ति=प्रशंसन्ति । नयपण्डिता.=नीतिकुशलाः । तथापि बह्वन्तराययुक्तस्य=विघ्नबहुलस्य, धर्मस्य तु-त्वरिता=चपला । गतिः=गमनम् । अत शीघ्रमेव धर्मोपार्जनं कर्त्तव्यं तत्र विलम्बो न कार्यः ॥ १०० ॥

व =युष्मभ्यं संक्षेपेण धर्मः कथ्यते । तमेवाह-परेति । पुण्याय=पुण्यजनकः ॥ १०१ ॥ धर्मसर्वस्व=धर्मतत्त्वम् । अवधार्यतां=निश्चीयताम् । प्रतिकूलानि=दुःखजनकानि ॥ १०२ ॥

स्थितौ=तिष्ठन्तौ । व्रतवैकल्यं=कपटव्रतित्वम् । कदाचित् व्रतदम्भं त्यक्त्वा

वादो वर्तते, तद्धर्मशास्त्रद्वारेणाऽस्माकं निर्णयं कुरु। यो हीनवादी स ते भक्ष्यः-' इति। स आह-'भद्रौ! मा मैवं वदतं, निवृत्तोऽहं नरकपातकमार्गात्। अहिंसैव धर्ममार्गः। उक्तञ्च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्भिरुदाहृतः[1]।
यूकामत्कुणदंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ॥ १०३ ॥
हिंसकान्यपि भूतानि यो हिनस्ति स निर्घृणः।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ॥ १०४ ॥

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून्व्यापादयन्ति, ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्-'अजैर्यष्टव्यम्-' इति। अजा व्रीहयस्तावत्सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषाः। उक्तञ्च—

वृक्षांश्छित्त्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ! ॥ १०५ ॥

तन्नाहं भक्षयिष्यामि, परं जयपराजयनिर्णयं करिष्यामि। किन्त्वहं वृद्धो दूराद्युवयोर्भाषान्तरं सम्यङ्न शृणोमि, एवं ज्ञात्वा मम समीपवर्तिनौ भूत्वा ममाग्रे न्यायं वदतं, येन विज्ञाय विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोकबाधो न भवति। उक्तञ्च यतः-

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरकं नरः ॥१०६॥

अस्माकमुपरि आक्रमण कुर्यात्। हीनवादी=दोषी। नरकपातक=नरकप्रद। यूका=केशकीट। मत्कुण=रक्तप, खट्वाकीट। (दंश='मच्छड')॥१०३॥ हिंसकानि=सिंहसर्पादीनि। निर्घृणः=निर्दय। शुभानि=अहिंसकानि, शशकमृगादीनि ॥ १०४ ॥ परमार्थं=रहस्यभूतमर्थम्। तत्र=वेदे। सप्तवार्षिकाः=सप्तभ्यो वत्सरेभ्य पूर्वमुत्पन्ना-पुराणा। एवं=प्राणिहिंसया॥ १०५ ॥ भाषान्तरम्=वचनमुत्तरप्रत्युत्तररूपम्। न्यायम्=अभियोगम्। विवादपरमार्थं=विवादस्योचितं निर्णयकारकम्। न्यायं=विवादनिर्णयम्। अन्यथा ब्रूते=मिथ्या निर्दिशति।

---

१ 'यस्मात्सर्वहिते रत' इति लिखितपुस्तकपाठः।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥१०७॥
उपविष्टः सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वचः ।
तस्माद्दूरेण सा त्याज्या न्यायं वा कीर्तयेदृतम् ॥१०८॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम् ।' किं बहुना—तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ यथा तस्योत्सङ्गवर्तिनौ सञ्जातौ । ततश्च तेनापि समकालमेवैकः पादान्तेनाक्रान्तः, अन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च । एवं द्वावपि गतप्राणौ भक्षिताविति । अतोऽहं ब्रवीमि—'क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य—' इति ❀

भवन्तोऽप्येनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः शशकपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयमतः परम् ।'

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य 'साध्वनेनाभिहितम्-'इत्युक्त्वा-'भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे'—इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभिमतं जग्मुः । केवलमवशिष्टो भद्रासनोपविष्टोऽभिषेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सहाऽऽस्ते । आह च-'कः कोऽत्र भोः ? । किमद्यापि न क्रियते ममाभिषेकः ?' । इति तच्छ्रुत्वा कृकालिकयाऽभिहितम्—'भद्र ! तवाभिषेके कृतोऽयं

पश्वनृते=पशुविवादस्य मिथ्यानिर्णये कृते सति । पञ्च—पञ्च पशून्, हन्ति=तद्वधपापभाग् भवति । गवानृते=दशगोवधपापभाग् भवति ॥ १९७ ॥

सभा=राजसभा ('कचहरी') । तत्रोपविष्टो विद्वान्, साक्षी वा । स्फुटं=अकपटं, सत्यम् । तेन सभा वा त्यक्तव्या सत्यं वा वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १०८ ॥ अत्र खण्डित इव पाठः ।

विश्रब्धौ=जातप्रत्ययौ । निःशङ्कौ, तेन=मार्जारेण । तूर्णं=त्वरितम् । उत्सङ्गवर्तिनौ=क्रोडान्तर्गतौ, तेन=मार्जारेण । दंष्ट्राक्रकचेन=दंष्ट्राकरपत्रेण । भवन्तः=पक्षिणः । शशकपिञ्जलमार्गेण=तद्वत् मृत्युमार्गेण । तस्य=काकस्य । भूयोऽपि=पुनः कदाचित् । समेत्य=मिलित्वा । मन्त्रयिष्यामहे=मन्त्रणा करिष्यामः । यथाभिमतं=स्वस्वस्थानम् । भद्रासनोपविष्टः=सिंहासनासीन । अभिषेकाभिमुख=राज्या-

विघ्नो वायसेन, गताश्च सर्वेऽपि विहगा यथेप्सितासु दिक्षु, केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः केनापि हेतुना तिष्ठति, तत्त्वरितमुत्तिष्ठ येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि ।'

तच्छ्रुत्वा सविषादमुलूको वायसमाह–'भो भो दुष्टात्मन् ! किं मया तेऽपकृतम् ? यद्राज्याभिषेको मे विघ्नितः ?' । तदद्य प्रभृति सान्वयमावयोर्वैरं सञ्जातम् । उक्तञ्च—

रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चाऽसिना ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम्' ॥ १०९ ॥

—इत्येवमभिधाय कृकालिकया सह स्वाश्रयं गतः ।

अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत्–'अहो ! अकारणं वैरमासादितम् मया । किमिदं व्याहृतम् । उक्तञ्च—

अदेशकालार्थमनायतिक्षमं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः ।
य[२]च्चोऽब्रवीत्कारणवर्जितं [३]वचो न तद्वचः [४]स्याद्विषमेव तद्वचः ॥११०॥
बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम् ।
भिषङ्ममास्तीति विचिन्त्य भक्षयेदकारणात्को हि विचक्षणो विषम् ?॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः ।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥११२॥

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं स्वयं च बुद्ध्या प्रविचारिताश्रयम् ।
करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान् सएव लक्ष्म्या यशसां च भाजनम् ॥

भिषेकोत्सुक· । दिवान्धः=उलूक· । विघ्नितः=अवरुद्ध· । सान्वयं=वंशपरम्परासहितम् । रोहति=समीभवति । सायकैः=बाणै· असिना=खड्गेन । बीभत्सं=भीषणम्, जुगुप्सितञ्च । 'वाक्क्षत'मित्यत्र 'वाक्कृत'मित्यपि पाठ· ॥ १०९ ॥

अदेशकालार्थं=देशकालानुचितम् । अनायतिक्षमम्=उत्तरकालेऽशुभप्रदम् । कारणवर्जितं=निष्कारणम् । बलोपपन्न=बलिष्ठोपि । भिषक्=वैद्य । मम=मत्सन्निधौ । इति=इति हेतो· । विचक्षण=विद्वान् ॥ १११ ॥ परिवादः=निन्दावाक्यम् ॥११२॥ आप्तै=प्रामाणिकै । प्रविचारित· आश्रयः=मूलं यस्य तत् । लक्ष्म्या· भाजनं=पात्रम् ॥ ११३ ॥

१ 'वन परशुना हत'मिति पाठान्तरम् । २ 'यत्राब्रवीत्' पा० । ३ 'विचिन्त्यबुद्ध्या मुहुरप्यवैम्यह' मिति लिखिते पाठ· । ४ 'हालहलं हि तद्विप'मिति पाठा० ।

—एवं विचिन्त्य काकोऽपि प्रयातः। तदा प्रभृत्यस्माभिः सह कौशिकानामन्वयगतं वैरमस्ति।' मेघवर्ण आह—'तात! एवं गतेऽस्माभिः किं कृत्यमस्ति?'। स आह—'वत्स? एवं गतेऽपि षाड्गुण्यादपरश्छलोऽप्युपायोऽस्ति, तमङ्गीकृत्य स्वयमेवाहं तद्विजयाय यास्यामि। रिपून्वञ्चयित्वा वधिष्यामि। उक्तञ्च यतः—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटाः।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मणं छगलादिव[1] ॥११४॥

मेघवर्ण आह—कथमेतत्?। सोऽब्रवीत्—

३. धूर्त्तत्रयब्राह्मणच्छागकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मणः कृताग्निहोत्रपरिग्रहः प्रतिवसति स्म। तेन कदाचिन्माघमासे सौम्यानिले प्रवाति मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनाय कश्चिद्ग्रामान्तरङ्गत्वा कश्चिद्यजमानो याचितः—'भो यजमान! आगामिन्याममावस्यायामहं यक्ष्यामि यज्ञं, तद्देहि मे पशुमेकम्।

अथ तेन तस्य शास्त्रोक्तः पीवरतनुः पशुः प्रदत्तः। सोऽपि तं समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय स्कन्धे कृत्वा सत्वरं स्वपुराभिमुखः प्रतस्थे। अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामकण्ठा संमुखा बभूवुः

तैश्च तादृशं पीवरं पशुं स्कन्धे आरूढमवलोक्य मिथोऽभिहितम्—'अहो! अस्य पशोर्भक्षणादद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थतां

कौशिकानाम्=उलूकानाम्। अन्वयगतं=कुलपरम्परागतम्। षाड्गुण्यात्=सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्यात्। 'स्थूलोऽभिप्राय' इति पाठे—स्थूलः=महान्। अभिप्रायः=छलाख्य उपायः। तद्विजयाय=उलूकराजविजयाय। छगल=अजः। ('छाग' 'बकरा') ॥ ११४ ॥ कृतोऽग्निहोत्रस्य परिग्रहः=स्वीकारो येनासौ तथाभूतः। सौम्यानिले=अतिशीतले—ईशानकोणपवने। पर्जन्ये=मेघे। पशुप्रार्थनाय=यागीयपशुप्रार्थनाय। पीवरतनुः=पुष्टः। समर्थं=चञ्चलम्।

१ 'छागला' दिति पा०।

नीयते, तदेनं वञ्चयित्वा पशुमादाय शीतत्राणं कुर्मः।

अथ तेषामेकतमो वेषपरिवर्तनं विधाय संमुखो भूत्वाऽपमार्गेण तमाहिताऽग्निमूचे—'भो ! भो बालाग्निहोत्रिन् ! किमेवं जनविरुद्धं हास्यकार्यमनुष्ठीयते ?—यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धाधिरूढो नीयते ! । उक्तञ्च यतः—

'श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शाः प्रकीर्तिताः ।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान्नैव संस्पृशेत्' ॥११५॥

ततश्च तेन कोपाभिभूतेनाभिहितम्—अहो ! किमन्धो भवान् ? यत्पशुं सारमेयं प्रतिपादयसि ! ।' सोऽब्रवीत्—'ब्रह्मन् ! कोपस्त्वया न कार्यः, यथेच्छं गम्यताम्'—इति । अथ यावत्किञ्चिद्वनोऽन्तरं गच्छति, तावद् द्वितीयो धूर्तः सम्मुखे समुपेत्य तमुवाच—'भो ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टम् ! यद्यपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सः, तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम् । उक्तञ्च यतः—

तिर्यञ्चं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः ।
पञ्चगव्येन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा' ॥११६॥

अथासौ सकोपमिदमाह—'भोः किमन्धो भवान् ? यत्पशुं मृतवत्सं वदसि' । सोऽब्रवीत्—'भगवन् ! मा कोपं कुरु, अज्ञानान्मयाऽभिहितं, तत्त्वमात्मरुचिं समाचर'—इति ।

अथ यावत्स्तोकं वनान्तरं गच्छति तावत्तृतीयोऽन्यवेषधारी धूर्तः सम्मुखः समुपेत्य तमुवाच—'भो अयुक्तमेतत्, यत्त्वं रासभं स्कन्धाधिरूढं नयसि, तत्त्यज्यतामेष' । उक्तञ्च—

यः स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।
सचैलं स्नानमुद्दिष्टं तस्य पापप्रशान्तये ॥११७॥

हिमपात =तुषारवर्ष. । व्यर्थतां नीयते=सोढुं शक्यते । शीतत्राणं=शीतादात्मरक्षणम् । अपमार्गेण=मार्गान्तरेण । आगत्य सम्मुखो भूत्वेति सम्बन्ध' । बालाग्निहोत्रिन् !=मूर्खश्रोत्रिय ! । हास्यकार्यम्=उपहासयोग्यं कर्म । सारमेय = कुकुर । पशुं=छागम् । कष्टं कष्टं=धिक् धिक् । ('दुःख है कि') । मृतवत्स = मृतो गोवत्स । चान्द्रायणं=व्रतविशेष । आत्मरुचि=स्वाभिलषितम् ।

तत्यजैनं यावदन्यः कश्चिन्न पश्यति'। अथाऽसौ तं पशुं रासभं मन्यमानो भयाद्भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य प्रपलायितः।

ततस्ते त्रयो मिलित्वा तं पशुमादाय यथेच्छया भक्षितुमारब्धाः। अतोऽहं ब्रवीमि–'बहुबुद्धिसमायुक्ताः–'इति। ❀।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति ॥११८॥

किञ्च दुर्बलैरपि बहुभिः सह विरोधो न युक्तः। उक्तञ्च—

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जयो हि महाजनः।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥११९॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?'। स्थिरजीवी कथयति—

४. पिपीलिकाभुजङ्गमकथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम। स कदाचिद्बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्याऽन्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्धः। निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वाद्दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रणः समुत्पन्नः। अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभिः पिपीलिकाभिः सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च। कति व्यापादयति ? कति वा ताडयति ?।

अथ प्रभूतत्वाद्विस्तारितबहुव्रणाभिः क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः।

अतोऽहं ब्रवीमि–'बहवो न विरोद्धव्याः'–इति। ❀।

सचैलं=परिहितवस्त्रसहितम् ॥ ११७ ॥

अभिनवस्य=नवीनस्य–सेवकस्य–विनयैः=विनम्राचरणैः। प्राघुणिकोक्तैः=देशदेशान्तरकथापरैरतिथिवचनैः। विलासिनी=स्त्री ॥ ११८ ॥ महाजनः=जनसमूहः। स्फुरन्तं=फटाटोपभीषणमपि। नागेन्द्रं=सर्पम्। वल्मीके=बिले। लघुद्वारेण=सङ्कुचितेन मार्गेण। व्रणस्य यच्छोणितं=रुधिरं, तस्य यो गन्ध, तेनानुसरन्ति तच्छीलाभिः। कति=कियतीः, (कितनी ?)। प्रभूतत्वात्=

तदत्रास्ति किञ्चिन्मे वक्तव्यमेव, तदवधार्य यथोक्तमनुष्ठीयताम्।' मेघवर्ण आह—'तत्समादेशय, तवादेशो नान्यथा कर्तव्यः'। स्थिरजीवी प्राह—'वत्स! समाकर्णय तर्हि सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपितः। तन्मां-विपक्षभूतं कृत्वाऽतिनिष्ठुरवचनैर्निर्भर्त्स्य-यथा विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति तथा-समाहतरुधिरैरालिप्याऽस्यैव न्यग्रोधस्याधस्तात्प्रक्षिप्य [मां] गम्यतां पर्वतमृष्यमूकं प्रति। तत्र सपरिवारस्तिष्ठ, यावदहं समस्तान्सपत्नान्सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्याऽभिमुखान्कृत्वा कृतार्थो ज्ञातदुर्गमध्यो दिवसे तानन्धतां प्राप्तान् ज्ञात्वा व्यापादयामि। ज्ञातं मया सम्यक्-नान्यथास्माकं सिद्धिरिति। यतो दुर्गमेतदपसाररहितं केवलं वधाय भविष्यति'। उक्तञ्च यतः—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते।
अपसारपरित्यक्तं दुर्गव्याजेन बन्धनम्॥१२०॥

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या। उक्तञ्च—

अपि प्राणसमानिष्टान्पालिताँल्लालितानपि।
भृत्यान्युद्धे समुत्पन्ने पश्येच्छुष्कमिवेन्धनम्॥ १२१॥

पिपीलिकाना बहुत्वात्। क्षतसर्वाङ्ग'=विक्षतसर्वशरीर। पञ्चत्वं=मृत्युम्। अत्र=कर्त्तव्ये कर्मणि। समादेशय=कथय। अन्यथा कर्त्तव्य =उल्लङ्घनीय। सामादीन्=साम-दान दण्ड-भेदाख्यांश्चतुर उपायान्। निरूपित =स्थिरीकृत। विपक्षभूतं=शत्रुभूतं, विपक्षप्रणिधीना–शत्रुगुप्तचराणाम्, प्रत्यय.=विश्वास। समाहतरुधिरै=प्रहारनिष्काशितैः शोणितैः। 'आहतरुधिरै'रिति युक्तः पाठ.। कुतश्चिदानीतै रुधिरैरिति तदर्थ। सपत्नान्=रिपून्। सुप्रणीतेन=सुविचारितेन। अपसाररहित=पलायनमार्गशून्यम्। नयज्ञै.=नीतिविद्भि। दुर्गव्याजेन = दुर्गनाम्ना। दुर्गनामधारकम्। बन्धनं = कारागृहम्॥

कृपा=कथमेनं स्वमन्त्रिमुख्यं प्राणसंशये योजयामीति दया। इष्टान्=प्रियान्। लालितान्=सन्तोषितान् (लडाए हुए)। निर्मम सन् शुष्कमिन्धनमिव–

---

१ 'अनुमितं मया यत्तदीयदुर्गमपसाररहित भविष्यति' इति पाठो लिखिते।

तथा च—

प्राणवद्रक्षयेद्भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत् ।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गमः ॥ १२२ ॥

तत्त्वयाऽहं नात्रविषये प्रतिषेधनीयः ।'—इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलहं कर्तुमारब्धः । अथाऽन्ये अस्य भृत्याः स्थिरजीविनमुच्छृङ्खलवचनैर्जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधायोद्यता मेघवर्णेनाभिहिताः-'अहो ! निवर्तध्वं यूयम्, अहमेवास्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मनः स्वयं निग्रहं करिष्यामि' । इत्यभिधाय तस्योपरि समारुह्य, लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्तं प्रहृत्य, आहतरुधिरेण प्लावयित्वा, तदुपदिष्टमृष्यमूकपर्वतं सपरिवारो गतः ।

एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषत्प्रणिधीभूतया तत्सर्वं मेघवर्णस्याऽमात्यव्यसनमुलूकराजस्य निवेदितं, यत्,-तवारिः सम्प्रति भीतः क्वचित्प्रचलितः सपरिवार'-इति ।

अथोलूकाधिपस्तदाकर्ण्याऽस्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः । प्राह च-'त्वर्यतां ! त्वर्यतां ! भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यैर्लभ्यते ।

उक्तञ्च—

'शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च संश्रयम् ।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम्' ॥ १२३ ॥

एवं ब्रुवाणः समन्तान्न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्ट्य व्यवस्थितः ।

पश्येत् ॥१२१॥ सदा=सर्वदा, रक्षयेत् पोषयेच्च, एकदिवसस्य=युद्धदिनोपयोगार्थम् । रिपुसङ्गमः=शत्रुसमागम. ॥ १२२ ॥

तेन=मेघवर्णेन । शुष्ककलहं=मिथ्याविवादम् । उच्छृङ्खलवचनैः=उद्दण्डवाक्यैः । निग्रहं=दण्डम् । लघुभि.=अक्रूरैः । प्लावयित्वा=समन्ताद्व्याप्तं कृत्वा । द्विषत्प्रणिधीभूतया=शत्रुगुप्तचरीभूतया । अमात्यव्यसन=मन्त्रिणा कलहरूपममात्यव्यसनम् । प्रचलित =पलायित । शत्रोरिति । स्थानत्याग एकं छिद्रम्, द्वितीयश्च नवीनस्थानसंश्रयरूपं छिद्रम् । तदेवं छिद्रद्वयाच्छत्रु पलायनपरो वश्यो भवति । राजसेविनाम्=राजपुरुषाणाम् । व्यग्रत्वात्=पूर्वस्थानत्यागनवीनस्थानसमाश्रय-

यावन्न कश्चिद्वायसो दृश्यते, तावच्छाखाग्रमधिरूढो हृष्टमना वन्दिभिरभिष्टूयमानोऽरिमर्दनस्तान्परिजनान्प्रोवाच—'अहो ! ज्ञायतां तेषां मार्गः, कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः ?, तद्यावन्न दुर्गं समाश्रयन्ति, तावदेव पृष्ठतो गत्वा व्यापादयामि । उक्तञ्च—

'वृतिमप्याश्रित शत्रुरवध्यः स्याज्जिगीषुणा ।
किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्र्या परया युतम्' ॥ १२४ ॥

अथैतस्मिन्प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास-'यदेतेऽस्मच्छत्रवोऽनुपलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति, ततो मया न किञ्चित्कृतं भवति । उक्तञ्च--

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् ।
आरब्धस्याऽन्तगमनं द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥ १२५ ॥

तद्वरमनारम्भो, न चारम्भविघातः ।-तदहमेताञ्छब्दं संश्राव्यात्मानं दर्शयामि । इति विचार्य मन्दं मन्दं शब्दमकरोत् । तच्छ्रुत्वा ते सकला अप्युलूकास्तद्वधाय जग्मुः । अथ तेनोक्तम्-'अहो ! अहं स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री मेघवर्णेनैवेदृशीमवस्थां नीतः । तन्निवेदयतात्मस्वाम्यग्रे । तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति ।' अथ तैर्निवेदितः स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात्तस्य [बहुव्रणकिणाङ्कितस्य] सकाशं गत्वा प्रोवाच-'भो भो ! किमेतां दशां गतस्त्वं ? तत्कथ्यताम् ।' स्थिरजीवी प्राह-देव ! श्रूयतां मे एतदवस्थाकारणम्-अतीतदिने, स दुरात्मा मेघवर्णो

व्यग्रत्वात् ॥ १२३ ॥ प्रनष्टाः=पलायिताः । वृति=कण्टकवृतिम् । (बाड) । जिगीषुणा=विजयार्थिना । परया=उत्कृष्टया ॥ १२४ ॥ प्रस्तावे=प्रसङ्गे । अनुपलब्धो-न ज्ञातोऽस्मद्वृत्तान्तो यैस्ते तथाभूता । यथागतं=यथैवायातास्तथैव । (ततो न किञ्चित्=तो मैंने फिर क्या किया) । प्रथमं=श्रेष्ठम् , आद्यञ्च । (सबसे पहिले तो) । अन्तगमनं=समाप्तिः । द्वितीयम्=अपरम् ॥ १२५ ॥ वर=किञ्चिच्छ्रेष्ठम् । एतान्=उलूकान् । आत्मस्वामिन =उलूकराजस्याग्रे ।

१ 'चिरजीवी' पाठः ।

युष्मद्व्यापादितान् प्रभूतवायसान् दृष्ट्वा युष्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मयाऽभिहितम्- 'स्वामिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं, बलवन्त एते, बलहीनाश्च वयम् । उक्तञ्च—

बलीयसा हीनबलो विरोधं न भूतिकामो मनसापि वाञ्छेत्[1] ।
न[2] बध्यतेऽत्यन्तबलो हि यस्माद्व्यक्तं प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ॥१२६॥

तत्तस्योपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तञ्च—

'बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान् ।
दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान्रक्षितैस्तैर्धनं पुनः' ॥ १२७ ॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनप्रकोपितेन त्वत्पक्षपातिनं मामाशङ्कमानेनेमां दशां नीतः । तत्तव पादौ साम्प्रतं शरणम् । किं बहुना विज्ञप्तेन,-यावदहं प्रचलितुं शक्नोमि, तावत्त्वां तस्याऽऽवासे नीत्वा सर्ववायसक्षयं विधास्यामि'-इति ।

अथाऽरिमर्दनस्तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्धं मन्त्रयाञ्चक्रे । तस्य च पञ्चमन्त्रिणः तद्यथा-रक्ताक्षः, क्रूराक्षः, दीप्ताक्षः, वक्रनासः, प्राकारकर्णश्चेति[3] । तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्- 'भद्र ! एष तावत्तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः, तत्किं क्रिय-

तेन= भवत्स्वामिना सह । 'युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसाना पीडये'ति पाठान्तरे- युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां=भवद्भिर्हतानां बहूनां काकानां, पीडया=शोकेनेत्यर्थः । एते=उलूकाः ।

बलीयसेति । अतिबलस्तु बलवत्त्वादेव न बध्यते=पीडयितुं न शक्यते । परं=किन्तु हीनबलस्तु, व्यक्तं=ध्रुवं-वह्नौ पतङ्गवत्प्रणश्यत्येवेत्यर्थ ॥ १२६ ॥ उपायनस्य=उपहारस्य । प्रदानेन=समर्पणेन । (भेंट देकर)। उपप्रदानेनेत्यपि पाठः । तैः=प्राणैः ॥ १२७ ॥

तेन=मेघवर्णेन, (यावत्='जिस समय' । तावत्=उसी समय) । तस्य= मेघवर्णस्य । आवासे=निवासदुर्गे । पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभि सार्धं=पर-

१ 'कुर्यात्'। २ 'न वध्यते वेतसवृत्तिरर्थे'रिति लिखितपुस्तकपाठस्तु शोभनः। ३ 'प्रावार'।

ताम् ?–इति । रक्ताक्ष आह–'देव ! किमत्र चिन्त्यते, अविचार-मयं हन्तव्यः । यतः–

'हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान्भवेत् ।
प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्भवति दुर्जयः' ॥ १२८ ॥

किञ्च–'स्वयमुपागताः श्रीस्त्यज्यमाना शपती'ति लोके प्रवादः । उक्तञ्च–

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकाङ्क्षिणम् ।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्माऽचिकीर्षता ॥ १२९ ॥

श्रूयते च यथा–

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
भिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ॥ १३० ॥

अरिमर्दनः प्राह–कथमेतत् ? । रक्ताक्षः कथयति–

५. ब्राह्मणसर्पकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः । तस्य च कृषिं कुर्वतः सदैव निष्फलः कालोऽतिवर्तते । अथैकस्मिन्दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्तः स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसुप्तोऽनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारितबृहत्फटाटोप-भीषणं भुजङ्गमं दृष्ट्वा चिन्तयामास–'नूनमेषा क्षेत्रदेवता

म्पराप्राप्तैरमात्यैः सह । अविचारं=चिन्ता, सङ्कोचं च विनैव । 'अविचारित'-मिति मुद्रितपाठः । हीनः=निर्बल । प्राप्तं स्वं पौरुषं पराक्रमं बलञ्च=वीर्यञ्च येनासौ तथाभूतः ॥१२८॥

श्रीः=शत्रुवधोत्था कीर्त्तिर्विजयलक्ष्मीः । प्रवादः=प्रसिद्धि । कालः=उन्नति-समयः । अनुकूलः समयः। सकृत्=एकवारम् । कालकाङ्क्षिणम्=अनुकूलसमया-भिलाषिणम् । कर्म=कार्यम् । अचिकीर्षता=कर्त्तुमनिच्छता–आलस्याभिभूतेन । कालः=उन्नति कारक काल । 'कर्म चिकीर्षते'त्यपि लिखिते पाठः ॥१२९॥

चितिकां=चिता । फटा=फणा । भग्नाम्=आहताम् । भिन्नाम् । भिन्नश्लिष्टा= पूर्वं भिन्ना=नष्टा, पश्चात्–श्लिष्टा=संश्लेषिता ॥ १३० ॥

निष्फलः=अन्नादिफलशून्य । उष्णकालावसाने=ग्रीष्मर्त्तुसमाप्तौ वर्षाप्रारम्भे ।

मया कदाचिदपि न पूजिता, तेनेदं मे कृषिकर्म विफलीभवति, तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि।' इत्यवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपागत्योवाच-'भोः क्षेत्रपाल! मयैतावन्तं कालं न ज्ञात यत्त्वमत्र वससि-तेन पूजा न कृता, तत्साम्प्रतं क्षमस्व'। इत्येवमुक्त्वा दुग्धञ्च निवेद्य गृहाभिमुखं प्रायात्। अथ प्रातर्यावदागत्य पश्यति, तावद्दीनारमेकं शरावे दृष्टवान्। एवञ्च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीरं ददाति-एकैकञ्च दीनारं गृह्णाति।

अथैकस्मिन्दिवसे वल्मीके क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तरं जगाम। पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं समायातः। दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकं च दृष्ट्वा गृहीत्वा च चिन्तितवान्-'नूनं सौवर्णदीनारपूर्णो वल्मीकः, तदेनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि।' इत्येवं सम्प्रधार्याऽन्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लगुडेन शिरसि ताडितः।

ततः कथमपि दैववशादमुक्तजीवित एव रोषात्तमेव तीव्रविषदशनैस्तथाऽदशत्—यथा स सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसञ्चयैः संस्कृतः।

अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्। अब्रवीच्च-

भूतान् यो नाऽनुगृह्णाति, गृह्णाति शरणागतान्।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥१३१॥

घर्मार्त्तः=आतपार्दितः। प्रसारिता=विस्तारिता या बृहती फटा, तस्या य आटोपः=आडम्बरः, तेन भीषणं=भयानकम्। भुजङ्गमं=सर्पम्। क्षेत्रदेवता-क्षेत्राधिष्ठातृभूतो देवः। क्षीरं=दुग्धं। याचित्वा=भिक्षित्वा। शरावे=मृत्पात्रे। ('परई' 'सराई' में)। वल्मीकान्तं=विलसमीपे। साम्प्रतम्=इदानीम्। प्रायात्=आजगाम। दीनारं=स्वर्णनिष्कम् (मोहर)। निरूप्य=नियुज्य। सौवर्णदीनारपूर्णः=स्वर्णमुद्रापूरितः। एनं=सर्पम्। सम्प्रधार्य=निश्चित्य। अमुक्तजीवितः=न मृत। तमेव =ब्राह्मणपुत्रमेव। तथैव समर्थितवान्=‘दुष्टेन स्वकर्मणः फलमासादित’मित्येवं

पुरुषैरुक्तम्-'कथमेतत् ?' । ब्राह्मणः कथयति—

६ स्वर्णहंस-स्वर्णपक्षि-राजकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा । तस्य योधैः सुरक्ष्यमाणं पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति । तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हंसास्तिष्ठन्ति । षण्मासे पिच्छमेकैकं परित्यजन्ति । अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत्पक्षी समायातः । तैश्चोक्तः-'अस्माकं मध्ये त्वया न वस्तव्यं । येन कारणेनास्माभिः षण्मासान्ते पिच्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमेतत्सरः ।' एवञ्च किं बहुना-परस्परं द्वैधमुत्पन्नम् । स च राज्ञः शरणं गतोऽब्रवीत्-'देव ! एते पक्षिण एवं वदन्ति,-'यदस्माकं राजा किं करिष्यति ?-'न कस्याप्यावासं दद्मः' । मया चोक्तम्-'न शोभनं युष्माभिरभिहितम्, अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि-' इति । एवं स्थिते देवः प्रमाणम् ।

ततो राजा भृत्यानब्रवीत्-'भो भोः ! गच्छत ! सर्वान्पक्षिणो गताऽसून्कृत्वा शीघ्रमानयत ।' राजादेशान्तरमेव प्रचेलुस्ते ।

अथ लगुडहस्तान्राजपुरुषान्दृष्ट्वा तत्रैकेन पक्षिणा वृद्धेनोक्तम्-'भोः स्वजनाः ! न शोभनमापतितम् । ततः सर्वैरेकमतीभूय शीघ्रमुत्पतितव्यम् । तैश्च तथानुष्ठितम् । अतोऽहं ब्रवीमि-'भूतान्यो नानुगृह्णाति-'इति ! ॥*॥

—इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूषे क्षीरं गृहीत्वा तत्र गत्वा

समर्थितवान् । भूतान्=जीवान् । आत्मीयानिति तु प्रकृतानुगुणोऽर्थः । न अनुगृह्णाति= तेषु दया न कुरुते । तानुपेक्षते ।

भूतार्था =सिद्धान्यपि कार्याणि । योधैः =भटैः (सिपाही) । जाम्बूनदमया.= स्वर्णमया । पिच्छं=पक्षम् । गृहीतं=शुल्केन गृहीतम् । (भाडे पर या मोल ले रखा है) । द्वैधं=विवाद । (झगडा) । स च=बृहत्पक्षी च । देव =भवान् । प्रमाणं=निर्णेता । गतासून्=मृतान् । ते=भृत्या । एकमतीभूय=एकं मतं कृत्वा । तथानुष्ठितम्=उत्पतिता । ('उड़ गए') । प्रत्यूषे=प्रभाते । तत्र=सर्पबिल-

---

१ 'ह्यात्मन. शरणागतान्' इति मुद्रितः पाठः ।

तारस्वरेण सर्पमस्तौत्। तदा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच–'त्वं लोभादत्रागतः पुत्रशोकमपि विहाय, अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता, तव पुत्रेण यौवनोन्मदेनाहं ताडितः, मया स दष्टः। कथं मया लगुडप्रहारो विस्मर्तव्यः, त्वया च पुत्रशोकदुःखं कथं विस्मर्तव्यम् ?। इत्युक्त्वा बहुमूल्यं हीरकमणिं तस्मै दत्त्वा–'अतः परं पुनस्त्वया नागन्तव्यम्'–इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गतः। ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन्स्वगृहमागतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'चितिकां दीपितां पश्य'–इति। ❀

तदस्मिन्हतेऽयत्नादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति।' तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा क्रूराक्षं पप्रच्छ–'भद्र! त्वं तु किं मन्यसे ?'। सोऽब्रवीत्–'देव! निर्दयमेतद्यदनेनाभिहितम्। यत्कारणं–'शरणागतो न वध्यते।' सुष्ठु खल्विदमाख्यानम्–

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥ १३२॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्–'कथमेतत् ?'। क्रूराक्षः कथयति—

७. कपोतलुब्धककथा

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसन्निभः।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः॥ १३३॥
नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः।
स तैः सर्वैः परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा॥ १३४॥

समीपे। तारस्वरेण=उच्चैःशब्देन। वल्मीकद्वारान्तर्लीन=विलद्वारमध्यस्थो निगूढ एव। यौवनोन्मदेन=यौवनबलदर्पितेन।

अस्मिन्=स्थिरजीविनि शत्रुमन्त्रिणि। अयत्नात्=अप्रयासात्। अकण्टकं=कण्टकशून्यम्, शत्रुरहितम्। तस्य=रक्ताक्षस्य। यत्कारणम्=अनौचित्ये हेतुः। (क्यों कि)। आख्यानं=कथा। निमन्त्रित=भोजित। क्षुद्रसमाचारः=नीचवृत्तिः।

अथवा-ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १३५ ॥
स पञ्जरकमादाय पाशञ्च लगुडं तथा ।
नित्यमेव वनं याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १३६ ॥
अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका ।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १३७ ॥
अथ कृष्णा दिशः सर्वा वनस्थस्याऽभवन्घनैः ।
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाऽभवत् ॥ १३८ ॥
ततः स त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहुः ।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १३९ ॥
मुहूर्तं पश्यते यावद्वियद्विमलतारकम् ।
प्राप्य वृक्षं वदत्येवं 'योऽत्र तिष्ठति कश्चन-॥ १४० ॥
तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।
शीतेन भिद्यमानं च क्षुधया गतचेतसम्' ॥ १४१ ॥
अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सुचिरोषितः ।
भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४२ ॥
'वातवर्षो महानासीन्न चाऽऽगच्छति मे प्रिया ।
तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम ॥ १४३ ॥

शकुनिलुब्धकः=पक्षिबन्धकः । (बहेलिया) । रौद्रेण=क्रूरेण । उद्वेजनीयाः=उद्वेगजनकाः । व्यालाः=हिंस्रजन्तवः । पञ्जरकं=पञ्जरं (पिंजरा) । घनैः=मेघैः । वातवृष्टिः=सवाता वृष्टिः । क्षयकालः=प्रलयः ॥१३८॥ परित्राणं=रक्षास्थानम् । वनस्पतिं=वृक्षम् । विमलतारकं=स्पष्टनक्षत्रम् । वियत्=गगनम् । मुहूर्तं=क्षणं यावत् । पश्यते=पश्यति । छान्दसः प्रयोगः । अत्र=वृक्षे । गतचेतसं=भ्रान्तचित्तम् । इति शब्दोऽत्रैव योज्यः ॥ १४१ ॥

सुचिरोषितः=चिरकालान्निवसन् । विलापमेवाह—वातेति । आसीत्=

---

१ 'यावदास्ते मुहूर्तैकं वियद्विमलतारकम् ।
स तु प्राप्याऽवदद्बुद्ध्या देवता शरणं मम' । इति पाठः ।

२ 'सुषिरोषित' इति लिखिते पाठः स च सुन्दरः । सुषिरं=कोटरम् ।

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १४४ ॥
न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्' ॥ १४५ ॥
पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यञ्चेदमथाऽऽह सा ॥ १४६ ॥
'न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १४७ ॥
दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तबका लता ।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति ॥ १४८ ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत्' ॥ १४९ ॥

पुनश्चाब्रवीत्—

'श्रृणुष्वाऽवहितः कान्त ! यत्ते वक्ष्याम्यहं हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १५० ॥
एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥ १५१ ॥

श्रूयते च—

यः सायमतिथिं प्राप्तं यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५२ ॥

अभवत् । गृहिणी एव—गृहम्, नेष्टकादिरचितं वस्तुतो गृहमिति भावः । तदेव स्पष्टयति—गृहमिति ॥ १४५ ॥ दावाग्निदग्धेव=अरण्यानलदग्धेव । यथा-पुष्पादियुतापि वल्ली दावदग्धा न शोभते, एवं भर्तुरप्रियाऽपि नारीत्यर्थः । स्तवक =गुच्छक ॥ १४८ ॥

मितं=परिमितम् । अवहित =सावधान । संरक्ष्य=संरक्षणीय । आवासं=गृहं, वृक्षञ्च । असौ=अतिथि । दुष्कृतं=पापम् । सुकृतं=पुण्यम् ॥ १५२ ॥

---

१ 'यस्या.' इति पा० ।

मा चाऽस्मै त्वं कृथा द्वेषं बद्धाऽनेनेति मत्प्रिया।
स्वकृतैरेव बद्धाऽहं प्राक्तनैः कर्मबन्धनैः ॥ १५३ ॥
यत.-दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १५४ ॥
तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम्।
धर्मे मनः समाधाय पूजयैनं यथाविधि' ॥ १५५ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम्।
उपगम्य ततोऽधृष्टः[1] कपोतः प्राह लुब्धकम् ॥ १५६ ॥
'भद्र ! सुस्वागतं तेऽस्तु ब्रूहि किङ्करवाणि ते ?
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान्' ॥ १५७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गहा।
'कपोत ! खलु शीतं मे हिमत्राणं विधीयताम्' ॥ १५८ ॥
स गत्वाऽङ्गारकं[2] नीत्वा पातयामास पावकम्।
ततः शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १५९ ॥
सुसन्दीप्तं तत. कृत्वा तमाह शरणागतम्।
'सन्तापयस्व विश्रब्धं स्वगात्राण्यत्र निर्भयः ॥
न चास्ति विभव कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६० ॥
सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्मापि दुर्भरः ॥ १६१ ॥

प्राक्तनैः=पूर्वोपार्जितैः। बन्धनं=कारागारादिबन्धनम्। व्यसनं=विपत्तिम्। आत्मन·—अपराध एव वृक्षस्तस्य एतानि फलानि ॥ १५४॥ एनं=शाकुनिकम्। अधृष्ट =विनीत। 'धृष्ट' इति पाठे निर्भय इत्यर्थः। स्वगृहे=आत्मन एव गृहे। हिमत्राणं=शीतरक्षा। स·=कपोत। शुष्केषु पर्णेषु पावकं=वह्निम्। पातयामास=निचिक्षेप। तं=वह्निम् ॥ १५९ ॥

सन्तापयस्व=वह्निना तापय ('तप लीजिए')। विश्रब्धं=सविश्वासम्। विभव =धनम्, अन्नादि च। क्षुधं=बुभुक्षाम् ॥ १६० ॥ भरते=पालयति।

---

1 'धृष्ट' पा०। २ 'स गत्वाऽङ्गारकर्मान्तमानयामास पावक'मिति लिखितः पाठः सुन्दरः। अङ्गारकर्मान्त=महानसम्।

एकस्याप्यतिथेरन्नं यः प्रदातुं न शक्तिमान् ।
तस्याऽनेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ? ॥ १६२ ॥
तत्तथा साधयाम्येतच्छरीरं दुःखजीवितम् ।
यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे' ॥ १६३ ॥
स निनिन्द किलात्मानं न तु तं लुब्धकं पुनः ।
उवाच-'तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय' ॥ १६४ ॥
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १६५ ॥
ततस्तं लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतितं वाक्यमेतदभाषत ॥ १६६ ॥
'यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।
आत्मना हि कृतं पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥ १६७ ॥
सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरतः सदा ।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नाऽत्र संशयः ॥ १६८ ॥
नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः प्रदर्शितः ।
प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १६९ ॥
अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम् ।
तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं पुनः ॥ १७० ॥
शीतवातातपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ १७१ ॥
ततो यष्टिं शलाकां च जालकं पञ्जरं तथा ।

क्षुद्रस्य-निष्किञ्चनस्य । आत्माऽपि=स्वशरीरमपि । अनेकपरिक्लेशे=नानाक्लेशसंयुते । कि फलं=न किमपि फलमित्यर्थ. ॥ १६२ ॥

तत्=तस्मात् । तथा साधयामि=तथा करोमि । मरिष्यामीति यावत् । दुःखं जीवितं=जीवनं यस्य तत्तथाभूतम् । वक्ष्यामि=कथयिष्यामि । अर्थिसमागमे=याचकसङ्गमे, तत्सन्निधौ ॥ १६३ ॥

अग्नि प्रविवेश=तत्रात्मानं जुहाव । ध्रुवम्=अवश्यमेव । प्रत्यादर्श.=निदर्शनम् । (नमूना) ॥१६९॥ चरिष्ये=आचरिष्यामि ॥ १७१ ॥ आर्त्ता=पीडिता ।

वभञ्ज लुब्धको दीनां कपोतीञ्च मुमोच ताम् ॥१७२॥
लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाऽग्नौ पतितं पतिम् ।
कपोती विललापाऽऽर्ता शोकसन्तप्तमानसा ॥१७३॥
'न कार्य्यमद्य मे नाथ! जीवितेन त्वया विना ।
दीनायाः पतिहीनाया किं नार्या जीविते फलम्?॥१७४॥
मानो दर्पस्त्वहङ्कारः कुलपूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति' ॥१७५॥
एवं विलप्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।
पतिव्रता सुसन्दीप्तं तमेवाऽग्निं विवेश सा ॥१७६॥
ततो दिव्याऽम्बरधरा दिव्याभरणभूपिता ।
भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥१७७॥
सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
'अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे! त्वया ॥१७८॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति' ॥१७९॥
कपोतदेह सूर्याऽस्ते[1] प्रत्यहं सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेहवत्साऽऽसीत्प्राक्पुण्यप्रभवं हि तत् ॥१८०॥
शोकाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वनं घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान्भृशम् ॥१८१॥
तत्र दावानलं दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥१८२॥

मानः=दर्पः । अहङ्कारः=अभिमान । कुलपूजा=माङ्गलिकाग्रपूजा, स्वजनेषु सत्कारश्च ॥ १७५ ॥ कृपणं=दीनं-यथास्यात्तथेतिक्रियाविशेषणम् । सः=कपोतः । दिव्यतनुः=दिव्यवपुः । शुभे=शोभने । मानुषे=मनुष्यशरीरे । अनुगच्छति=सह याति । (सती होती है) ॥१७९॥ सा=कपोती । प्राक्पुण्यप्रभवम्=अतिथिसत्कारपुण्यजम् । तत्=सुखम् ॥ १८० ॥ निर्वेदः=पश्चात्ताप. । तत्र=वने । दावानलं=वनानलम् । विरताशयः=विरक्तमानसः । निर्दग्धकल्मषः=विधूतपापः ॥ १८२ ॥

1 'स्वर्यातः' इति केचित्पठन्ति ।

अतोऽहं ब्रवीमि-'श्रूयते हि कपोतेन'-इति । ॐ

तच्छ्रुत्वाऽरिमर्दनो दीप्ताक्षं पृष्टवान्-'एवमवस्थिते किं भवान्मन्यते ?।' सोऽब्रवीत्-'देव ! न हन्तव्य एवायम् । यतः—

या ममोद्विजते नित्यं सा मामद्याऽवगूहते ।
प्रियकारक ! भद्रन्ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ।। १८३ ।।

चौरेण चाप्युक्तम्—

'हर्तव्यं ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्भविष्यति ।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगूहते' ।। १८४ ।।

अरिमर्दनः पृष्टवान्-'का च नावगूहते ? कश्चायं चौरः ?-इति विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि ।' दीप्ताक्षः कथयति—

८. चौरवृद्धवणिग्वधूकथा[1]

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम वृद्धवणिक् । तेन च कामोपहतचेतसा मृतभार्येण काचिन्निर्धनवणिक्सुता प्रभूतं धनं दत्त्वोद्वाहिता । अथ सा दुःखाभिभूता तं वृद्धवणिजं द्रष्टुमपि न शशाक । युक्तश्चैतत्—

श्वेतं पदं शिरसि यत्तु शिरोरुहाणां
स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम् ।
आरोपिताऽस्थिशकलं परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ।।१८५।।

तथा च—गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशङ्गता
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहतं वक्त्रञ्च लालायते ।

अयम्=शत्रुमन्त्री । उद्विजते=उद्विग्ना भवति, (चिढती है)। अवगूहते=आश्लिष्यति। भद्रं=शुभम् । इयं=तव पत्नी । यदि नावगूहते=यदि त्वां नालिङ्गति ॥ १८४ ॥

कामोपहतचेतसा=कामातुरेण । मृतभार्येण=मृतपत्नीकेन । उद्वाहिता=विवाहिता । दुःखाभिभूता=दुःखिता । श्वेतमिति । शिरसि केशानां श्वेतानां यत्स्थानं तदेव पुंसामपमानस्थानम् । यथा-आरोपितास्थिखण्डं चण्डालकूपं लोका

---

[1] इयं कथाऽश्लीलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठ्यांशवहिर्भूता ।

वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
धिक्कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥१८६॥

अथ कदाचित्सा तेन सहैकशयने पराङ्मुखी यावत्तिष्ठति, तावद्गृहे चौरः प्रविष्टः। साऽपि तं चौरं दृष्ट्वा भयव्याकुलिता वृद्धमपि तं पतिं गाढं समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात्पुलकाञ्चितसर्वगात्रश्चिन्तयामास-'अहो! किमेषा मामद्याऽवगूहते?। यावन्निपुणतया पश्यति, तावद्गृहकोणैकदेशे चौरं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्-'नूनमेषाऽस्य भयान्मामालिङ्गति'। इति ज्ञात्वा तं चौरमाह-

'या ममोद्विजते नित्यं सा ममाद्याऽवगूहते।
प्रियकारक! भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत्' ॥ १८७ ॥

तच्छ्रुत्वा चौरोऽप्याह—

'हर्तव्यन्ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्भविष्यति।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नाऽवगूहते' ॥ १८८ ॥

तस्माच्चौरस्याप्युपकारिणः श्रेयश्चिन्त्यते, किं पुनर्न शरणागतस्य। अपि चाऽयन्तैर्विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्ट्ये भविष्यति, तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेत्यनेककारणेनायमवध्यः'—इति।

एतदाकर्ण्यारिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनासं पप्रच्छ-'भद्र! साम्प्रतमेवं स्थिते किं कर्तव्यम्?। सोऽब्रवीत्-'देव! अवध्योऽयम्'। यतः—

'शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्तः परस्परम्।

दूरतः परिहरन्ति, तथा तरुण्योऽपि पलितकेशं पुरुषं दूरतः परिहरन्ति। अत्र श्वेतकेशास्थिखण्डयोः श्वैत्येन साम्यम्। चाण्डालकूपेषु अस्थिखण्डं परिचयाय बध्यते स्मेति प्रसिद्धिः ॥१८५॥ गात्रं=वपुः। विगलिता=विकलतां गता। दृष्टिः =लोचनम्। उपहतं=नष्टम्। लालायते=लालाविलं भवति। शुश्रूषते=सेवते ॥ १८६ ॥ तेन=वृद्धवणिजा। तिष्ठति=स्वपिति।

पुलकाञ्चितसर्वगात्रः=रोमाञ्चितसकलशरीरः। निपुणतया=सावधानतया (अच्छी तरह से) ॥ १८७ ॥ श्रेयः=कल्याणम्। तैः=वायसैः। विप्रकृतः=प्रकोपितः।

चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम्' ॥ १८९ ॥

अरिमर्दनः प्राह–'कथमेतत् ?' । वक्रनासः कथयति—

९. ब्राह्मणचौरपिशाचकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणः प्रतिग्रहधनः, सततं विशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जितःप्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचितः शीतोष्णवातवर्षादिभिः परिशोषितशरीरः। तस्य च केनापि यजमानेनाऽनुकम्पया शिशुगोयुगं दत्तम् । ब्राह्मणेन च बालभावादारभ्य याचितघृततैलयवसादिभिः संवर्द्ध्य सुपुष्टं कृतम् । तच्च दृष्ट्वा सहसैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्—'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि ।'–इति निश्चित्य निशायां बन्धनपाशं गृहीत्वा यावत्प्रस्थितस्तावदर्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपङ्क्तिरुन्नतनासावंशः, प्रकटरक्तान्तनयनः, उपचितस्नायुसन्ततगात्रः, शुष्ककपोलः, सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीरः कश्चिद् दृष्टः ।

दृष्ट्वा च तं तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्–'को भवान्' ? इति । स आह–'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः । भवानप्यात्मानं निवेदयतु ।' सोऽब्रवीत्—'अहं क्रूरकर्मा चौरो दरिद्रब्राह्मणस्य

पुष्टये=लाभाय, बलाय च । तदीयरन्ध्रदर्शनाय=शत्रुच्छिद्रसूचनाय । गोयुगं=वृषभद्वयम् (बैलकी जोड़ी) ॥ १८९ ॥

प्रतिग्रहधनः=भिक्षाधन । विशिष्टानि=महार्हाणि–वस्त्राणि, अनुलेपनम्=अङ्गरागादि, गन्धः=कुसुमाद्यामोद', (इत्र) । माल्यं=माला, अलङ्कारः=भूषणं, ताम्बूलादिकञ्च, तेषा भोगः=उपभोगः, तेन परिवर्जितः=रहितः । प्ररूढैः=वृद्धैः-केशश्मश्रुनखरोमभिः–उपचितः= व्याप्तः । शीतोष्णवातवर्षादिभिः=शीतोष्णादिद्वन्द्वैः । परिशोषितशरीरः=शुष्कगात्रः । अनुकम्पया=दयया । शिशुगोयुगं=गोवत्सयुगलम् । बालभावात्=बाल्यात् । यवसं=घास' । (भूसा) । बन्धनपाशं=गोबन्धनरज्जुम् ।

अर्धमार्गे=मध्येमार्गम् । प्रविरला=सावकाशा, तीक्ष्णा=निशिता, दन्ताना

गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि ।' अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्- 'भद्र ! षष्ठान्नकालिकोऽहम् । अतस्तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि । । तत्सुन्दरमिदम् एककार्यावेवावाम् ।'

अथ तौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ । प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—'भद्र ! नैष न्यायः, यतो गोयुगे मयापहृते पश्चात्त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय ।'

सोऽब्रवीत्-'कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत, तदानर्थकोऽयं ममारम्भ स्यात् ।' चौरोऽप्यब्रवीत्—'तवापि यदि भक्षणायोपस्थितस्यान्तरे एकोऽप्यन्तरायः स्यात्, तदाहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम् ,—अतः प्रथमं मया हृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः ।' इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद्ब्राह्मणो जजागार । अथ तं चौरोऽब्रवीत्-'ब्राह्मण ! त्वामेवायं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति-' इति । राक्षसोऽप्याह-'ब्राह्मण ! चौरोऽयं गोयुगन्तेऽपहर्तुमिच्छति ।' एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसादुद्गूर्णलगुडेन च चौराद्गोयुगं ररक्ष । अतोऽहं ब्रवीमि-'शत्रवोऽपि हितायैव-'इति । ❀

अथ तस्य वचनमवधार्याऽरिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णम-

पङ्क्तिः=श्रेणिर्यस्यासौ तथाभूतः । उन्नतो नासावंशो यस्यासौ तथाभूतः=प्रोन्नतनासिकादण्डः । प्रकटे=स्फुटे । रक्तान्ते=रक्तप्रान्ते । नयने=लोचने यस्यासौ तथाभूतः । ('उभडी हुई बडी२ लाल २ आखो वाला) । उपचितैः=स्थूलैः । स्नायुभिः=नाडीभिः । सन्ततं गात्रं यस्यासौ तथाभूतः । सुहुतो यो हुतवहः=अग्निः, तद्वत् पिङ्गलं श्मश्रुकेशशरीरं यस्यासौ तथाभूतः । कश्चित्=सत्त्वविशेषः (कोई जीव, भूत) । तीव्रभयत्रस्तः=प्रगाढभयाकुलः । जातप्रत्ययः=जातविश्वासः । षष्ठेऽन्नकाले चरति—षष्ठान्नकालिकः=दिनषट्केन बुभुक्षितः । तत्र=ब्राह्मणगृहे । कालम्=अवसरम् । अन्तरे=मध्ये । अन्तरायः=विघ्नः । अहमहमिकया=अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवम् । द्वैधे=विरोधे । प्रतिरवः=कोलाहलः । जजागार=जागर्ति स्म । राक्षसात्—मन्त्रेणात्मानं रक्षितवान् । लगुडेन चौराद्वृषभयुगं रक्षितमि-

पृच्छत्—'कथय किमत्र मन्यते भवान् ?।' सोऽब्रवीत्-'देव ! अवध्य एवायम्' ।—यतो रक्षितेनानेन कदाचित्परस्परप्रीत्या कालः सुखेन गच्छति । उक्तञ्च—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ १९० ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्-'कथमेतत् ?' । प्राकारकर्णः कथयति—

१० वल्मीकोदरसर्पकथा

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा । तस्य च पुत्रो जठरवल्मीकाश्रयेणोरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते । अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्यापि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमाप्नोति । अथासौ राजपुत्रो निर्वेदाद्देशान्तरं गतः । कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति ।

अथ तत्र नगरे बलिर्नाम राजास्ते, तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः । तत्र चैकाऽब्रवीत्-'विजयस्व महाराज ! यस्य प्रसादात्सर्वं सुखं लभ्यते ।' द्वितीया तु 'विहितं भुङ्क्ष्व महाराज !'-इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजाऽब्रवीत्-'भो मन्त्रिन् ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद्वैदेशिकस्य प्रयच्छ, येन निजविहितमियमेव भुङ्क्ते ।

अथ 'तथा' इति प्रतिपद्य—अल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिस्तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । साऽपि-

---

त्यर्थः । उद्घूर्णलगुडेन=उद्यतेन लगुडेन । मर्माणि=रहस्यानि । निधनं=मरणम् ॥ १९० ॥

जठरवल्मीकाश्रयेण=उदररूपबिलस्थितेन । उरगेण=सर्पेण । प्रत्यङ्गं=सर्वेष्वङ्गेषु । निर्वेदात्=औदासिन्यात्खेदाद्वा । यौवनस्थे=युवती । ते=युवती । पादान्तिकं=चरणसमीपम् । यस्य=भवतः । प्रसादात्=अनुग्रहेण । लभ्यत-इत्यस्य अस्माभिरिति शेष. । विहितं=पूर्वकृतं कर्म । वैदेशिकस्य=परदेशिकस्य । निजविहितं=

प्रहृष्टमानसा तं पतिं देववत्प्रतिपद्याऽऽदाय चान्यविषयं गता। ततः कस्मिंश्चिद्दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षार्थं निरूप्य, स्वयञ्च घृततैलवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता। कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति तावत्स राजपुत्रो वल्मीकोपरि कृतमूर्धा प्रसुप्तः। तस्य च मुखाद्भुजगः फणां निष्क्राम्य वायुमश्नाति। तत्रैव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथैवासीत्।

अथ तयो. परस्परदर्शनेन क्रोधसरक्तलोचनयोर्मध्याद्वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्तम्–'भो भो दुरात्मन्! कथं सुन्दरसर्वाङ्गं राजपुत्रमित्थं कदर्थयसि?'। मुखस्थोऽहिरब्रवीत्–'भो भोः! त्वयापि दुरात्मनाऽस्य वल्मीकस्य मध्ये स्थित–कथमिदं दूषितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम्?'। इत्येवं परस्परस्य मर्माण्युद्घाटितवन्तौ।

पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्–'भो दुरात्मन्! भेषजमिदन्ते किं कोऽपि न जानाति?–यज्जीर्णोत्कालितकाञ्जिकराजिकापानेन भवान्विनाशमुपयति'।

अथोदरस्थोऽहिरब्रवीत्–'तवाप्येतद्भेषजं किं कश्चिदपि न वेत्ति यदुष्णतैलेन वा महोष्णोदकेन तव विनाशः स्यात्–'? इति। एवञ्च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परा-

---

स्वोपार्जितम्। 'इयमेव'।–नाहमित्याशय। तथा=एवम्भविष्यति। प्रतिपद्य=स्वीकृत्य। अल्पपरिवारा=अल्पपरिजनसहिता। सा=कुमारिका। देववत्=देवतावत्। प्रतिपद्य=स्वीकृत्य। राजपुत्रं=स्वपतिम्। आवासरक्षार्थे=स्थानरक्षार्थे। निरूप्य=निर्दिश्य। सपरिवारा=सेवकपरिचारिकायुता। वल्मीकोपरि=सर्पविलोपरि। कृतमूर्धा=निहितमस्तकः। भुजग=सर्प। निष्क्राम्य=उत्थाप्य। निष्क्रम्य=वहिरागत्य (निकलकर)। तथैव=वायुमश्नन्। क्रोधसंरक्तलोचनया=क्रोधरक्तनेत्रयोर्मध्ये। सुन्दरसर्वाङ्गं=सर्वाङ्गसुन्दर। कदर्थयसि=पीडयसि। अहि=सर्प.। दुरात्मना=दुष्टेन। मध्ये इत्यस्य 'स्थित'मिति शेष.। हाटकपूर्णं=स्वर्णपूर्णम्। 'कलशयुगल'-मित्यस्य–'दूषित' मिति शेष। उद्घाटितवन्तौ=प्रकाशितवन्तौ। जीर्णमुत्कालितम्=उष्णीकृतञ्च यत्काञ्जिकं तस्य या राजिका तस्या पानेन। (उकाली हुई

लापान्मर्म मयाऽऽकर्ण्य तथैवानुष्ठितवती। विधायाऽव्यङ्गं नीरोगं भर्तारं निधिश्च परमासाद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात्। पितृमातृ-स्वजनैः प्रतिपूजिता विहितोपभोगं प्राप्य सुखेनावस्थिता। अतोऽहं ब्रवीमि-'परस्परस्य मर्माणि-' इति। ✻

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिमर्दनोऽप्येवं समर्थितवान्। तथा चानुष्ठितं दृष्ट्वाऽन्तर्लीनं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीत्-'कष्टम्! विनाशितोऽयं भवद्भिरन्यायेन स्वामी। उक्तश्च-

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां तु विमानना।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥ १९१॥

तथा च-प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसाऽवहत्'॥ १९२॥

मन्त्रिणः प्राहुः-'कथमेतत्?'। रक्ताक्षः कथयति-

११. रथकारवधूजारकथा[1]

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने वीरवरो नाम रथकारः। तस्य भार्या कामदमनी। सा च पुंश्चली जनापवादसंयुक्ता। सोऽपि तस्याः परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्-'अथ मयाऽस्याः परीक्षणं कर्तव्यम्। उक्तञ्च यतः—

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाञ्छनः।

काँजी की राई पीनेसे)। विटपान्तरिता=शाखाव्यवहिता। अनुष्ठितवती=कृतवती। विधाय=कृत्वा। अव्यङ्गम्=अविकलम्। निधिं=शेवधिम्। परं=श्रेष्ठम्। विहितोपभोगं=कृतकर्मोपभोगञ्च। एवं=शत्रुमन्त्रिणो वधाऽभावम्। अनुष्ठितं=कृतम्। अन्तर्लीनं=मनस्येव। अन्यायेन=दुष्टमन्त्रेण। विमाऽनना=अपमानः। साम्ना=मधुरवचनैः। रथकारः=वर्धकिः। स्वकाम्=आत्मनः। सजारां=जारसहिताम्॥ १९२॥

सा=कामदमनी। पुंश्चली=व्यभिचारिणी। जनापवादसंयुक्ता=लोकनिन्दिता।

१ इयं कथाश्लीलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठ्याद्यतो बहिर्भूता।

स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्याद्दुर्जनो हित. ॥१९३॥
जानामि चैनां लोकवचनादसतीम्। उक्तञ्च–
यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम्।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यत्स्याद्ब्रह्माण्डमध्यगम्' ॥१९४॥

एवं सम्प्रधार्य भार्यामवोचत्–'प्रिये! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि, तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति–तत्त्वया किमपि पाथेयं मम योग्यं विधेयम्।' साऽपि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्तौत्सुक्यात्सर्वकार्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्नं घृतशर्कराप्रायमकरोत्। अथवा साध्विदमुच्यते–

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १९५ ॥

अथाऽसौ प्रत्यूष उत्थाय स्वगृहान्निर्गतः। साऽपि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथञ्चित्तं दिवसमत्यवाहयत्। अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती–'स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तरं गतः, तत्त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम्।'

तथानुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपद्वारेण प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थितः। एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्तः समागत्य तत्र शयने उपविष्टः। तं दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत्–'किमेनमुत्थाय हन्मि? अथवा

स =रथकार । पावक.=वह्नि । प्रोष्ण =अत्युष्ण' । शशलाञ्छन =चन्द्र.। हितः=हितकारी ॥ १९३ ॥ लोकवचनात्=जनश्रुत्या । असतीं=कुलटाम् । पाथेयं=शम्बलम् । हर्षितचित्ता=प्रसन्नचिता । औत्सुक्यात्=औत्कण्ठ्यात् । अन्न=पक्वान्नम् । दुर्दिवसे=घनान्धकारिते दिने। घनतिमिरे=निबिडान्धकारे । जघनचपलायाः=कुलटाया' ॥ १९५ ॥ प्रत्यूषे=प्रभाते । अङ्गसंस्कारं=स्वशरीरमार्जनशृङ्गारादिकम्। अत्यवाहयत्=व्यतिचक्रे (विताया)।

विटः=जारः । दुरात्मा=दुष्ट. । प्रसुप्ते=निद्रावशगे । तथानुष्ठिते=विटे समागते । अपद्वारेण=भित्त्युल्लङ्घनादिना । (पिछवाड़े से)। निभृत =गुप्त । देवदत्त =

हेलयैव प्रसुप्तौ द्वावप्येतौ व्यापादयामि ?। परं—पश्यामि ताव-दस्याश्चेष्टितं, शृणोमि चानेन सहालापान् ।' अत्रान्तरे सा गृह-द्वारं निभृतं पिधाय शयनतलमारूढा। अथ तस्यास्तत्रारोहन्त्या रथकारशरीरेण पादो विलग्नः। ततः सा व्यचिन्तयत्-'नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् ?। ततः स्त्रीचरित्र-विज्ञानं किमपि करोमि।' एवं तस्याश्चिन्तयन्त्याः स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको बभूव।

अथ तया कृताञ्जलिपुटयाऽभिहितम् 'भो महानुभाव! न मे शरीरं त्वया स्पर्शनीयं, यतोऽहं पतिव्रता महासती च, न चेच्छापं दत्वा त्वां भस्मसात्करिष्यामि। स आह-'यद्येवं तर्हि त्वया किमहमाहूतः'?। साऽब्रवीत्-'भोः! शृणुष्वैकाग्रमनाः— अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता। तत्राकस्मात्खे वाणी सञ्जाता-'पुत्रि! किं करोमि? भक्तासि मे त्वम्-परं षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यसि'। ततो मयाऽभिहितं-'भगवति! यथा त्वमापदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि। तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पतिः शतसंवत्सरजीवी भवति'?। ततस्तयाऽभिहितम्-'वत्से! सन्नपि नास्ति, यत-स्तवायत्तः स प्रतीकारः।' तच्छ्रुत्वा मयाभिहितम्-'देवि! यदि तन्मम प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि।

अथ देव्याऽभिहितम्-'यद्यद्य परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्याऽऽलिङ्गनं करोषि, तत्तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य सञ्ज-

---

जार.। शयने= मञ्चके। एनं=जारम्। हेलयैव=सहसैव। परं=परन्तु। अनेन= जारेण। निभृतं = शनै.। तत्र=शयनतले। एतेन=तत्पादलग्नेन। स्त्रीचरित्र-विज्ञानं=स्त्रीचरित्रकौशलं। महानुभाव=महाशय। भस्मसात्=भस्म। एवं=यदि त्वं महासती तर्हि। एकाग्रमना =सावधान.। चण्डिकायतनं=गौरीमन्दिरम्। खे= आकाशे। प्रतीकारं=निवर्त्तनोपायम्। आयत्त.=अधीनः। प्राणै·=प्राणव्ययेनापि।

---

१ 'अयोनिशिश्नवर्षण, त्सुरत'मिति पाठान्तरं, तदेव चात्रोपयुज्यते, अग्रे-'यदेव महाव्रत'मित्यादिना तथैव ध्वननात्।

रति। भर्तापि पुनर्वर्षशतं जीवति। तेन त्वं मयाऽभ्यर्थितः। तद्य-त्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व,'न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यती' ति निश्चयः।' ततोऽन्तर्हासविकासमुखः स तदुचितमाचचार।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाञ्चित-तनुः शय्याधस्तलान्निष्क्रम्य तामुवाच-'साधु पतिव्रते! साधु कुलनन्दिनि! अहं दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तरव्याजं कृत्वात्र खट्वाधस्तले निभृतं लीनः। तदेहि-आलिङ्ग माम्। त्वं स्वभर्तृभक्तानां मुख्या नारीणाम्,यदेवं ब्रह्म-व्रतं परसङ्गेऽपि पालितवती'। ममायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशा र्थञ्च त्वमेवं कृतवती।'। तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान्। स्वस्कन्धे तामारोप्य तमपि देवदत्तमुवाच-'भो महानुभाव! मत्पुण्यैस्त्वमिहागतः, त्वत्प्रसादान्मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः, तत्त्वमपि मामालिङ्ग्य मत्स्कन्धे समारोह'।—इति जल्पन्ननि-च्छन्तमपि देवदत्तमालिङ्ग्य बलात्स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्।

ततश्च नृत्यं कृत्वा 'हे! ब्रह्मव्रतधराणां धुरीण! त्वयापि मय्युपकृतम्'-इत्याद्युक्त्वा स्कन्धादुत्तार्य यत्र-यत्र स्वजनगृह-द्वारादिषु बभ्राम, तत्र-तत्र तयोरुभयोरपि तद्गुणवर्णनमकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे—'इति। *

तत्सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः। सुष्ठु खल्विदमुच्यते-

मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः॥ १९६॥

भवति=सिध्यति। आदेशय=आज्ञापय। सञ्चरति=सङ्क्रामति। अभ्यर्थित =प्रार्थनयाहूत.। अन्तर्हासविकासमुख.=ईषद्धासोत्फुल्लमुखकमलः। तदुचितं=तत्कालोचितं-निधुवनमहोत्सवम्। पुलकाञ्चिततनुः=पुलकितशरीर। दुर्जनाना वचनैः शङ्कितं हृदयं यस्यासौ तथाभूतः। ग्रामान्तरव्याज=ग्रामान्तरगमनच्छलम्। निभृतं=प्रच्छन्नं। लीन =स्थित, (छिपा था)। स्वभर्तृभक्ताना=पतिव्रतानाम्। मुख्या=प्रधानीभूता। एवम्=अयोनिलिङ्गघर्षणरूपं मद्व्रत्। ब्रह्मव्रतं=संयममहाव्रतम्। परसङ्गेपि=परपुरुषसङ्गेऽपि। ता=कुलटाम्। ब्रह्मव्रतधराणा धुरीण=संयमव्रत-

तथा च-सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः ।
अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा ॥ १९७ ॥

ततस्तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतुमारब्धाः । अथाऽऽनीयमानः स्थिरजीव्याह-'देव ! अद्याऽकिञ्चित्करेणैतदवस्थेन किं मयोपसङ्गृहीतेन ? । यत्कारणम्-'इच्छामि दीप्तं वह्निमनुप्रवेष्टुं, तदर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्तुम् ।'

अथ रक्ताक्षस्तस्यान्तर्गतभावं ज्ञात्वाऽब्रवीत्-'किमर्थमग्निपतनमिच्छसि ?'। सोऽब्रवीत्-'अहं तावद्युष्मदर्थे इमामापदं मेघवर्णेन प्रापितः । तदिच्छामि तेषां वैरयातनार्थमुलूकत्व'मिति ।

तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्षः प्राह—'भद्र ! कुटिलस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च । तत्त्वमुलूकयोनिगतोऽपि स्वकीयामेव वायसयोनिं बहु मंस्यसे ।' श्रूयते चैतदाख्यानकम्—

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मारुतं गिरिम् ।
स्वजातिं मूषिका प्राप्ता, स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ १९८ ॥

मन्त्रिणः प्रोचुः—'कथमेतत् ?' । रक्ताक्षः कथयति—

१२. मूषककन्याविवाहकथा

अस्ति विषमशिलातलस्खलिताम्बुनिर्घोषश्रवणसन्त्रस्त-

धारिश्रेष्ठ ! । तद्गुणवर्णनं=संयमवर्णनम् । मूलोत्खाताः=मूलोच्छिन्नाः । सम्भाव्यन्ते =निश्चीयन्ते । विपरीतोपसेविनः=अनुचितोपदेष्टारः । देशकालविरोधिनः=देशकालाननुरूपाः ॥ १९७ ॥ तद्वचः=रक्ताक्षमन्त्रिवचनम् । उत्क्षिप्य=उत्थाप्य । एतदवस्थेन=ईदृशीमवस्थां गतेन । उपसङ्गृहीतेन=रक्षितेन । अग्निप्रदानेन=चिताप्रदीपनेन। समुद्धर्तुं=क्लेशादस्मान्मोचयितुम् । तेषां=काकानाम् । वैरयातनार्थं= वैरशोधनार्थं । (बदला लेने के लिए) । कृतवचनचतुरः=कुटिलमिथ्यावचन रचनाकुशल. । बहु मन्यसे=उत्कृष्टां मंस्यसे, (यदि तुम उल्लू भी हो जाओगे तो भी अपनी काकजाति को ही अधिक मानोगे) । 'मन्यसे' इत्यस्य स्थाने 'मंस्यसे—इत्येव वै गौडा. पठन्ति । आख्यानकं=कथा । पर्जन्यं=मेघम् । गिरिं =पर्वतम् । दुरतिक्रमा=दुस्त्यजा ॥ १९८ ॥

मत्स्यपरिवर्तनसञ्जनितश्वेतफेनशबलतरङ्गाया गङ्गायास्तटे जपनियमतपःस्वाध्यायोपवासयोगक्रियानुष्ठानपरायणैः, परिपूतपरिमितजलजिघृक्षुभिः,कन्दमूलफलशैवालाभ्यवहारकदर्थितशरीरैर्वल्कलकृतकौपीनमात्रप्रच्छादनैस्तपस्विभिराकीर्णमाश्रमपदम्। तत्र याज्ञवल्क्यो नाम कुलपतिरासीत्। तस्य जाह्नव्यां स्नात्वोपस्प्रष्टुमारब्धस्य करतले श्येनमुखात्परिभ्रष्टा मूषिका पतिता। तां दृष्ट्वा न्यग्रोधपत्रेऽवस्थाप्य पुनः स्नात्वोपस्पृश्य च प्रायश्चित्तादिक्रियां कृत्वा च मूषिकां तां स्वतपोबलेन कन्यकां कृत्वा समादाय स्वाश्रममानिनाय। अनपत्यां च जायामाह–'भद्रे! गृह्यतामियं तव दुहितोत्पन्ना प्रयत्नेन संवर्धनीया'–इति। ततस्तया संवर्धिता लालिता पालिता च यावद् द्वादशवर्षा सञ्जाते।

अथ विवाहयोग्यां तां दृष्ट्वा भर्तारमेवं जायोवाच–'भो भर्तः! किमिदं नावबुध्यसे यथाऽस्याः स्वदुहितुर्विवाहसमयातिक्रमो भवति?'। असावाह–'साधूक्तम्। उक्तञ्च—

विषमाः=कठिनाः, उच्चावचाश्च या शिला, विषमशिलाः, तासां तटे स्खलितं=घट्टितं यदम्बु=जलं, तेन यो निर्घोषः=निःस्वनः, तस्य श्रवणेन संत्रस्ता ये मत्स्याः=मीनाः, तेषां परिवर्त्तनं=परिलुण्ठनं, ('लोटपोट होना' 'भागना') तेन सञ्जनितो यः श्वेतः फेनः=अब्धिकफः, तेन शबलाश्चित्रितास्तरङ्गा यस्याः सा तां तथाभूताम्। जपः=मन्त्रजपः। नियमः=व्रतम्। तपः=तपश्चरणम्। स्वाध्यायः=वेदाद्यध्ययनम्। उपवासः=भोजनवर्जनम्। यागक्रिया=यज्ञाग्निहोत्रादिकर्म। तेषाम् अनुष्ठानं=सेवनं, तत्परायणैः=प्रसक्तैः। परिपूतं परिमितं च यज्जलं, तज्जिघृक्षुभिः=तदेव ग्रहीतुमिच्छुभिः,-कैश्चित् केवलजलपानप्रसक्तैरित्यर्थः। कैश्चिच्च कन्दमूलफलशैवालाभ्यवहारेण=कन्दादिमात्रभक्षणेन कदर्थितं=क्लेशितं शरीरं यैस्तथाभूतैः। वल्कलेन=भूर्जत्वगादिना कृतं-कौपीनमात्रस्य=गुह्याङ्गमात्रस्य-प्रच्छादनं=पिधानं यैस्तैस्तथाभूतैः। तपस्विभिः=तापसैः। आकीर्णं=व्याप्तम्। आश्रमपदम्=आश्रमस्थानम्। कुलपतिः=आचार्यः-दशसहस्रच्छात्रसङ्घपरिवृतः। जाह्नवी=गङ्गा। उपस्प्रष्टुम्=आचमनं कर्तुम्। श्येनमुखात्=पक्षिमुखात्। (बाज के मुख से)। उपस्पृश्य=आचम्य। जायां=भार्याम्। दुहिता=पुत्री।

स्त्रियः पूर्वं सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।
भुञ्जते मानुषाः पश्चात्तस्माद्दोषो न विद्यते ॥ १९९ ॥
सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाः शिक्षितां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥ २०० ॥
असम्प्राप्तरजा गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।
अव्यञ्जना भवेत्कन्या, कुचहीना च नग्निका ॥ २०१ ॥
व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुङ्क्ते हि कन्यकाम् ।
पयोधराभ्यां गन्धर्वा रजस्यग्निः प्रतिष्ठितः ॥ २०२ ॥
तस्माद्विवाहयेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत् ।
विवाहश्चाऽष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥ २०३ ॥
व्यञ्जनं हन्ति वै पूर्वं, परं चैव पयोधरौ ।
रतिरिष्टांस्तथा लोकान्हन्याच्च पितरं रजः ॥ २०४ ॥
ऋतुमत्यां तु तिष्ठन्त्यां स्वेच्छादानं विधीयते ।
तस्मादुद्वाहयेन्नग्नां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ २०५ ॥
पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।

सञ्जज्ञे=जाता । अतिक्रमः=उल्लङ्घनम् । असौ = याज्ञवल्क्यः । साधु = शोभनम् । (ठीक कहा) । स्त्रियः=कन्याः । सुरैः=सोमगन्धर्ववह्निभिर्देवैः । भुञ्जते=सेवते । दोषः=स्त्रीषु पापम् ॥ १९९ ॥ तासां=स्त्रीभ्यः । शौचं = शुद्धि । शिक्षितां = मनोहरां, निपुणाञ्च । सर्वमेध्यत्वं=सर्वाङ्गेषु पवित्रताम् । कल्मषं=पापम् ॥२००॥ व्यञ्जनैः = स्तनकेशादिभिरुपलक्षिताम् । 'व्यञ्जनं लाञ्छनश्मश्रुतेमनावयवेष्वपी'-ति मेदिनी । सोमः=चन्द्रदेवः । रजसि = पुष्पे । ऋतुमती=स्त्रीधर्मिणी । व्यञ्जनं= लोम । पूर्वं = कृतं पुण्यं । पितुरिति शेषः । परं=करिष्यमाणं सुकृतम्, परलोकं वा । पयोधरौ—अविवाहितायाः पितृगृहे वर्त्तमानायाः कन्याया उत्पद्यमानौ स्तनौ । रतिः=मैथुनेच्छा, पुरुषाभिलाषश्च । परपुरुषसम्पर्को वा । इष्टान्=स्वर्गादिकान् । रजः= आर्त्तवं । हन्यात्=अधः पातयेत् ॥ २०४ ॥

ऋतुमत्यां—'कन्याया'मिति शेषः । स्वेच्छादानं=यस्मै कस्मै चन वराय यथालाभं दानम् । नग्ना=अनागतार्त्तवा, कुचहीना वा । स्वायम्भुवः= स्वयम्भूपुत्रः ॥ २०५ ॥

अविवाह्या तु सा कन्या जघन्या वृषलीमता ॥ २०६ ॥
श्रेष्ठेभ्यः सदृशेभ्यश्च जघन्येभ्यो रजस्वला ।
पित्रा देया विनिश्चित्य यतो दोषो न विद्यते ॥ २०७ ॥

अतोऽहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि, नान्यस्मै । उक्तञ्च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्विवाहः सख्यञ्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ २०८ ॥

तथा च—कुलञ्च शीलञ्च सनाथता च विद्यां च वित्तञ्च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त विचिन्त्य देया कन्या बुधै, शेषमचिन्तनीयम् २०९

तद्यद्यस्या रोचते तदा भगवन्तमादित्यमाहूय तस्मै प्रयच्छामि । सा प्राह—'इह को दोषः ? क्रियतामेतत् ।' अथ मुनिना रविराहूतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्यः प्रोवाच—'भगवन् ! किमहमाहूतः ?'। सोऽब्रवीत्—'एषा मदीया कन्यका तिष्ठति—यद्येषा त्वां वृणोति तर्ह्युद्वहस्व'—इति । एवमुक्त्वा स्वदुहितरमुवाच—'पुत्रि ! किन्तव रोचते एष भगवाँस्त्रैलोक्यदीपको भानुः ?' । पुत्रिकाऽब्रवीत्—'तात ! अतिदहनात्मकोऽयं, नाहमेनमभिलषामि ।—तदस्मादन्य प्रकृष्टतरः कश्चिदाहूयताम् ।' अथ तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मुनिर्भास्करमुवाच—'भगवन् ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ? ।

पितृवेश्मनि = पितृगृहे । असंस्कृता = अविवाहिता । अविवाह्या=विवाहाऽयोग्या । जघन्या = निन्दिता । 'वृषली'ति सञ्ज्ञा ॥ २०६ ॥ श्रेष्ठसमानाऽधमेभ्यो यथालाभमृतुमती कन्या देया, नात्र विचार कार्य. ॥ २०७ ॥ एनां= कन्याम् । पुष्टविपुष्टयो =हीनबलाधिकबलयो ॥२०८॥ शील= विनयादिकम् । सनाथता = स्थिर आश्रय । वपु = शरीरं । वय = अवस्था । शेषम्=इतोऽधिकं भावि शुभाशुभम् । अचिन्तनीयमिति । दैवायत्तत्वात्तस्येति भाव ॥२०९॥ अस्या = कन्यायाः । रोचते = प्रतिभाति । वेदमन्त्रैर्यदामन्त्रणम् = आह्वानं । तत्प्रभावात् = तत्सामर्थ्यात् । कि=किमर्थम् ? । वृणोति=स्वीकरोति । उद्वहस्व= विवाहं कुरु । भगवान्=सकलज्ञानशक्तिनिधि । त्रैलोक्यस्य दीपक = प्रकाशक । अतिदहनात्मक—अत्यन्तं दाहक—उष्णतर । प्रकृष्टतर = श्रेष्ठ ।

भास्करः प्राह–'अस्ति मत्तोऽप्यधिको मेघो येनाच्छादितोऽहमदृश्यो भवामि।' अथ मुनिना मेघमप्याहूय कन्याभिहिता–'पुत्रिके ! किमस्मै त्वां प्रयच्छामि ?।' सा प्राह–'कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च । तदस्मादन्यस्य प्रधानस्य कस्यचिन्मां प्रयच्छ।'

अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्टः–'भो मेघ ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित्?'। मेघेनोक्तं,–'मत्तोऽपि अधिकोऽस्ति वायुः। [यतो]वायुनाऽऽहतोऽहं सहस्रधा यामि।' तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूतः,–आह च–'पुत्रिके ! किमेष वायुस्ते विवाहायोत्तम' प्रतिभाति ?'। साऽब्रवीत्–'तात ! अतिचपलोऽयं, तदस्मादप्यधिकः कश्चिदानीयताम्।'

मुनिराह–'वायो ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ?'। पवनेनोक्तम्–मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति पर्वतः, तेन संस्तभ्य बलवानप्यहं ध्रियेे।

अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्यामुवाच–'पुत्रिके ! किं त्वामस्मै प्रयच्छामि ?'। सा प्राह–'तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च, तदन्यस्मै देहि माम्।' मुनिना पर्वतः पृष्टः–'भोः पर्वतराज ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ?'। गिरिणोक्तम्–'मत्तोऽप्यधिकाः सन्ति मूषिका ये मच्छरीरं बलाद्विदारयन्ति।' ततो मुनिर्मूषिकमाहूय तस्या अदर्शयत्–आह च–'पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?' किमेष प्रतिभाति ते मूषिकराजः ?'। साऽपि तं दृष्ट्वा 'स्वजातीय एष' इति–मन्यमाना पुलकोद्धुषितशरीरा उवाच–तात ! मां मूषिकां कृत्वाऽस्मै प्रयच्छ–येन स्वजातिविहितं गृहिणीधर्ममनुतिष्ठामि।'

अदृश्य = निलीन. । अस्मै = मेघाय । 'प्रयच्छामि'--किमिति प्रश्न ।

जडात्मा=जलबहुल , मूर्खश्च । डलयोरैक्यात्–जडात्मा=जलात्मा। प्रधानस्य=श्रेष्ठस्य । सहस्रधा यामि=विच्छिन्नो भवामि । प्रतिभाति=रोचते । संस्तभ्य=गृहीत्वा, (जबरदस्ती पकड़ कर)। ध्रियेे=अवगृह्ये । (रोक लिया जाता हूँ) । कठिनात्मकः=शिलाशकलकर्कश । स्तब्धः=अविनीतः । विदारयन्ति=खण्डयन्ति । प्रतिभाति=रोचते । पुलकोद्धुषितशरीरा=रोमाञ्चितदेहा । प्रयच्छ=देहि ।

ततः सोऽपि स्वतपोबलेन तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रादात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य' इति। ❀

अथ रक्ताक्षवचनमनादृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीतः। नीयमानश्चान्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—

'हन्यता' मिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना।
स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्॥ २१०॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन्नेते ततो न स्वल्पोऽप्यनर्थोऽभविष्यदेतेषाम्'।

अथ दुर्गद्वारं प्राप्याऽरिमर्दनोऽब्रवीत्—'भो भोः! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहितं स्थानं प्रयच्छत।' तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—मया तावदेतेषां वधोपायश्चिन्तनीयः, स मया मध्यस्थेन न साध्यते, यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तस्तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति। तद्दुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि।'—इति निश्चित्य उलूकपतिमाह—देव! युक्तमिदं यत्स्वामिना प्रोक्तं, परमहमपि नीतिज्ञस्तेऽहितश्च, यद्यप्यनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्य आवासो नार्हः। तदहमत्रैव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजःपवित्रीकृततनुः सेवां करिष्यामि। 'तथा' इति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहारं कृत्वोलूकराजादेशात्प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति। अथ कति-

---

स्वजातिविहितं=मूषकानुकूलं। गृहिणीधर्मं=पत्नीधर्मम्। अन्तर्लीनं=सुगुप्त ('मन ही मन')। हन्यतामिति=स्थिरजीव्ययं हन्यतामिति। येन=रक्ताक्षेण मन्त्रिणा। अत्र=शत्रुमन्त्रिषु॥ २१०॥

तस्य=रक्ताक्षस्य। एते=उलूका। अनर्थ—विपत्तिरूप। हितैषिण=अस्मत्प्रियचिन्तकस्य। यथासमीहितं=यथाभिलषितम्। मध्यस्थेन=उलूकदुर्गमध्यस्थितेन। अभिप्रेतम्=अभीष्टम्। अहित=शत्रुजातीय। अनुरक्त=प्रिय। शुचि=द्वेषशून्य, परीक्षितश्च। आवास=निवास। अर्ह=योग्य। भवतो ये पादपद्मे तयोर्यद्रज=रेणु, तेन पवित्रीकृतस्तनुर्देहो यस्यासौ तथाभूत। प्रतिपन्ने=स्वीकृते। उलूकपतिसेवका=उलूकराजानुचरा। प्रकामं=यथेच्छम्। प्रकृष्टं=

पयैरेवाहोभिर्मयूर इव स बलवान्संवृत्तः।

अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं दृष्ट्वा सविस्मयो मन्त्रिजनं राजानञ्च प्रत्याह–'अहो ! मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवांश्चे'त्येवमहमवगच्छामि। उक्तञ्च—

पूर्वन्तावदहं मूर्खो, द्वितीयः पाशबन्धकः।
ततो राजा च मन्त्री च, सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २११ ॥

ते प्राहुः–कथमेतत् ?। रक्ताक्षः कथयति–

१३. स्वर्णपुरीषपक्षि-राज-मन्त्रिकथा

अस्ति कस्मिंश्चित्पर्वतैकदेशे महान्वृक्षः। तत्र च सिन्धुक नामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म। तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते। अथ कदाचित्तमुद्दिश्य व्याधः कोऽपि समाययौ। स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज। अथ पातसमकालमेव तत्सुवर्णीभूतं दृष्ट्वा व्याधो विस्मयमगमत्–'अहो ! मम शिशुकालादारभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनोऽशीतिवर्षाणि समभूवन्–न च कदाचिदपि पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्।–इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध।

अथासावपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टः तत्कालमेव पाशेन बद्धः। व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजाऽऽवासं नीतवान्। अथ चिन्तयामास–'किमनेन साऽपायेन पक्षिणाहं करिष्यामि ?–यदि कदाचित्कोऽप्यमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयिष्यति,–तन्नूनं प्राणसंशयो मे भवेदतः स्वयमेव पक्षिण राज्ञे निवेदयामि।' इति विचार्य तथैवाऽनुष्ठितवान्।

प्रभूतं। संवृत्त.=जातः। पोष्यमाण=मासदानादिना रक्ष्यमाणम्। भवान्=राजा। अवगच्छामि=निश्चिनोमि, जानामि। पाशबन्धक=लुब्धक. ॥ २११ ॥ पुरीषे= विष्ठायाम्। तमुद्दिश्य=तद्बन्धनाभिप्रायेण। तदग्रतः=व्याधाग्रतः। शकुनिबन्ध एव व्यसनं तदस्त्यस्य तथा भूतस्य। असौ=सिन्धुक.। तत्रैव=तस्मिन्नेव वृक्षे। सापायेन=विपत्तिबहुलेन। ईदृशं=सुवर्णपुरीषम्। तथैवानुष्ठितवान्=राज्ञे निवेदित-

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपागतः। प्राह चैवं-'हंहो रक्षापुरुषाः! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत, अशनपानादिकं चास्य यथेच्छं प्रयच्छत।' अथ मन्त्रिणाऽभिहितम् 'किमनेनाऽश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरिगृहीतेन अण्डजेन?। किं कदाचित्पक्षिपुरीषे सुवर्णं सम्भवति ?। तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी'। इति मन्त्रिवचनाद्राज्ञा मोचितोऽसौ पक्ष्युन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय—'पूर्वं तावदहं मूर्खः'—इति श्लोकं पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात्। अतोऽहं ब्रवीमि–'पूर्वं तावदहं मूर्खः-इति। ❀

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादृत्य भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः।

अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच- अहो! एतावदेवाऽस्मद्भूपतेः कुशलं दुर्गश्च। तदुपदिष्टं मया यत्कुलक्रमागतः सचिवोऽभिधत्ते। तद्वयमन्यत्पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः।

उक्तञ्च यतः—

अनागतं यः कुरुते स शोभते स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥२१२॥

वान्। विकसित नयनवदनमेव कमलं यस्यासौ तथाभूत =प्रसन्नमुखः। तुष्टिं= प्रसन्नताम्। हंहो=अहो!। रक्षापुरुषा =रक्षका. (सिपाहीलोगो!)। अश्रद्धेयं= विश्वासानर्हं, यद्व्याधस्य = शाकुनिकस्य, वचनं, तत्र य प्रत्ययो–विश्वास, तन्मात्रेण य. परिगृहीत.=स्थापित', अण्डज पक्षी। उन्नतद्वारतोरणे=उन्नत-गृहद्वारबहिर्भूतद्वारप्रदेशे। यथासुखं = यथेच्छम्।

ते=उलूकाः। प्रतिकूलदैवतया=दुरदृष्टवशीभूततया। तं=स्थिरजीविनम्। रह =एकान्ते। एतावत् = एतावत्पर्यन्तमेव। राज्ञो दुर्गस्य च नाग्रे कुशलं भविष्यतीत्यर्थ.। मया तदुपदिष्टं यद्धितैषिणा कुलीनेन मन्त्रिणोपदेष्टव्यम्। 'परन्तु राजा तन्न मन्यते इति शेष सम्प्रति=इदानीम्। अनागत=सुविचारितम्। अनागतमेव–

---

१ बिलेऽत्र जातस्ये'ति, 'वने वसन्नत्र जरामुपागत' इति च पाठ०।

ते प्रोचुः—'कथमेतत् ?'। रक्ताक्षः कथयति–

१४ सिंह-जम्बुक-गुहाकथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। स कदाचिदितश्चेतश्च परिभ्रमन्क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वमाससाद। ततश्चास्तमनसमये महतीं गिरिगुहामासाद्य प्रविष्टश्चिन्तयामास–'नूनमेतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वेनागन्तव्यं–तन्निभृतो भूत्वा तिष्ठामि।' एतस्मिन्नन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः। स च यावत्पश्यति,–तावत्सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा, न च निष्क्रमणं गता।

ततश्चाऽचिन्तयत्–'अहो ! विनष्टोऽस्मि।–नूनमस्यामन्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम। तत्किं करोमि ? कथं ज्ञास्यामि ?'। एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः[1]–'अहो बिल'–इत्युक्त्वा तूष्णीं भूय भूयोऽपि तथैव प्रत्यभाषत–'भोः ! किं न स्मरसि ! यन्मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति–यन्मया बाह्यात्समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया चाहमाकारणीयः'–इति। तद्यदि मां नाह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि।' अथ तच्छ्रुत्वा सिंहश्चिन्तितवान्-'नूनमेषा गुहाऽस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परमद्य मद्भयान्न किञ्चिद्ब्रूते। अथवा साध्विदमुच्यते–

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २१३ ॥

कार्यं पूर्वमेव विचार्य यः करोति स शोभते, यथा–शृगालः। यश्चाऽविचार्य कार्यं करोति स शोच्यते, यथा–सिंहः। यद्वा–अनागतम्=अप्रवेशम्। क्षुत्क्षामकण्ठः=बुभुक्षाकुलितः। सत्त्वं=जन्तुम्। आससाद=प्राप। नूनम्=अवश्यम्। तत्स्वामी=गुहानिवासी। सिंहपदपद्धतिः=सिंहपदचिह्नपङ्क्तिः। अस्याम्=गुहायाम्। फूत्कर्तुं=सकोलाहलं गदितुम्। (चिल्लाने लगा)। समयः=सङ्केत। न वाणी। न च वाणी सम्प्रवर्त्तते। वेपथुः=कम्पः ॥ २१३ ॥

---

१ कर्त्तरि क्तः। आरब्धवानित्यर्थः।

'तदहमस्याह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां यास्यति।' एवं सम्प्रधार्य सिंहस्तस्याऽऽह्वानमकरोत्।

अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णाऽन्यानपि दूरस्थानरण्यजीवांस्त्रासयामास।

शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठत्—

'[1]अनागतं यः कुरुते स शोभते स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता'॥२१४॥

तदेवं मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यम्'—इति। एवमभिधाय आत्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिर[2]जीव्यतिहृष्टमना व्यचिन्तयत्—'अहो! कल्याणमस्माकमुपस्थितं यद्रक्ताक्षो गतः, यतः स दीर्घदर्शी,—एते च मूढमनसः, ततो मम (एते) सुखघात्याः सञ्जाताः।
उक्तञ्च यतः—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः।
क्रमायाता ध्रुवं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः॥ २१५॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः।
ये [3]सन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः'॥ २१६॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाये एकैकां वनकाष्ठिकां गुहादीपनार्थं

तदनुसारेण=आह्वानानुसारेण। प्रतिरवसम्पूर्णा=प्रतिध्वनिपरिपूरिता। आत्मनो ये अनुयायिनस्तैस्तत्परिवारैश्च अनुगतः=सहितः। सुखघात्याः=सुखेन वध्याः।

दीर्घदर्शिनः=दूरदर्शिनः। क्रमायाता=वंशपरम्परागता। न चिरात्=शीघ्रमेव। परिक्षयः=नाशः॥ २१५॥ सन्तं=सरलं, प्रसिद्धञ्च। नयं=मन्त्रं, नीतिञ्च। प्रतिलोमतः=वैपरीत्येन॥ २१६॥ स्वकुलाये=स्वनीडे। वनकाष्ठिका=

---

१ 'शुभङ्कृतं यः कुरुते स शोभते, न शोभते यो न करोति सङ्कृतं'मिति गौडाः पठन्ति। 'स शोच्यते' इति वा पठितुं शक्यम्। २. चिरञ्जीवी'ति पाठः। ३ 'ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः' इति, 'विपरीतोपदर्शिनः' इति च पा०।

दिने दिने प्रक्षिपति। न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति,—यदेष स्वकुलायमस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति। अथवा साध्विदमुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
शुभं वेत्त्यशुभं, पापं भद्रं, दैवहतो नरः ॥ २१७ ॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सञ्जाते सूर्योदयेऽन्धतां प्राप्तेषूलूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रं गत्वा मेघवर्णमाह—'स्वामिन्! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा, तत्सपरिवारः समेत्यैकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारेऽस्मत्कुलाये प्रक्षिप, येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते। तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह—'तात! कथयाऽऽत्मवृत्तान्तम्? चिराद्द्य दृष्टोऽसि।' स आह—'वत्स! नायं कथनस्य कालः, यतः—कदाचित्तस्य रिपोः कश्चित्प्रणिधिर्ममेहागमनं निवेदयिष्यति, तज्ज्ञानादन्धोऽन्यत्रापसरणं करिष्यति। तत्त्वर्यतां! त्वर्यताम्! उक्तञ्च—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २१८ ॥

तथा च—

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ २१९ ॥

वनकाष्ठं ('वनकठा' 'लकड़ी')। एष'=काक.। अमित्रं=शत्रुं, शुभम्—अशुभमिति मित्रमिति वेत्ति। पापं=दुष्टं, भद्रं=शोभनमिति वेत्ति। दैवहत'=दुर्भाग्यपीडित ॥ २१७ ॥ कुलायव्याजेन=स्वनीडच्छलेन। काष्ठनिचये=काष्ठराशौ। समेत्य=मिलित्वा। कुम्भीपाकनरकयन्त्रणासमेन। तात=हे पितृव्य!। अन्ध'=अन्धीभूतोऽपि। शीघ्रकृत्येषु=शीघ्रं करणीयेषु ॥ २१८ ॥ फलितस्य=फलावस्थामागतस्य। क्षिप्र=त्वरितम्। रसम्=सारम्। अत्र यस्य तस्येति पाठान्तरम् ॥ २१९ ॥

---

१ 'मित्राणि तस्य नश्यन्ति अमित्रं नष्टमेव चे'ति पा०।

तद्गुहायामायातस्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तरं निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि।' अथासौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं वनकाष्ठिकां चञ्च्वग्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत्। ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्याऽऽवृतत्वादनिःसरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना, मृताश्च। एवं शत्रून्निःशेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णस्तदेव न्यग्रोधपादपदुर्गं जगाम। ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिरजीविनमपृच्छत्—'तात! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेनैतावत्पर्यन्तं कालो नीतः? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्तते, तत्कथ्यताम्। यतः—

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणाम् (?)।
न चाऽरिजनसंसर्गो मुहूर्तमपि सेवित ॥ २२० ॥

तदाकर्ण्य स्थिरजीव्याह—'भद्र! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति। उक्तञ्च यतः—

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवे—
त्स स निपुणया बुद्ध्या सेव्यो महान्कृपणोऽपि वा।
करिकरनिभौ ज्याघाताङ्कौ महाऽस्त्रविशारदौ
रचितवलयैः स्त्रीवद्बद्धौ करौ हि किरीटिना ॥ २२१ ॥

हतशत्रोः=नाशितरिपो। निर्व्याकुलतया=निश्चिन्तो भूत्वा। रक्ताक्षवाक्यानि=स्वमन्त्रिवाक्यानि। आवृतत्वात्=पिहितत्वात्। कुम्भीपाकन्यायं=पुटपाकन्यायम्। आपन्ना=प्राप्ताः। निःशेषता=निर्मूलताम्। कौतुकम्=आश्चर्यम्। प्रपात=पतनम्। पुण्यकर्मणा=महात्मनाम्। (?)। न च=नैव वरम्, न मनागपि श्रेष्ठम् ॥ २२० ॥

आगामिनः—फलस्य वाञ्छया=इच्छया। सेवक=भृत्य। उपनतं=प्राप्तं भयं यान्-ते-उपनतभयाः, तै=विपत्तिजालपतितै। हितार्थकरः=स्वहितार्थसाधक। निपुणया=विवेकशालिन्या। महान्=श्रेष्ठ। कृपण=निकृष्ट। करिकरनिभौ=

---

१. 'वलयरणितौ स्त्रीवद्ध हू कृतौ न किरीटिना'-इति पाठान्तर, तत्र-न कृताविति काकुः। कृतावेवेत्यर्थ.।

शक्तेनापि सदा जनेन विदुषा कालान्तरापेक्षिणा
वस्तव्यं खलु वक्रवाक्यविषमे[1] क्षुद्रेऽपि पापे जने ।
दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनाऽऽयासयुक्तेन च
भीमेनाऽतिबलेन मत्स्यभवने किं नोषितं सूदवत् ? ॥२२२॥

यद्वा तद्वा विषमपतितः साधु वा गर्हितं वा
कालापेक्षी पिहितनयनो बुद्धिमान्कर्म कुर्यात् ।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुगुणास्फालकक्रूरपाणि-
र्नासीह्लीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ! ॥२२३॥

सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वकं
सत्त्वोत्साहवताऽपि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात्[2] ।
देवेन्द्रद्रविणेश्वराऽन्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभिः
किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छ्रीमान्न धर्मात्मजः ?॥२२४॥

हस्तिशुण्डादण्डसदृशौ । ज्याघाताङ्कौ—शिञ्जिनीसमाघातकिणाङ्कितौ । महास्त्रविशारदौ=दिव्यास्त्रनिपुणौ । किरीटिना=अर्जुनेन ॥ २२१ ॥

शक्तेन=समर्थेन । विदुषा=पण्डितेन । 'नरेन्द्रविदुषे'ति पाठः क्वचित् । कालान्तरापेक्षिणा=समयमपेक्षमाणेन । वक्रवाक्यविषमे=क्रूरवक्रवाक्यकठिने । लिखिते 'वाक्यवज्रे'ति पाठः क्वचित् । क्षुद्रे=नीचे । पापे=खले । दर्वीव्यग्रकरेण=खजाकालग्नहस्तेन । (दर्वी='करछुल' 'चमची') । आयासयुक्तेन=परिश्रमखिन्नेन । मत्स्यभवने=मत्स्यराजस्य विराटस्य भवने । सूदः=पाचकः ॥२२२॥

यद्वा तद्वा=यत्किञ्चिदपि । विषमपतितः=विपत्तिमग्नः सन् । कालापेक्षी=शुभसमयं प्रतीक्षमाणः । पिहितनयनः=विचारं त्यक्त्वाऽक्षिणी निमील्य । (आँख बन्द करके किसी तरह से) । 'हृदयनिहित'मिति मुद्रितः पाठः ।

गाण्डीवेति । गाण्डीवस्य यः स्फुरन् उरु=महान्, गुणः=मौर्वी, तस्यास्फालनेन=आकर्षणेन घर्षणेन च क्रूरः=कठिनः, पाणिर्यस्यासौ तथाभूतः । लीलया यन्नटनं=नृत्यं, तेन विलसन्ती मेखला=काञ्ची यस्यासौ तथाभूतः । सव्यसाची=अर्जुनः । विराटनगरेऽर्जुनो बृहन्नटारूपेण नृत्यं चकारेति महाभारते ॥२२३॥

तेजः=वीर्यं । निगृह्य=पिधाय । सत्त्वं=धैर्यं । दैवविधिषु=दैवादापन्नेषु कर्मसु ।

---

१ 'वाक्यवज्र' पा० । २. 'स्थैर्य समीक्ष्य क्रममि'ति पा० ।

रूपाभिजनसम्पन्नौ कुन्तीपुत्रौ बलान्वितौ ।
गोकर्मरक्षा[1]व्यापारे विराटप्रेष्यतां गतौ ॥२२५॥
रूपेणाऽप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना
कान्त्या श्रीरिव याऽत्र सापि विदशा कालक्रमादागता ।
सैरन्ध्रीति सगर्वितं युवतिभिः साक्षेपमाज्ञप्तया
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम्? ॥२२६॥

मेघवर्ण आह-'तात! असिधाराव्रतमिदं मन्ये यदरिणा सह संवासः।' सोऽब्रवीत्-'देव! एवमेतत्, परं न तादृङ्मूर्खसमागमः क्वापि मया दृष्टः, न च महाप्रज्ञमनेकशास्त्रेष्वप्रतिमबुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान्। यत्कारणं—तेन मदीयं यथास्थितं चित्तं ज्ञातम्। ये पुनरन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशलाः, यैरिदमपि न ज्ञातम्, यत्—

अ[2]रितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्सङ्गतत्परः ।
अपसर्पसधर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषितः ॥ २२७ ॥

देवेन्द्र=इन्द्र । द्रविणेश्वर=कुबेर । अन्तक=यम । त्रिदण्ड=छत्रम् । धर्मात्मज=युधिष्ठिर ॥ २२४ ॥ कुन्तीपुत्रौ=नकुलसहदेवौ । 'माद्रीपुत्रा'विति गौडा पठन्ति ॥ २२५ ॥ अप्रतिमेन=अनुपमेन । यौवनगुणै=सौन्दर्यलावण्यादिभिः । श्रीरिव=साक्षाल्लक्ष्मीरिव। विदशा=दुर्दशाम्। सैरन्ध्रीति='हे सैरन्ध्रि! चन्दनमानयेत्येवं' । सगर्वितं=सगर्व । साक्षेपं=साधिक्षेपञ्च । युवतिभि=विराटराजयुवतिभि । आज्ञप्तया=आदिष्टया । घृष्टमेवेति भाव । 'सैरन्ध्री यान्यवेश्मस्था स्ववशा शिल्पकारिणी'त्यमर ॥ २२६ ॥ 'यैरिदमपि न ज्ञात य'दिति अग्रिमश्लोकान्वयि । अरित=शत्रुपक्षात् । दुष्ट=न सङ्ग्राह्य, यतः-तत्सत्सङ्गतत्पर=शत्रुसङ्गप्रवण एव स भवति, तत एवागतत्वात् । पाठान्तरे-सर्पसंवासधर्मत्वात्=सर्पयुक्तगृहवत् नित्यं भयजनकत्वात्स दूषित=त्याज्य एव । मुद्रितपाठे तु-अपसर्प=गुप्तचर । तत्सधर्मत्वात्=तत्तुल्यत्वादित्यर्थ ॥ २२७ ॥

१. 'गोवाजिस्वस्तिसंस्कारे' इति पाठ०। तत्र स्वस्तिसंस्कारः=रक्षादि । ('झाड-फूक' 'निगरानी')। २ अरितोऽभ्यागतोऽमित्रः शत्रुसंवासतत्पर'। सर्पसंवासधर्मित्वान्नित्योद्वेगेन दूषितः॥' इति, 'अपसर्पसधर्मत्वा'दिति च पाठा।

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु ।
दृष्ट्वाऽन्तरं प्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २२८ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलयं बुधः ।
आत्मानमादृतो रक्षेत्प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २२९ ॥

साधु चेदमुच्यते—

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा ?
दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ? ।
कं श्रीर्न दर्पयति ? कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परिपीडयन्ति ? ॥ २३० ॥

लुब्धस्य नश्यति यशः, पिशुनस्य मैत्री,
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्या बलं व्यसनिनः, कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ २३१ ॥

तद्राजन् ! 'असिधाराव्रतं मयाऽऽचरितमरिसंसर्गा'दिति यद्भवतोक्तं, तन्मया साक्षादेवानुभूतम् । उक्तञ्च—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २३२ ॥
स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
वहता कृष्णसर्पेण मण्डूका विनिपातिताः[3] ॥ २३३ ॥

अन्तर=छिद्रं । प्रमत्तेषु=असावधानेषु ॥ २२८ ॥ त्रिवर्गनिलयं=धर्मार्थकामसाधनम् । आत्मानं=शरीरम् । आदृतः=सावधानः सन् ॥ २२९ ॥ दर्पयति=गर्वशालिनं करोति । स्त्रीकृता=प्रमदाकृताः । 'स्त्रीकृते' इति लिखितपुस्तकपाठः ॥ २३० ॥

पिशुनस्य=सूचकस्य । नष्टक्रियस्य=आचारशून्यस्य। अलसस्य च । अर्थपरस्य=धनपरायणस्य । 'अर्थपरस्य भृत्या' इति लिखितपुस्तकपाठः ॥२३१॥ अभ्युद्धरेत्=साधयेत् । भ्रंशः=नाशः ॥ २३२ ॥ वहता=शत्रून् स्कन्धे आरोप्य

---

१ 'स्वीकृताः' । २ 'परितापयन्ति' पा० । ३ 'वहवो हताः' इति पा० ।

मेघवर्ण आह–'कथमेतत्' ?। स्थिरजीवी कथयति—

१५. मण्डूकमन्दविषसर्पकथा

अस्ति वरुणाद्रिसमीपे एकस्मिन्प्रदेशे परिणतवया मन्दविषो नाम कृष्णसर्पः। स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान्–'कथं नाम मया सुखोपायवृत्त्या वर्तितव्यम्' ? इति। ततो बहुमण्डूकं ह्रदमुपगम्याऽधृतिपरीतमिवात्मान दर्शितवान्। अथ तथा स्थिते तस्मिन्नुदकप्रान्तगतेनैकेन मण्डूकेन पृष्टः–'माम ! किमद्य यथा पूर्वमाहारार्थं न विहरसि ?।' सोऽब्रवीत्—'भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्याहाराभिलाषः ?। यत्कारणम्—अद्य रात्रौ प्रदोप एव मयाहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूकः, तद्ग्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः। सोऽपि मां दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्तानां ब्राह्मणानामन्तरपक्रान्तो न विभावितो मया क्वापि गत.। तत्सदृशमोहितचित्तेन मया कस्यचिद्ब्राह्मणस्य सूनोर्ह्रदतटजलान्तःस्थोऽङ्गुष्ठो दष्टः। ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः। अथ तस्य पित्रा दुःखितेनाहं शप्तो यथा,—"दुरात्मन् ! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्टः,—तदनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसादलब्धजीविकया च वर्तिष्यसे"-इति। ततोऽहं युष्माक वाहनार्थमागतोऽस्मि।'

तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितम्, ततस्ते प्रहृष्टमनोभि'

गच्छतापि ॥२३३॥ वरुणाद्रिः–पर्वतविशेष । [वरणाद्रि=चुनार ?] परिणतवया = वृद्ध । सुखोपायवृत्त्या=प्रयासरहितया जीविकया। अधृतिपरीतमिव=शोकाकुलित मिव। 'धृतिपरीत'मिति तु मुद्रित पाठ । उदकप्रान्तगतेन=जलसमीपप्रदेशस्थेन। माम=भो मातुल ! विहरसि=उद्योग करोषि । मन्दभाग्यस्य=मन्दप्रारब्धस्य । आहाराभिलाष =भोजनेच्छा। यत्कारणम् (इसमें यह कारण है कि–)। प्रदोषे= सायम्। क्रम =प्रहरणकालिक आसनवन्ध । स =मण्डूक । स्वाध्यायप्रसक्ताना= वेदाध्ययनसन्ध्योपासनादितत्पराणाम्। अन्त =मध्ये। विभावित =विज्ञात । तत्सदृशमोहितचित्तेन=मण्डूकसादृश्यभ्रान्तचित्तेन। सूनो =पुत्रस्य। ह्रद = अगाधजलं सर.। असौ=ब्राह्मणपुत्र । दुरात्मन्=दुष्ट !। तेषा=मण्डूकानाम्

सर्वैरेव गत्वा जालपादनाम्नो दर्दुराजस्य विज्ञप्तम्। अथासावपि मन्त्रिपरिवृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानः ससम्भ्रमं ह्रदादुत्तीर्य मन्दविषस्य फणिनः फणाप्रदेशमधिरूढः। शेषा अपि यथाज्येष्ठं तत्पृष्ठोपरि समारुरुहुः। किं बहुना–तदुपरि स्थानमप्राप्तवन्तस्तस्यानुपदं धावन्ति। मन्दविषोऽपि तेषां तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान्गतिविशेषानदर्शयत्। जालपादो लब्धतदङ्गसंस्पर्शसुखस्तमाह—

'न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा।
नरयानेन नावा वा यथा मन्दविषेण मे' ॥ २३४ ॥

अथान्येद्युर्मन्दविषश्छद्मना मन्दं-मन्दं विसर्पति। तच्च दृष्ट्वा जालपादोऽब्रवीत्,–'भद्र! मन्दविष! यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते'?। मन्दविषोऽब्रवीत्–'देव! अद्याहारवैकल्यान्न मे वोढुं शक्तिरस्ति।' अथाऽसावब्रवीत्–'भद्र! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान्।'

तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविषः ससम्भ्रममब्रवीत्–'ममायमेव विप्रशापोऽस्ति, तत्त्वाऽनेनानुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि।'

ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकान्भक्षयन्कतिपयैरेवाहोभिर्बलवान्संवृत्तः। प्रहृष्टश्चान्तर्लीनमवहस्येदमब्रवीत्—

'मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः।
कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादतो मम' ॥२३५॥

जालपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः

प्रसादेन–अनुग्रहेण। लब्धा या जिविका=आहारः,–तया। वर्तिष्यसे। इदं=सर्पशापकथानकम्। विज्ञप्तं=निवेदितम्। फणिनः=सर्पस्य। यथाज्येष्ठं=ज्येष्ठकनिष्ठक्रमेण। अनुपदं=पृष्ठतः। करिणा=हस्तिना। मन्दविषेण–अनेन सर्पेण ॥ २३४ ॥ छद्मना=कपटेन। विसर्पति=चलति। साधु=शोभनम्। उह्यते=प्राप्यते। आहारवैकल्यात्=भोजनविरहात्। अन्तर्लीनम्=अन्तर्निगूढम्। (मन ही मन)। छलपूर्वोपसाधिता=कपटेन स्ववशे कृताः। कियन्त=विपु-

---

१ 'जलपाद'इति पा०।

किमपि नावबुध्यते। अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पस्तमुद्देशं समायातः। तं च मण्डूकैर्वाह्यमानं दृष्ट्वा विस्मयमगमत्।

आह च–'वयस्य! यदस्माकमशनं तैः (कथं) वाह्यसे?। विरुद्धमेतत्।' मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरैः।
किञ्चित्कालं प्रतीक्षेऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥२३६॥

सोऽब्रवीत्–'कथमेतत्?'। मन्दविषः कथयति—

१६. घृतान्धब्राह्मणकथा[1]

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः। तस्य भार्या पुंश्चल्यन्यासक्तमना अजस्रं विटाय सखण्डघृतान्घृतपूरान्कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति। अथ कदाचिद्भर्ता दृष्ट्वाऽब्रवीत्–'भद्रे! किमेतत्परिपच्यते? कुत्र वाऽजस्रं नयसीदम्? कथय सत्यम्'। सा चोत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीत्–'अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनं, तत्राऽहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्चापूर्वान्नयामि।' अथ तस्य पश्यतो गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे। यत्कारण-देव्या निवेदितेनाऽनेन मदीयो भर्तैवं मंस्यते, यत्–'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयती'ति।

लम्। अक्षीणा=असमाप्ता। खादत=भक्षयत ॥२३५॥ कृतकवचनव्यामोहितचित्त=कपटवाक्यरचनाव्यामोहितमानसः। अवबुध्यते=जानाति। वयस्य=सखे! अशनं=भक्ष्यभूता। वाह्य=वाहनता गतोऽस्मि। पुंश्चली=कुलटा। अजस्रं=प्रत्यहं। विटाय=जाराय। सखण्डघृतान्=घृतशर्करायुतान्। घृतपूरान्=भक्ष्यभेदान्। ('घेवर')। उत्पन्नप्रतिभा=प्रत्युत्पन्नमति। कृतकवचनैः=मिथ्यावाक्यैः। आयतनं=मन्दिरम्। उपोषिता–कृतव्रता। बलिम्=उपहारम्। अपूर्वान्=नानाविधान्। तस्य=भर्तुः। यत्कारणं=देवमन्दिरं प्रतिगमनस्येदं कारणं

---

१ इयं कथाऽश्लीलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठ्याद्बहिर्भूता।

अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य यावत्स्नानक्रियां करोति, तावत्तद्भर्ताऽपि मार्गान्तरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्–'भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्ताऽन्धो भविष्यति ?'। तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद–'यदि त्वमजस्रं घृतपूरादि भक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि, ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ।

अथाऽन्येद्युर्ब्राह्मणेनाभिहितम्–'भद्रे ! नाहं सुतरां पश्यामि।' तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया–'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः'–इति।

अथ तस्या हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशम्–'अन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यती'ति निःशङ्कं प्रतिदिनमभ्येति।

अथाऽन्येद्युस्तं प्रविशन्तमभ्याशगतं दृष्ट्वा केशैर्गृहीत्वा लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैस्तावदताडयत्,–यावदसौ पञ्चत्वमाप। तामपि दुष्टपत्नीं छिन्ननासिकां कृत्वा विससर्ज।

अतोऽहं ब्रवीमि–'सर्वमेतद्विजानामि–' इति।❀

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते–' इति तदेवाऽब्रवीत्। अथ जालपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यग्रहृदयः 'किमनेनाभिहितम्'–इति सम्यङ्नाऽवगम्य तम-

---

यत्। (क्योंकि इसलिए कि–)। अनुलेपनम्=अङ्गरागादिकं। माल्यं=माला। क्रिया=निवेदनं। व्यजिज्ञपत्=प्रार्थयामास, पप्रच्छेति वा। तत्=स्वभार्यावच। स्वरभेदेन=कण्ठध्वनि परावर्त्य। अजस्रं=नित्यं। घृतपूरो भक्ष्यभेद। ('घेवर' 'जलेबी')। बन्धकी=कुलटा। (बदमाश)। कृतकवचनवञ्चितमानसा=कपटवाक्यवञ्चितचित्ता। तदेव=घृतपूरादि। सुतरां=यथावत्। अनया=ब्राह्मण्या। हृदयवल्लभ=प्रियः। विटः=षिङ्ग। (यार)। अभ्याशगतं=निकटस्थितं। पार्ष्णि=पादप्रान्तभागः (एडी)। आकारप्रच्छादनार्थं=मनोभावगोपनार्थम्। दुष्ट

पृच्छत्-'भद्र ! किं त्वयाऽभिहितमिदं विरुद्धं वचः ?। अथाऽसा-वाकारप्रच्छादनार्थं 'न किञ्चित्'—इत्यब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जालपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धिं नावबुध्यते। किं बहुना-तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता यथा बीजमात्रमपि नावशिष्टम्। अतोऽहं ब्रवीमि-'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्'-इति।*

अथ राजन् ! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहताः, तथा मयापि सर्वेऽपि वैरिण इति। साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति।
समूलोन्मूलनं कुर्याद्वार्यौघो मृदुशीतलः ॥ २३७ ॥

मेघवर्ण आह-'तात ! सत्यमेवैतत्; ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न विसर्जयन्ति।

उक्तञ्च यतः—

महत्त्वमेतन्महतां नयाऽलङ्कारधारिणाम्।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २३८ ॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ २३९ ॥

तत्कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून्निःशेषतां नयता त्वया। अथवा युक्तमेतन्नयवेदिनाम्। उक्तञ्च यतः—

भिसन्धिं=दुष्टमनोभावम्। पाठान्तरे-वार्यौघः=जलप्रवाहः। वह्निस्तु मूलं न दहति, परं जलपूरस्तु समूलमुन्मूलयति। 'वायु'रिति मुद्रित पाठस्तु न सुन्दरः ॥२३७॥ महासत्त्वाः=महौजसः। नीतिरेवालङ्कारस्तद्धारणशीलानाः। व्यसनोदये=विपत्तिसमागमे ॥ २३८ ॥ ये विरमन्ति ते मध्या इत्यर्थः। 'प्रारभ्य

---

१ 'समूलकाप कषति वायोघो मृदुशीतल' इति लिखितपुस्तकपाठोऽतीव हृद्य इति गौडाः।

२. 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः' 'प्रारभ्य चोत्तमजनाः' इति क्वचित्पाठः।

ऋणशेषं चाऽग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
व्याधिशेषञ्च निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥२४०॥

सोऽब्रवीत्-'देव ! भाग्यवांस्त्वमेवासि, यस्याऽऽरब्धं सर्वमेव संसिध्यति। तन्न केवलं शौर्यं कृत्यं साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत्क्रियते तदेव विजयाय भवति। उक्तञ्च यतः—

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति
प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं
प्रज्ञा कुलञ्च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥ २४१ ॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्याऽयत्नेन कार्यसिद्धयः सम्भवन्ति। उक्तञ्च—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे, दृढीभवति स्मृतिः,
स्वयमुपनमन्त्यर्था, मन्त्रो न गच्छति विप्लवम्।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्तं समुन्नतिमश्नुते
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥२४२॥

तथा च नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति। उक्तञ्च—

त्यागिनि शूरे विदुषि च संसर्गरुचिर्जनो गुणी भवति।
गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥२४३॥

चोत्तमजना ने'ति क्वचित्पाठः ॥ २३९ ॥ सीदति=दुःखमनुभवति ॥ २४० ॥ प्रज्ञया=बुद्ध्या। प्रज्ञाहताः=नीतिप्रयोगनाशिताः। प्रज्ञा=परिकृता बुद्धिः ॥२४१॥

पुरुषकारः=पराक्रमः। अयत्नेन=अनायासेन। प्रसरति=त्वरितं चलति। अर्थाः=मनोरथाः। उपनमन्ति=फलन्ति। सिध्यन्ति च। मन्त्रः=मन्त्रितम्। विप्लवं=प्रकाशम्। तर्कः=ऊहः। समुन्नतिम्=औन्नत्यम्। अश्नुते=व्याप्नोति। रतिः=अनुरागः। भविष्यतः=शुभोदर्कस्य (जिसकी आगे उन्नति होने वाली होती है उसकी) ॥ २४२ ॥

नयः=सुमन्त्रः, नीतिश्च। संसर्गरुचिः=सङ्गतिपरः। धनं-भवतीतिशेषः।

---

१. 'पुनः पुनः प्रवर्त्तेन तस्माच्छेषं न कारयेदिति लिखिते पुस्तके पाठः।

मेघवर्ण आह-'नूनं सद्यः फलानि नीतिशास्त्राणि, यत्त्वया ऽऽनुकूल्येनानुप्रविश्याऽरिमर्दनः[1] सपरिजनो निःशेषितः।

स्थिरंजीव्याह[2]—

तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थस्तस्याप्यादौ संश्रयः साधु युक्तः।
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां नाऽनभ्यर्च्य च्छिद्यते पादपेन्द्रः।२४४।

अथवा स्वामिन्! किं तेनाऽभिहितेन यत्-अनन्तरकाले क्रियारहितमसुखसाध्यं वा भवति?। साधु चेदमुच्यते—

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः।
फलैर्विसंवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् २४५

न च लघुष्वपि कर्तव्येषु धीमद्भिरनादरः कार्यः। यत्—

शक्ष्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्यमत्रादरः क इति कृत्यमुपेक्षमाणा।
केचित्प्रमत्तमनसः परितापदुःखमापत्प्रसङ्गसुलभं पुरुषाः प्रयान्ति॥

श्री =सम्पत्ति । आज्ञा=अनुशासनम् । 'ऊर्वी' ति गौडा. पठन्ति । राज्य-विपुलभूमिलाभ ॥ २४३ ॥ आनुकूल्येन=तत्पक्षप्रवेशेन । तीक्ष्णोपाय =वधताडनदण्डादि·।अर्थ =प्रयोजनम्। तस्य=तत्सिद्धये। आदौ-पूर्वम्। संश्रय.=आश्रयणम्। सम्प्रयुक्त =शोभन । उत्तुङ्गाग्र·=विशाल., प्रोन्नतशिखर. । वनस्य सारभूत = श्रेष्ठतम । पादपेन्द्र =महावृक्षोऽपि । अनभ्यर्च्य=अपूजयित्वा । न च्छिद्यते=न खण्ड्यते । किन्तु पूजा कृत्वैव च्छिद्यते तक्षकादिभिरित्यर्थः ॥ २४४ ॥ अभिहितेन=उक्तेन । अनन्तरकाले=साधनावसरे । क्रियारहितं=साधनरहितम् । असुखसाध्य=दु खसाध्यम् । अनिश्चितै.=निश्चयरहितैः । अध्यवसायभीरुभि = उद्योगकातरै.। विसंवादं=विपरीतताम् । गिर =मन्त्रा , वाक्यानि वा । परिहासवस्तुता=परिहास्यताम् । 'परिहास्ये' ति क्वचित्पाठ ॥ २४५ ॥

आपत्प्रसङ्गसुलभम्=विपत्तिसमागमसुलभम् ॥ २४६ ॥

---

१. 'ऊलूकराजोऽपमर्द' इति पाठा० । २ चिरजीवि'ति पाठा० ।

३ 'सम्प्रयुक्त।'उद्वीक्ष्याग्रे लक्ष्यभूतो वनानां नानभ्यर्च्य च्छिद्यते'इति पाठो लिखिते पुस्तके ।

तदद्य जितारेर्मद्विभोर्यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति ।

उच्यते चैतत्—

निःसर्पे हतसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम् ।
दृष्टनष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २४७ ॥

तथाच—

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्निग्धोपयुक्ताशिषां
कार्याणां नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्गताः
सामर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथं निर्वृतिः ॥२४८॥

तदवसितकार्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदिदमधुना निहतकण्टकं राज्यं प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रादिक्रमेणाऽचलच्छत्रासनश्रीश्चिरं भुङ्क्ष्व ।

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणैः ।

मद्विभोः=अस्मदीयस्य महाराजस्य भवतः । 'हतसर्पे' इत्यत्र 'बद्धसर्पे' इति मुद्रित' पाठ. । सुखमिति क्रियाविशेषणम् । दृष्टनष्टे=पूर्वं दृष्टे पश्चात्पलायिते तु निद्रां न लभते नरः । 'सदा दृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते' इति तु मुद्रितः पाठः ॥ २४७ ॥

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यानामत एव महता=श्रेष्ठानाम् । स्निग्धै=गुरुजनैः । प्रयुक्ता 'विजयस्व' 'राज्यं लभस्वे' त्यादय आशिषो येपा तेपाम् । किञ्च—नयसाहसोन्नतिमता=मन्त्रसाहसौन्नत्यसाध्यानाम् । इच्छापदारोहिणाम्=मनोरथविषयीभूताना—कार्याणां-राज्यविजयादीना मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिन =मानोन्नतिपराक्रमैकप्रवणा मनस्विनः । यावत्पारं=सिद्धि न गतास्तावत्–हृदये=चित्ते सामर्षे=कार्यचिन्ताव्यग्रे–अवकाशविषया=अवकाशसमयोचिता, निर्वृति =शान्तिः, कथं ? । न कथमपि भवतीत्यर्थः । 'विस्तीर्णव्यवसायसारमहताम्' इति सुन्दर पाठ. ॥ २४८ ॥

अवसितकार्यारम्भस्य=सफलोद्योगस्य । निहतकण्टकं=शान्तोपद्रवम् । अचलं

---

1 अचलच्छत्रासनश्रीस्त्वं राज्य भुङ्क्ष्वेत्यन्वयः ।

अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २४९ ॥
गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।
चिरं स भुङ्क्ते चलचामरांशुकां सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥२५०॥

न च त्वया 'प्राप्तराज्योऽह' मिति मत्वा श्रीमदेनाऽऽत्मा व्यंसयितव्यः । यत्कारणं–चला हि राज्ञो विभूतयः । वंशारोहणवद्राज्यलक्ष्मीर्दुरारोहा, क्षणविनिपाता । पारदरसवत्–प्रयत्नशतैरपि धार्यमाणा दुर्धरा । प्रशस्ताऽऽराधिताप्यन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता । पद्मपत्रोदकमिवाऽघटितसंश्लेषा । पवनगतिरिवाऽतिचपला । अनार्यसङ्गतमिवाऽस्थिरा । आशीविष इव दुरुपचारा । सन्ध्याऽभ्रलेखेव मूहूर्तरागा । जलबुद्बुदावलीव स्वभावभङ्गुरा । शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना । स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा ।

अपिच—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाऽम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥२५१॥

छत्रमासनं श्रीश्च यस्यासौ तथाभूत । रञ्जयेत्=प्रसादयेत् । गुणैः=स्वात्मस्थरक्षकत्वादिभिर्गुणै । अजागलस्तनस्येव=छागीगलस्थितस्तनाकारमासग्रन्थेरिव ॥ २४९ ॥

चल चामरमेवांशुकं=वसनं यस्या ताम् । सितमातपत्रमेवाभरणं यस्या सा ताम् । नृपश्रियं=राजलक्ष्मीम् ॥२५ ॥ श्रीमदेन=राज्यगर्वेण । व्यंसयितव्य:=वञ्चनीय । (धोखे मे गिराना चाहिए) । विभूतय =सम्पद. । वंशस्याग्रभाग इव दु खेनारोढुं लब्धुं च शक्यते, क्षणेन पातयति च । पारदरस =पारद । धार्यमाणा=स्थाप्यमाना । विप्रलम्भिनी=वञ्चयित्वा गमनशीला । विद्रुतम्=इतस्ततो भ्राम्यत् । अनेकं=नानाप्रकार चित्तं यस्या सा=अतिचञ्चला । अघटितसंश्लेषा=सम्पर्कशून्या । दुरुपचारा=अनाराध्या, दुश्चिकित्स्या च । मुहूर्त्तरागा=क्षणमात्रविनाशिरागा । व्यसनेषु=विपत्प्रतीकारे । घटा.=अभिषेकजलपूर्णाः कलशा. । अम्भसा=अभिषेकजलेन—सहैव । उद्गिरन्ति=वर्षन्ति । राज्यारोहणसमयादेवापदागमो भवतीत्याशय ॥ २५१ ॥

रामस्य व्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनं
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।
नाट्याचार्यकमर्जुनस्य पतनं सञ्चिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते कः कं परित्रायते ? ॥२५२॥

क स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद्गतः ?
क स जलनिधेर्वेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा ? ।
क स करतलाज्जातो वैन्यः ? क सूर्यतनुर्मनु-
र्ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिताः ॥२५३॥

मान्धाता क गतस्त्रिलोकविजयी राजा क सत्यव्रतो ?
देवानां नृपतिर्गतः क नहुषः ? स्वच्छास्त्रवित्केशवः ।
मन्ये ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः
कालेनैव महात्मना ननु कृताः, कालेन निर्वासिताः ॥२५४॥

अपि च–

स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥२५५॥

अनधिगमनीयः=अविषयः । व्रजनं=वनगमनम् । नियमनं=बन्धनं । वनं=वनगमनम् । वृष्णीना=यादवानाम् । निधन=मरणम् । नाट्याचार्यकम्= नाट्याचार्यत्वं-बृहन्नलारूपेण विराटनगरेऽर्जुनस्य प्रसिद्धमेव । पतनं=विनाशम् । लङ्केश्वरे रावणे, रावणस्येति यावत् । परित्रायते=रक्षति ? । न कोपीत्यर्थ ॥

क्वेति । महेन्द्रस्य—सुहृद्भूत्वा=मित्रपदवीमासाद्य–क गतः ? वेला= मर्यादा । क तथा=क गत । प्रबोध्य=विकास्य । निमीलिता=सङ्कोचिता, नाशिताः ॥ २५३ ॥

सत्यव्रतः=भीष्म । देवानामपि राजा=महेन्द्रो भूत्वा–नहुष क गत ? । केशव.=श्रीकृष्ण. । सकुञ्जरवराः=अनेककोटिगजपरिवाराः । शक्रासनाध्यासिन.= इन्द्रसिंहासनार्धभागाध्यासनशीलाः । हन्त ? कालेनैव कृता, कालेनैव च नाशिता ॥ २५४ ॥ सः=जगद्विदित., अस्माभिरनुभूतचर । एवमग्रे तच्छब्दः सर्वत्र पूर्वानुभूतप्रक्रान्तपरामर्शक । पूर्वोपात्तानां राजादीनाञ्च क्रमश 'स चे'– त्यादिना ग्रहणम् । कृतान्तदृष्टानि=कालावलीढानि ॥ २५५ ॥

---

१ 'निर्वापिताः' ।

एवं मत्तकरिकर्णचञ्चलां राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्यायैकनिष्ठो भूत्वोपभुङ्क्ष्व ॥

❀ इति पञ्चतन्त्रे काकोलूकीयम् ❀

मत्त.=उन्मत्तो य. करी–गजस्तस्य कर्ण इव चञ्चलाम्=अतिचञ्चलाम् । न्यायैकनिष्ठ =न्यायपरायण. ।

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य––षट्शास्त्रवाचस्पति––मरुमण्डलमार्त्तण्ड––
श्री १०८ श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणा पौत्रेण, 'प्रतिवादिभयङ्करभयङ्कर'
विद्यावाचस्पति–न्यायशास्त्राचार्य–श्रीशिवनारायण–
शास्त्रिणां पुत्रेण, श्रीराजलक्ष्मीगर्भसम्भूतेन श्री-
गुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायाम्पञ्चतन्त्रा-
भिनवराजलक्ष्म्यां काकोलूकीयं
नाम तृतीय तन्त्रम् ।*

अथ लब्धप्रणाशम्

अथेदमारभ्यते लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रम् । यस्यायमादिमः श्लोकः—

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते ।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति कस्मिंश्चित्समुद्रोपकण्ठे महाञ्जम्बूपादपः सदाफलः । तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म । तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित्करालमुखो नाम मकरः समुद्रसलिलान्निष्क्रम्य सुकोमलवालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत । ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्तः—'भोः ! भवान्समभ्यागतोऽतिथिः, तद्भक्षयतु मया दत्तान्यमृततुल्यानि जम्बूफलानि ।

उक्तञ्च—प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ २ ॥

** श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः **

लब्धस्य प्रणाशः—लब्धप्रणाशो यस्मिन् तन्त्रे तत्—लब्धप्रणाशम् । कार्येषु समुत्पन्नेषु=अवसरे समागते । विपत्तिकाले इति यावत् । यस्य=पुंसः । हीयते=कुण्ठिता न भवति, न विषीदति । दुर्गं=विपदम्, दुःखादिकं—दुर्गमम् ॥ १ ॥

अनुश्रूयते=परम्परया श्रूयते । समुद्रोपकण्ठे=सागरसमीपे । सदाफलः=सर्वर्त्तुफलप्रदः । मकरः=ग्राहः । ('मगरमच्छ') । सलिलं=जलम् । निष्क्रम्य=बहिरागत्य । (निकलकर) । सुकोमलाभिः=मृदुभिः । वालुकाभिः=सिकताभिः । सनाथे=समलङ्कृते । तीरोपान्ते=तटसमीपदेशे । न्यविशत=अतिष्ठत् । समभ्यागतः=आयातः । जम्बूफलानि=जम्बूः । ('जामुन') । द्वेष्यः=अप्रियः ।

---

१ 'लब्धमर्थन्तु यो मोहात्सान्त्वनैः प्रतिमुञ्चति ।
स तथा वञ्च्यते मूढो मकरः कपिना यथा ॥' इति ॥ पाठा० ।

न पृच्छेच्चरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च ।
अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥३॥
दूरा[१]यातं पथिश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम् ।
अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥
अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहाद्याति विनिःश्वसन् ।
गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवता.' ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ । सोऽपि तानि भक्षयित्वा तेन सह चिरं गोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनमगात् । एवं नित्यमेव तौ वानरमकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठ्या कालं नयन्तौ सुखेन तिष्ठतः । सोऽपि मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृहं गत्वा स्वपत्न्याः प्रयच्छति । अथाऽन्यस्मिन् दिवसे तया स पृष्टः—'नाथ ! क्वैवं विधान्यमृतफलानि प्राप्नोपि ? ।

स आह—'भद्रे ! ममास्ति परमसुहृद्रक्तमुखो नाम वानरः, स प्रीतिपूर्वमिमानि फलानि प्रयच्छति । अथ तयाऽभिहितम्—'यः सदैवामृतप्रायाणीदृशानि फलानि भक्षयति तस्य हृदयममृतमयं भविष्यति । तद्यदि मया भार्यया ते प्रयोजन ततस्तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ—येन तद्भक्षयित्वा जरामरणरहिता त्वया सह भोगान्भुनज्मि ।'

स आह—'भद्रे ! मा मैवं वद । यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता । अपर फलदाता । ततो व्यापादयितुं न शक्यते ।

वैश्वदेवान्ते=बलिवैश्वदेवकर्मान्ते, भोजनावसरे । आपन्न =प्राप्त । स्वर्गसङ्क्रम = स्वर्गसञ्चरणमार्ग । ('घाटी' 'रास्ता') । 'सङ्क्रमो दुर्गसञ्चर' इत्यमर । चरण= शाखाम् । गोत्रं=गोत्रप्रवर्त्तकान् ऋषीन् ॥ ३ ॥

गोष्ठीसुखं=कथालापगोष्ठीसुखम् । विविधशास्त्रचर्चाकथाभि' । तया=स्वपत्न्या । प्रयच्छति=ददाति । अमृतमयम्=अमृतास्वादमधुरं, पीयूपनिमित वा । तस्य=वानरस्य । भोगान्=सुखं । भुनज्मि=अनुभवामि । प्रतिपन्न =

१ 'दूरमार्गश्रमश्रान्त'मिति मुद्रितपुस्तकेपु पाठ ।

तस्यजैनं मिथ्याऽऽग्रहम् । उक्तञ्च—

एका प्रसूयते[1] माता द्वितीया वाक्प्रसूयते ।
वाग्जातमधिकं प्रोचुः सोदर्यादपि बान्धवात्' ॥६॥

अथ मकर्याह—'त्वया कदाचिदपि मम वचनं नान्यथा कृतं, तन्नूनं सा वानरी भविष्यति, यतस्तदनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि । तत्—त्वं ज्ञातो मया सम्यक् ।

यतः—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे, नो वाञ्छितं किञ्चन,
प्रायः प्रोच्छ्वसिपि द्रुतं हुतवहज्वालासमं रात्रिषु ।
कण्ठाश्लेपपरिग्रहे शिथिलता यन्नादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त ! हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममेवापरा' ॥७॥

सोऽपि पत्न्याः पादोपसङ्ग्रहं कृत्वाऽङ्कोपरि निधाय तस्याः कोपकोटिमापन्नायाः सुदीनमुवाच—

मयि ते पादपतिते किङ्करत्वमुपागते ।
त्वं प्राणवल्लभे ! कस्मात्कोपने ! कोपमेष्यसि' ? ॥ ८ ॥

सापि तद्वचनमाकर्ण्याश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

स्वीकृतः । ('धर्मभाई') । मिथ्या=व्यर्थम् । आग्रहं=हठम् । पाठान्तरे-एकं-भ्रातरम् । प्रसूयते=जनयति । द्वितीयं=प्रतिपन्नं भ्रातरम् । वाक्=वाणी । वाग्जातं=प्रतिपन्नं भ्रातरं । ('धर्मभाई' 'मुहबोला भाई') । अन्यथाकृतम्=उल्लङ्घितम् । तया=वानर्या सह । 'तदनुरागत' इति तु सुन्दरः पाठः । गमयसि=अतिवाहयसि । साह्लादं=सहर्षं । वचनम्=उत्तरम् । हुतवहज्वालासमं=वह्निज्वालातुल्यमत्युष्णम् । कण्ठाश्लेषपरिग्रहे=कण्ठालिङ्गनस्वीकारे । 'परिग्रह. कलत्रे च मूलस्वीकारयोरपी'ति अजयकोशः । धूर्त=शठ । अपरा=अन्या ॥ ७ ॥

पादोपसङ्ग्रहं=चरणवन्दनम्, अङ्कपालिबन्धनं वा । अङ्कोपरि=उत्सङ्गोपरि । ('गोद मे') । कोपकोटिं=क्रोधप्रकर्षम् । आपन्नाया =प्राप्तायाः । 'सुदीन'मिति क्रियाविशेषणम् । किङ्करत्वं=भृत्यत्वम् । कोपने=हे कोपशीले ॥ ८ ॥ अश्रुभिः

१ 'एक'मिति'द्वितीय'मिति पा० ।

सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या।
अस्माकमस्ति न कथंचिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

अपरं-सा यदि तव वल्लभा न भवति, तत्किं मया भणितोऽपि तां न व्यापादयसि ?'। अथ यदि स वानरस्तत्कलत्रेण सह तव स्नेहः ?। तत्किं बहुना-,यदि तस्य हृदयं न भक्षयामि तर्हि मया प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि।'

एवं तस्यास्तं निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदयः स प्रोवाच,-'अहो ! साध्विदमुच्यते—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा ॥ १० ॥

तत्किं करोमि ? कथं स मे वध्यो भवति ?' । इति विचिन्त्य वानरपार्श्वमगमत्। वानरोऽपि चिरादायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच-'भो मित्र ! किमद्य चिरवेलया समायातोऽसि ? कस्मात्साह्लादं नालपसि ? । न च सुभाषितानि पठसि ?।

स आह-'मित्र ! अहं तव भ्रातृजायया निष्ठुरतरैर्वाक्यैरभिहितः-यत्-'भोः कृतघ्न ! मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय, यतस्त्वं प्रतिदिनं मित्रमुपजीवसि, न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शन-

---

धूर्तं=व्याप्तं मुखं यस्य सा=अश्रुधौतवदना। मनोरथशतैः सार्धम्=अभिलाषपरम्पराभिः सह। कृत्रिमभावरम्या=लीलाविलासरमणीया। सैव=अन्या ते प्रिया हृदि स्थितेति अनेकजनसंकीर्णे तत्रास्माकमवकाश एव नास्तीति-अलं पादपतनाडम्बरैरित्यर्थः। अनेकजनपूर्णे स्थानेऽन्यस्यावकाशो नैव भवतीति लोकप्रसिद्धमेव ॥ ९ ॥

भणिते=कथितेऽपि। वानर इत्यस्य-'न वानरी'ति शेषः। प्रायोपवेशनम्=आहारत्यागपूर्वकं मरणपर्यन्तं स्थितिः। ('अनशन' 'धरना')। वज्रलेपः=शिल्पिरचितसन्धानलेपद्रव्यविशेषः। एको ग्रहः=एक एव निश्चयः, ग्रहणञ्च ॥ १० ॥ सः=वानरः। सोद्वेगं=व्याकुलम्। चिरवेलया=बहोः कालात्। भ्रातृ-

मात्रेणापि करोषि ! । तत्ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तञ्च—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥११॥

तत्त्वं मम देवरं गृहीत्वाऽद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानय । नो चेत्त्वया सह मे परलोके दर्शनम्-'इति । तदहं तयैवं प्रोक्तस्तव सकाशमागतः । तदद्य तया सह त्वदर्थं कलहायमानस्य ममेयती वेला विलग्ना । तदागच्छ मे गृहं,-तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणिमाणिक्याद्युचिताभरणाद्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति ।' मर्कट आह-'भो मित्र ! युक्तमभिहितं मद्भ्रातृपत्न्या । उक्तञ्च—

वर्जयेत्कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः ।
आत्मनः संमुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः ॥१२॥

तथा च—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥१३॥

परं वयं वनचराः, युष्मदीयं च जलान्ते गृहं, तत्कथं शक्यते तत्र गन्तुम् ? । तस्मात्तामपि मे भ्रातृपत्नीमत्रानय-येन प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि' । स आह-'भो मित्र ! अस्ति

जायया=मत्पत्न्या । ('भौजाई')। भग्नव्रते=त्यक्तनियमे। शठे=खले। निष्कृति=प्रायश्चित्तं। देवरं=पतिलघुभ्रातरं वानरं । परलोके दर्शनं=मरिष्याम्यथैवाहम् । कलहं कुर्वत.=कलहायमानस्य। इयती=एतावती। वेला=समय। रचितचतुष्का=विरचितगृहप्राङ्गणरेखामण्डला । ('मङ्गल चौक पूर कर') । प्रगुणितानि=सज्जीकृतानि-धारितानि च वस्त्रमणिमाणिक्यादीनामुचितानि=योग्यानि, आभरणानि यया सा तथा=मणिमाणिक्यवस्त्रादियोग्यभूषणभूषितदेहा। अन्यथाऽस्य व्याख्यानन्तु नामनुरूपमेवेति गौडाः । द्वारदेशे बद्धा वन्दनमाला यया सा तथा=पुष्पपल्लवाद्यलङ्कृततोरणप्रदेशा। सोत्कण्ठा=उत्कण्ठाकुलिता। कौलिकः=तन्तुवाय । स हि पटनिर्माणसमये पट निध्यमानं शनैः शनैराकर्षति । मित्रपक्षे च=धनादिक-

समुद्रान्तरे सुरम्ये पुलिनप्रदेशेऽस्मद्गृहं, तन्मम पृष्ठमारूढः सुखेनाऽकुतोभयो गच्छ।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह–'भद्र ! यद्येवं तत्किं विलम्ब्यते ? । त्वर्यताम्, एषोऽहं तव पृष्ठमारूढः। तथानुष्ठितेऽगाधे जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच—'भ्रातः ! शनैः-शनैर्गम्यतां, जलकल्लोलैः प्लाव्यते मे शरीरम्।'

तदाकर्ण्य मकरश्चिन्तयामास–'असावगाधं जलं प्राप्तो मे वशः सञ्जातः, मत्पृष्ठगतस्तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति, तस्मात्कथयाम्यस्य निजाभिप्रायं, येनाभीष्टदेवतास्मरणं करोति।'

आह च–'मित्र ! त्वं मया वधाय समानीतो भार्यावाक्येन विश्वास्य। तत्स्मर्यतामभीष्टदेवता।' स आह–भ्रातः ! किं मया तस्यास्तवापि चाऽपकृतं येन मे वधोपायश्चिन्तितः ?।

मकर आह–'भोः ! तस्यास्तावत्तव हृदयस्याऽमृतमयफल-रसास्वादनमिष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः। तेनैतदनुष्ठितम्।

प्रत्युत्पन्नमतिर्वानर आह—'भद्र ! यद्येवं-तत्किं त्वया मम तत्रैव न व्याहृतं ? येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदैव मया यत्सु-गुप्तं कृतं तद्भ्रातृपत्न्या अर्पयामि। त्वयाहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मा-दानीतः ?'।

तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह–'भद्र ! यद्येवं तदर्पय मे हृदयं,

मादातुं नित्यमिच्छतीत्यर्थः ॥१२॥ पुलिनप्रदेशे=जलनिस्सृतभूभागे, (दियरा)। अकुतोभयः=निर्भयः। तथानुष्ठिते=पृष्ठमारूढे। अगाधे=अतलस्पर्शे ('गहरा')। भयत्रस्तमनाः=भयव्याकुलचित्तः। असौ=वानरः। वशः=अधीनः। तस्याः= त्वत्पत्न्याः। अपकृतम्=अपराधः कृतः। अमृतमयानां फलानामास्वादनेन=भक्ष-णेन। मिष्टं=मधुरम्। अत्र 'मृष्ट' मिति पाठस्तु न शोभनः (मृष्टं=शुद्धं, चिक्कणं वा)। दोहदः=अभिलाषः। तेन=तस्मात्। एतत्=तद्वधोपायचिन्तनम्। प्रत्यु-त्पन्ना=द्रागुत्पन्ना, मतिः–कर्त्तव्यबुद्धिर्यस्यासौ तथा। 'भ्रातृपत्न्यै' इति च्छेदः।

---

१. 'अकृतभय' इति प्रचलितः पाठः।

२ 'मृष्ट' इति पाठान्तरम्।

येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वाऽनशनादुत्तिष्ठति । अहं त्वां तमेव जम्बूपादपं प्रापयामि ।' एवमुक्त्वा निवर्त्य जम्बूतलमगात् ।

वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपूजस्तीरमासादितवान् । ततश्च दीर्घतरचङ्क्रमणेन तमेव जम्बूपादपमारूढश्चिन्तयामास—'अहो ! लब्धास्तावत्प्राणाः ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

तन्ममैतदद्य पुनर्जन्मदिनमिव सञ्जातम् ।' इति चिन्तयमानं मकर आह—'भो मित्र ! अर्पय तद्धृदयं यथा ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वाऽनशनादुत्तिष्ठति ।'

अथ विहस्य निर्भर्त्सयन्वानरस्तमाह—'धिग्धिङ् मूर्ख ! विश्वासघातक ! किं कस्यचित् हृदयद्वयं भवति ? । तदाशु गम्यतां । जम्बूवृक्षस्याधस्तान्न भूयोऽपि त्वयात्रागन्तव्यम् ।

उक्तञ्च यतः—

सकृद्दुष्टं च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा मकरः सविलक्षं चिन्तितवान्-'अहो ! मयाऽतिमूढेन किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः ? । तद्यद्यसौ पुनरपि कथञ्चिद्विश्वासं गच्छति, तद्भूयोपि विश्वासयामि । आह च—"मित्र ! हास्येन मया तेऽभिप्रायो लब्धः, तस्या न किञ्चित्तव

सम्बन्धसामान्ये वा षष्ठी । शून्यहृदयः=हृदयविकलः । जल्पिता-विविधदेवतानामुपचारैः=नानोपकरणैः पूजा येनासौ तथा । पाठान्तरे तु जल्पितं=सङ्कल्पितं, उपयाचितशतं=नानाविधबलिविशेषो येनासौ तथा । (उपयाचित='भोग' 'सिरणी' 'प्रसाद') । चङ्क्रमणं=चलनं ('लम्बे २ डग भरना') । अधस्तात्=अधस्तले ।

सकृत्=एकवारम् । दुष्टं=विकारं प्राप्तम् । सविलक्षं=सलज्जम् । लब्ध.=

---

१. 'देवतोपयाचितशतः' इति लिखितपुस्तकपाठः । २. 'मूलान्यपी'ति मुद्रितपाठः ।

हृदयेन प्रयोजनं, तदागच्छ प्राघुणिकन्यायेनास्मद्गृहं, तव भ्रातृपत्नी सोत्कण्ठा वर्तते।' वानर आह–'भो दुष्ट! गम्यताम्, अधुना नाहमागमिष्यामि। उक्तञ्च—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे! प्रियदर्शनस्य, 'न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्' ॥१६॥

मकर आह–'कथमेतत्'?। स आह—

१. गङ्गदत्तप्रियदर्शनसर्पकथा

कस्मिंश्चित्कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म। स कदाचिद्दायादैरुद्वेजितोऽरघट्टघटीमालामारुह्य निष्क्रान्तः। अथ तेन चिन्तितम्—'यत्कथं तेषां दायादानां मया प्रत्यपकारः कर्तव्यः?। उक्तञ्च—

आपदि येनाऽपकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये' ॥१७॥

एवं चिन्तयन्बिले प्रविशन्तं प्रियदर्शनाभिधं कृष्णसर्पमपश्यत्। तं दृष्ट्वा भूयोऽप्यचिन्तयत्–'यदेनं तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानामुच्छेदं करोमि। उक्तञ्च—

शत्रुणा योजयेच्छत्रुं बलिना बलवत्तरम्।
स्वकार्याय यतो न स्यात्काचित्पीडाऽत्र तत्क्षये ॥१८॥

तथा च—

शत्रुमुन्मूलयेत्प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा।

परीक्षित, ('मन देखा था')। प्राघुणिक=अतिथिः, ('पाहुना')। तस्य–न्यायेन=भावेन, परिपाट्या वा। प्रियदर्शनस्य=तन्नामकसर्पस्य। हे भद्रे=शोभने! आख्याहि=गत्वा कथय। गङ्गदत्तः–मण्डूकराज ॥ १६ ॥ दायादैः=बन्धुभि। ('दयाद' 'पट्टीदार')। 'दायादौ सुतबान्धवौ'–इत्यमरः। उद्वेजित.=पीडित। अरघट्ट=बहुघटयुत जलनिष्कासनयन्त्रभेद.। तत्र बद्धा या

---

१ 'अरहट'–कुएँ से पानी निकालने का यन्त्र जिसमें छोटी २ बाल्टी या घड़े बान्धे जाते हैं, और बैलों से चलाया जाता है।

व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनेव कण्टकम्' ॥ १९ ॥

एवं स विभाव्य बिलद्वारं गत्वा तमाहूतवान्-'एह्येहि प्रियदर्शन ! एहि ।' तच्छ्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास-'य एष मामाह्वयति स स्वजातीयो न भवति, यतो नैषा सर्पवाणी । अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति । तदत्रैव दुर्गे स्थितस्तावद्वेद्मि—कोऽयं भविष्यति ? । उक्तञ्च—

'यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।
न तेन सङ्गतिं कुर्या'दित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २० ॥

कदाचित्कोऽपि मन्त्रवाद्योषधिचतुरो वा मामाहूय बन्धने क्षिपति । अथवा कश्चित्पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्भक्षणार्थं मामाह्वयति ।' आह च—'भोः ! को भवान् ?'। स आह--'अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिस्त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमभ्यागतः ।

तच्छ्रुत्वा सर्प आह-'भोः ! अश्रद्धेयमेतद्यत्—तृणानां वह्निना सह सङ्गमः । उक्तञ्च—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन ।
न तत्समीपमभ्येति, तत्किमेवं प्रजल्पसि ! ॥ २१ ॥

गङ्गदत्त आह-'भोः ! सत्यमेतत् , स्वभाववैरी त्वमस्माकं, परं परपरिभवात्प्राप्तोऽहं ते सकाशम् । उक्तञ्च—

सर्वनाशे च सञ्जाते प्राणानामपि संशये ।
अतिशत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणान्धनानि च' ॥ २२ ॥

घटीनां माला=श्रेणी ताम् । स्वकार्याय=तत्साधनाय । तत्क्षये=शत्रुविनाशे । पीडा=कष्टम् । प्रयासः । सुखार्थाय=स्वसुखाय । (कण्टक=काँटा) ॥ १९ ॥

सन्धानं=परिचय', स्नेहो वा । दुर्गे=बिले । तावत्=प्रथमम् । संश्रयः=देशः । सङ्गति=मैत्रीं, कथां वा ॥२०॥ मन्त्रवादी=तान्त्रिकः । ओषधिचतुरः=रसायनवित् । 'औषधे'ति पाठान्तरम् । बन्धने = पेटकादौ । वैरमाश्रित्य=शत्रूणां वैरमनुस्मरन् । वध्यः=भक्ष्यः । एवं=मित्रताप्रार्थनावाक्यम् ॥२१॥

१ अपि शत्रुं प्रणम्योच्चै'रिति लिखितपुस्तकपाठ ।

सर्प आह—'कथय कस्मात्ते परिभवः ?' । स आह–'दायादेभ्यः ।' सोऽप्याह–'क्व ते आश्रयो-वाप्यां, कूपे, तडागे, ह्रदे वा ?। तत्कथय स्वाश्रयम् ।' तेनोक्तम्–'पाषाणचयनिबद्धे कूपे ।' सर्प आह–'अहो ! अपदा वयं, तन्नास्ति तत्र मे प्रवेशः, प्रविष्टस्य च स्थानं नास्ति, यत्र स्थितस्तव दायादान्व्यापादयामि । तद्गम्यताम् । उक्तञ्च—

यच्छक्यं ग्रसितुं पुंसा, ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता' ॥ २३ ॥

गङ्गदत्त आह—'भोः ! समागच्छ त्वम्, अहं सुखोपायेन तत्र तव प्रवेशं कारयिष्यामि । तथा–तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतरं कोटरमस्ति, तत्र स्थितस्त्वं लीलया दायादान्व्यापादयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा सर्पो व्यचिन्तयत्–'अहं तावत्परिणतवयाः कदाचित्कथञ्चिन्मूषकमेकं प्राप्नोमि, तत्सुखावहो जीवनोपायोऽयमनेन कुलाङ्गारेण मे दर्शितः, तद्गत्वा तान्मण्डूकान्भक्षयामि'–इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः ।
स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद्बुधः[2] ॥ २४ ॥

एवं विचिन्त्य तमाह–'भो गङ्गदत्त ! यद्येवं तदग्रे भव, येन

परेभ्यः=शत्रुभ्यः । परिभव =तिरस्कारः, तस्मात् । अतिशत्रुं=स्वभाववैरिणमपि ॥२२॥ आश्रय =निवास । पाषाणनिचयनिबद्धे=प्रस्तरराशिनिबद्धे । अपदा =चरणरहिता । वयं=सर्पाः । ग्रस्त=भुक्तं । परिणमेत्=पाकं प्राप्नुयात् ('पच सके') । परिणामे=परिपाकावस्थायाम् । आद्य=भक्षणीयम् ॥२३॥ जलोपान्ते=जलसमीपे । कोटरं=निष्कुट । ('खोह' 'खड्डा') । लीलया=अनायासेन । परिणतं वयो यस्यासौ-परिणतवयाः=वृद्धः । सुखावह =सुखप्रद । कुलेऽङ्गार इव–कुलाङ्गार =कुलनाशन । तेन=कुलकलङ्केन । प्राणपरिक्षीणः=क्षीणबलः । सर्वसुखोपायाम्=सुखकरोपायसाध्याम् । वृत्ति=जीविकाम् ॥ २४ ॥

---

१. 'तद्भक्ष्य'मिति पाठः । २. 'वृत्तिमारभते बुधः' ।

तत्र गच्छावः।' गङ्गदत्त आह—'भोः प्रियदर्शन! अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि, स्थानञ्च दर्शयिष्यामि। परं त्वयाऽस्मत्परिजनो रक्षणीयः, केवलं यानहं तव दर्शयिष्यामि त एव भक्षणीयाः'-इति। सर्प आह-'साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जात, तन्न भेतव्यं, तव वचनेन भक्षणीयास्ते दायादाः'। एवमुक्त्वा बिलान्निष्क्रम्य तमालिङ्ग्य च तेनैव सह प्रस्थितः।

अथ कूपमासाद्याऽरघट्टघटिकामार्गेण सर्पस्तेन[२] सह तस्यालयं गतः। ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे धृत्वा दर्शितास्ते दायादाः। ते च तेन शनैः शनैर्भक्षिताः।

अथ मण्डूकाऽभावे सर्पेणाभिहितम्,-भद्र! निःशेषितास्ते रिपवः, तत्प्रयच्छाऽन्यन्मे किञ्चिद्भोजनं, यतोऽहं त्वयाऽत्राऽऽनीतः।

गङ्गदत्त आह-'भद्र! कृतं त्वया मित्रकृत्यं, तत्साम्प्रतमनेनैव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्'—इति। सर्प आह-'भो गङ्गदत्त! न सम्यगभिहितं त्वया,—कथमहं तत्र गच्छामि?। मदीयबिलदुर्गमन्येन रुद्धं भविष्यति, तस्मादत्रस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयमपि प्रयच्छ, नो चेत्सर्वानपि भक्षयिष्यामि'इति।

तच्छ्रुत्वा गङ्गदत्तो व्यचिन्तयत्-'अहो! किमेतन्मया कृतं सर्पमानयता?। तद्यदि निषेधयिष्यामि तत्सर्वानपि भक्षयिष्यति। अथवा युक्तमुच्यते—

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याभ्यधिकमात्मनः।
स करोति न सन्देहः—स्वयं हि विषभक्षणम्॥ २५॥

तत्प्रयच्छाम्यस्यैकैकं प्रतिदिनं सुहृदम्।

परिजनः=बन्धुबान्धवानुचरादिसमूहः। साम्प्रतम्=इदानीम्। मित्रं=सुहृत्, 'मित्रत्वमुपागत' इति लिखितपुस्तकपाठ। रिपव=दायादाः। प्रयच्छ=देहि, तत्र=बिले। स्ववर्गीयं=स्वजनम्। य इति। आत्मनो वीर्यतोऽधिकममित्रं मित्रं

---

१. मित्रत्वमुपागतः पा०।

२. 'तेनात्मना सह स्वालयं नीतः' इत्यपि पाठः।

उक्तञ्च—

सर्वस्वहरणे शक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः।
तोषयन्त्यल्पदानेन वाडवं सागरो यथा ॥ २६ ॥

तथा च—

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो बलीयसा यच्छति नैव साम्ना।
प्रयच्छते नैव च कर्षमात्र खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ २७ ॥

तथा च—

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं, सर्वनाशो हि दुस्सहः ॥ २८ ॥
न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेव हि पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम्' ॥ २९ ॥

एवं निश्चित्य नित्यमेकैकं तमादिशति। सोऽपि तं भक्षयित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति। अथवा साध्विदमुच्यते—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति' ॥ ३० ॥

अथाऽन्यदिने तेनाऽपरान्मण्डूकान्भक्षयित्वा गद्गदस्वरो

कुरुते स विषभक्षणमिवात्मनाशाय कुरुते इत्यर्थः ॥२५॥ बुद्धियुताः=पण्डिताः। वाडवं=वडवानलम् ॥ २६ ॥ बलीयसा=बलिष्ठेन। शत्रुणा-साम्ना=सान्त्वनपूर्वकम्-याच्यमानः=प्रार्थ्यमानः। अणूनपि=स्तोकमपि-नैव यच्छति=ददाति। किञ्च कर्षमात्रम्=अक्षमात्रम्। 'चूर्ण'मिति शेषः। ('तोले भर' 'चुटकीभर')। यो न प्रयच्छति=ददाति। स पुनः-चूर्णस्य खारी=द्रोणचतुष्टयं(मणभर)।ददाति=दास्यति॥

स्वल्पात्=स्वल्पमुत्सृज्य दत्त्वा। भूरिरक्षणम्=विपुलस्य रक्षणम् ॥ २९ ॥

यथेति। मलिनवस्त्रो यथा-यत्र तत्र-स्थाने उपविशति, न स्वच्छता प्रतीक्षते, एवं चलितवित्तः=क्षीणधनः, अवशिष्टमपि द्रव्यं न रक्षति। वस्तुतस्तु-चलितवृत्त इति पाठः। चलितवृत्तः=किञ्चिद्भ्रष्टाचारः। वृत्तशेषम्=आचारशेषमपि न रक्षति। गणिकासक्तो मद्यं, मद्यासक्तो मांसं, तदासक्तश्चौर्यं, तदासक्तो द्यूतमित्यादिपापा-

१. 'युक्त'मिति पाठान्तरम्।-तत्र-युक्तः=लग्नम्।

२. 'तमदिशत्'दिति युक्तः पाठः। तं=परिजनम्। अदिशत्=ददौ। ३.'चलितवृत्तस्तु वृत्तशेष' मिति लिखितपुस्तकपाठो हृद्यः, प्रकृतोपयोगी च। ४. 'भक्षयता'इति पाठा०।

यमुनादत्तो भक्षितः। तं भक्षितं मत्वा गङ्गदत्तस्तारस्वरेण 'धिग्धिग्'इति प्रलापपरः कथञ्चिदपि न विरराम।

ततः स्वपत्न्याऽभिहितः—

'किं क्रन्दसि दुराक्रन्द ! स्वपक्षक्षयकारक !।
स्वपक्षस्य क्षये जाते को न[1]स्त्राता भविष्यति' ?॥३१॥

यद्यापि विचिन्त्यतामात्मनो निष्क्रमणम्, अस्य वधोपायं च। अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलितं मण्डूककुलम्। केवलमेको गङ्गदत्तस्तिष्ठति। ततः प्रियदर्शनेन भणितम्-'भो गङ्गदत्त ! बुभुक्षितोऽहं, निःशेषिताः सर्वे मण्डूकाः, तद्दीयतां मे किञ्चिद्भोजनं, यतोऽहं त्वयाऽत्राऽऽनीतः।' स आह-'भो मित्र ! न त्वयाऽत्र विषये मय्यवस्थिते कापि चिन्ता कार्या, तद्यदि मां प्रेषयसि, ततोऽन्यकूपस्थानपि मण्डूकान्विश्वास्याऽत्रानयामि।' स आह-'मम तावत्त्वमभक्ष्यो भ्रातृस्थाने, तद्यद्येवं करोषि तत्सा· म्प्रतं-पितृस्थाने भवसि। तदेवं क्रियताम्'-इति।

सोऽपि तदाकर्ण्याऽरघट्टघटिकामाश्रित्य विविधदेवतोपक· ल्पितपूजोपयाचितस्तस्मात्कूपाद्विनिष्क्रान्तः। प्रियदर्शनोऽपि तदागमनकाङ्क्षया तत्रस्थः प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति।

अथ चिरादनागते गङ्गदत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटरनिवासिनीं गोधामुवाच-'भद्रे ! क्रियतां स्तोकं साहाय्यम्, यतश्चिरपरि· चितस्ते गङ्गदत्तः। तद्गत्वा तत्सकाशं कुत्रचिज्जलाशयेऽन्विष्य मम सन्देशं कथय येनागम्यतामेकाकिनापि भवता द्रुततरं, यद्यन्ये मण्डूका नागच्छन्ति। अहं त्वया विना नात्र वस्तुं

न्याचरति ॥ ३० ॥ 'सारावे रुदिते त्रातर्याक्रन्दो दारुणे रणे' इति मेदिनी। दुराक्रन्द=दुष्टध्वने !। दुराक्रान्तेति युक्तः पाठः। दुर्नीतिपरायणेत्यर्थः। परि- त्राण=रक्षणम्।'परित्रा'मिति पाठे-क्विबन्तमेतत्। परित्रा-रक्षामिति चार्थः॥३१॥ कवलित=भक्षितम्। पितृस्थाने=पितृतुल्यः। विविधाभ्यो देवताभ्य उपकल्पितं पूजैव-उपयाचितम्=उपहारो येनासौ तथा। उपरचितं=प्रार्थितमिति-व्याख्या-

---

[1] 'परित्रां कः करिष्यति'। 'परित्राणं क्व लप्स्यसे' इति च पाठा०।

शक्नोमि। तथा–'यद्यहं तव विरुद्धमाचरामि तत्सुकृतमन्तरे मया विधृतम्।'

गोधाऽपि तद्वचनाद्गङ्गदत्तं द्रुततरमन्विष्याह–'भद्र गङ्गदत्त! स तव सुहृत्प्रियदर्शनस्तव मार्गं समीक्षमाणस्तिष्ठति, तच्छीघ्रमागम्यतामिति। अपरञ्च–तेन तव विरुद्धकरणे जन्मसुकृतमन्तरे धृतम्। तन्निःशङ्केन मनसा समागम्यताम्।'

तदाकर्ण्य गङ्गदत्त आह—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे! प्रियदर्शनस्य 'न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्'॥ ३२॥

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामास। ※।

तद्भो दुष्टजलचर! अहमपि गङ्गदत्त इव त्वद्गृहे न कथञ्चिदपि यास्यामि।'

तच्छ्रुत्वा मकर आह–'भो मित्र! नैतद्युज्यते, सर्वथैव मे कृतघ्नतादोषमपनय मद्गृहागमनेन। अथवाऽत्राहमनशनात्प्राणत्यागं तवोपरि करिष्यामि।'

वानर आह–'मूढ! किमहं लम्बकर्णो मूर्खः! दृष्टाऽपायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वात्मानं व्यापादयामि?।

आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा[1] सिंहपराक्रमम्।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः'॥ ३३॥

मकर आह–'भद्र! स को लम्बकर्णः?। कथं दृष्टापायोऽपि मृतः,?। तन्मे निवेद्यताम्।' वानर आह—

नन्तु न प्रकृतानुगुणम्। तदागमनकाङ्क्षया=मण्डूकान्तरागमनाशया। गोधां=निहाकां। ('गोह')। स्तोक=स्वल्पम्। सुकृतं=धर्मः। अन्तरे=मध्ये। विरुद्धकरणे=विपरीताचरणे। अपनय=दूरीकुरु। दृष्टाऽपाय=दृष्टनाशहेतुरपि। अकर्णहृदय=कर्णहृदयशून्य, अतएव—मूर्ख॥ ३३॥

---

१ 'दृष्ट्वासौ त्वां भयानक'मिति लिखितपुस्तकपाठः।

२. सिंहलम्बकर्णकथा

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे करालकेसरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदैवानुयायी परिचारकोऽस्ति।

अथ कदाचित्तस्य हस्तिना सह युध्यमानस्य शरीरे गुरुतराः प्रहाराः सञ्जाताः, यैः पदमेकमपि चलितुं न शक्नोति। तस्याऽचलनाच्च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यङ्गतोऽन्यस्मिन्नहनि तमवोचत्—'स्वामिन्! बुभुक्षया पीडितोऽहं, पदात्पदमपि चलितुं न शक्नोमि, तत्कथं ते शुश्रूषां करोमि!।'

सिंह आह-भोः!, गच्छ अन्वेषय किंचित्सत्त्वम्, येनेमामवस्थाङ्गतोऽपि व्यापादयामि।'

तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन्कञ्चित्समीपवर्तिनं ग्राममासादितवान्। तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभस्तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरान्कृच्छ्रादास्वादयन्दृष्टः। ततश्च समीपवर्तिना भूत्वा तेनाभिहितः-'माम! नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यताम्। चिराद्दृष्टोऽसि?। तत्कथय किमेवं दुर्बलतां गतः?।

स आह-'भो भगिनीपुत्र! किं कथयामि, रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति। घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति। केवलं दूर्वाङ्कुरान्धूलिमिश्रितान्भक्षयामि। तत्कुतो मे शरीरे पुष्टिः?'।

शृगाल आह-'माम! यद्येवं तदस्ति मरकतसदृशशष्पप्रायो नदीसनाथो रमणीयतरः प्रदेशः, तत्रागत्य मया सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवंस्तिष्ठ!'। लम्बकर्ण आह-'भो भगिनीसुत! युक्तमुक्तं भवता, परं वयं ग्राम्या पशवोऽरण्यचारिणां वध्या'

प्रहारा=आघाताः ('चोट')। शुश्रूषां=परिचर्याम्। तडागोपान्ते=तडागसमीपे। प्रविरलदूर्वाङ्कुरान्=अगाढोत्पन्नदूर्वाङ्कुरान्। कृच्छ्रात्=कष्टात्। सम्भाव्यताम्=स्वीक्रियताम्। मरकतसदृशशष्पप्रायः=गारुत्मतमणितुल्यघासप्रचुरः। (मरकत='पन्ना')।

नदीसनाथः=नदीसहितः। रमणीयतरः=सुन्दरतर।' सुभाषितगोष्ठीसुखं=प्रेमालापगोष्ठीबन्धसुखम्। ग्राम्याः=ग्रामवासिनः। भव्यप्रदेशेन=मनोहरप्रदेशेन।

तत्किं तेन भव्यप्रदेशेन' ?। शृगाल आह–'माम ! मैवं वद, मद्भुजपञ्जरपरिरक्षितः स देशः, तन्नास्ति कस्यचिदपरस्य तत्र प्रवेशः। परमनेनैव विधिना रजककदर्थितास्तत्र तिस्रो रासभ्योऽनाथाः सन्ति, ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इदं मामूचुः–'यदि त्वमस्माकं सत्यो मातुलस्तदा किञ्चिद्ग्रामान्तरं गत्वाऽस्मद्योग्यं कञ्चित्पतिमानय'। तदर्थं त्वामहं तत्र नयामि।'

अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिताङ्गो लम्बकर्णस्तमवोचत्–'भद्र ! ।यद्येव तदग्रे भव, येनागच्छामि।' अथवा साध्विद–मुच्यते'—

नाऽमृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
यस्याः सङ्गेन जीव्येत म्रियते च वियोगतः॥ ३४॥

तथा च—

यासां नाम्नापि कामः स्यात्सङ्गमं दर्शनं विना।
तासां दृक्सङ्गमं प्राप्य यन्न द्रवति कौतुकम् !॥ ३५॥

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागतः। सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्तं दृष्ट्वा यावत्समुत्तिष्ठति, तावद्रासभः पलायितुमारब्धवान्। अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः।

माम=मातुल !। मद्भुजपञ्जरपरिरक्षित =मत्पालित'। अनेनैव=त्वत्तुल्येन भक्ष्याऽलाभादिना। रजककदर्थिता.=वस्त्रधावकपीडिता'। अनाथाः=स्वामिशून्या। यौवनोत्कटा =यौवनमदोन्मत्ता। सत्य.=यथार्थ। तदर्थे=रासभीपरिभोगार्थम्। नितम्बिनीं मुक्त्वा=कामिनी विना। अमृतविषोभयघटितं वस्त्वन्तरं नास्ति, यतोऽस्या सङ्गेन जीवनलाभो वियोगे च मरणमित्यर्थ.॥ ३४॥ सङ्गमदर्शनाऽभावेपि यासा नामश्रवणमात्रेण कामव्यथा, तासां–कामिनीना दृक्सङ्गमं=कटाक्षगोचरतां, प्राप्य, यन्नरो न द्रवति=कामोन्मत्तो न भवति, सुखसागरनिमग्नो न भवतिवा। कौतुकम्=आश्चर्यम्॥ ३५॥

तथानुष्ठिते=अग्रतश्चलिते शृगाले। तलप्रहारः=चपेटाघात', ('थप्पड')।

---

१. अत्र–'येन त्वरितं तत्र गच्छावः। युक्तञ्चैतत्।' इति लिखितपुस्तकपाठ एव युक्ततर.।

-स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः ।

अत्राऽन्तरे शृगालः कोपाविष्टस्तमुवाच–'भोः ! किमेवंविधः प्रहारस्ते,–यद्गर्दभोऽपि तव पुरतो बलाद्गच्छति ! । तत्कथं गजेन सह युद्धं करिष्यसि ? । तद् दृष्टं ते बलम् ।' अथ विलक्षस्मितं सिंह आह–'भोः ! किमहं करोमि ? मया न क्रमः सज्जीकृत आसीत्, अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्तो न गच्छति ।'

शृगाल आह–'अद्याऽप्येकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि, परं त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम् ।' सिंह आह–'भद्र ! यो मां प्रत्यक्षं दृष्ट्वा गतः स पुनः कथमत्रागमिष्यति ? । तदन्यत्किमपि सत्त्वमन्विष्यताम्' । शृगाल आह–'किं तवानेन व्यापारेण ?, त्वं केवलं सज्जितक्रमस्तिष्ठ ।' तथानुष्ठिते शृगालोऽपि यावद्रासभमार्गेण गच्छति, तावत्तत्रैव स्थाने चरन्दृष्टः ।

अथ शृगालं दृष्ट्वा रासभः प्राह–'भो भगिनीसुत ! शोभनस्थाने त्वयाहं नीतः, द्राङ् मृत्युवशं गतः । तत्कथय किं तत्सत्त्वम् ? यस्यातिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारादहं मुक्तः ?' ।

तच्छ्रुत्वा प्रहसञ्छृगाल आह—'भद्र ! रासभी त्वामायान्तं दृष्ट्वा सानुरागमालिङ्गितुं समुत्थिता, त्वं च कातरत्वान्नष्टः । सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुं, तया तु नश्यतस्तेऽवलम्बनार्थं हस्तः क्षिप्तः, नान्यकारणेन । तदागच्छ, सा त्वत्कृते प्रायोपवेशनोपविष्टा तिष्ठति । एतद्वदति–'यल्लम्बकर्णो यदि मे भर्ता न

व्यवसाय इव = उद्योग इव । एवंविधः = ईदृशः । विलक्षस्मितं = चकितस्मितं । लज्जितस्मितं यथा स्यात्तथेति यावत् । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यमरः । क्रमः = आक्रमणोचितः सन्नाहः । व्यापारेण = चिन्तादिना । भगिनीसुत = हे भागिनेय ! (भानजा) । द्राक् = झटिति । गतः = गत इवाभूवम् । अतिरौद्रेण = क्रूरतरेण । वज्रसदृशात्–करप्रहारात् = चपेटाघातात् । रासभी = गर्दभी । सानुरागं = सस्नेहम् । कातरत्वात् = भीरुत्वात् । नष्टः = पलायितः । नश्यतः = पलायमानस्य । अवलम्बनार्थं = निषेधार्थम् ('पकड़ने के लिए') । क्षिप्तः = उत्थापितः ।

१. 'यद् दैवान्मृत्युवशं न गतः'—इति लिखितपुस्तकपाठः समुचितः ।

भवति, तदहमग्नौ जले वा प्रविशामि,-न पुनस्तस्य वियोगं सोढुं शक्नोमि'। इति।' तत्प्रसादं कृत्वा तत्राऽऽगम्यतां, नो चेत्तव स्त्रीहत्या भविष्यति। अपरं भगवान्कामः कोपं तवोपरि करिष्यति। उक्तञ्च—

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसम्पत्करी
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिला कापालिकाश्चापरे'॥ ३६॥

अथाऽसौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः। साध्विदमुच्यते—

जानन्नपि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम्।
कर्म, किं कस्यचिल्लोके गर्हितं रोचते कृतम्॥ ३७॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादितः। ततस्तं हत्वा शृगालं रक्षकं निरूप्य स्वयं स्नानार्थं नद्यां गतः। शृगालेनापि लौल्यौत्सुक्यात्तस्य कर्णहृदयं भक्षितम्।

प्रायोपवेशनम्=अनशनम्। वदति। अस्य 'रासभी'ति शेष। प्रसादम्=अनुग्रहम्। मकरध्वज=काम.। जयिनीं=जगत्त्रयविजयशीलाम्। सर्वार्थाना=धर्मार्थकामादीना सम्पदं करोति तच्छीलाम्, तद्धेतुभूता वा। मुद्रा=चिह्नम्। स्त्रीमुद्रां=स्त्रीरूपं शासनम्। प्रविहाय=परित्यज्य, उल्लङ्घ्य वा। मिथ्याफलानि=स्वर्गापवर्गादीनि,-अन्वेषयन्ति तच्छीला। तेनैव=कामेनैव राज्ञा। रक्तपटीकृता=रुधिरार्द्रवसना', काषायाम्बरधारिणश्च कृता। जटिला.=जटाभारधारिणः। कापालिका=पाखण्डभेदा. ('जोगी' 'स्मशान सेवी')। अन्योऽपि राजा स्वशासनोल्लङ्घनपरान्,-तथैव मुण्डनादिना दण्डयति॥ ३६॥

असौ=गर्दभः। तद्वचनं=शृगालवाक्यम्। दैवात्=अदृष्टवशीभूत एव। निन्दितं कर्म-किं कस्यापि प्रियं भवति [2]। न भवतीत्यर्थ'। अतो दैवायत्त एव गर्हितं कुरुत इति भावः॥ ३७॥ तं=गर्दभम्, निरूप्य=निर्दिश्य, स्वय=

१. 'स्वर्गापवर्गेच्छये'ति लिखितपुस्तकपाठः। २ 'कथ' मिति प्रचलित पाठ आसीत्।

अत्राऽन्तरे सिंहो यावत्स्नात्वा कृतदेवार्चनः प्रतर्पितपितृगणः समायाति तावत्कर्णहृदयरहितो रासभस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालमाह—'पाप! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितं,—यत्कर्णहृदयभक्षणेनाऽयमुच्छिष्टतां नीतः?'।

शृगालः सविनयमाह-'स्वामिन्! मा मैवं वद, कर्णहृदयरहित एवायं रासभ आसीत्, येनेहागत्य त्वामवलोक्य भूयोऽप्यागतः।'

अथ तद्वचन श्रद्धेयं मत्वा सिंहस्तेनैव सह संविभज्य निःशङ्कितमनास्तं भक्षितवान्।

अतोऽहं ब्रवीमि-'आगतश्च गतश्चैव-'इति।

तन्मूर्ख! कपटं कृतं त्वया,-परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवचनेन विनाशितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः।
स स्वार्थाद्भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवाऽपरः॥ ३८॥

मकर आह-'कथमेतत्?'। स आह—

३. युधिष्ठिरकुम्भकारकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि कुम्भकारः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्रमादादर्धभग्नघटकर्परतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन्पतितः। ततः कर्परकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लावित-

---

सिंहः। लौल्यौत्सुक्यात्=चाञ्चल्येन। उत्कण्ठितया। तस्य=रासभस्य। कर्णहृदयं=कर्णौ हृदयञ्च। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। प्रतर्पितपितृगणः=दत्तसतिलजलाञ्जलिः। कोपपरीतात्मा=क्रोधाविष्टहृदयः। श्रद्धेयं=विश्वासयोग्यम्। संविभज्य=विभागङ्कृत्वा ('बाँट कर')। मूर्ख=मूढ मकर! परं=परन्तु युधिष्ठिरः-तन्नामा कुम्भकारः। स्वार्थं=स्वप्रयोजनम्। दम्भी=सत्यवादिनमात्मानं विख्यापयिषुः॥ ३८॥

प्रमादात्=अनवधानात्। भग्नघटस्यार्धम्-अर्धभग्नघटं, तस्य यः कर्परः कपालम्-तस्य यत्तीक्ष्णमग्रं=प्रान्तभागस्तस्योपरि-पतित इत्यन्वयः। कर्पर-

तनुः कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः। ततश्चाऽपथ्यसेवनात्स प्रहारस्तस्य करालतां गतः, कृच्छ्रेण च नीरोगतां नीतः।

अथ कदाचिद्दुर्भिक्षपीडिते देशे स कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चिद्राजसेवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको बभूव। स च राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास यत्—'वीरः पुरुषः कश्चिदयं, नूनं तेन ललाटपट्टे संमुखप्रहार.।' अतस्तं संमानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यति स्म। तेऽपि राजपुत्रास्तस्य त प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमीर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयान्न किञ्चिदूचुः।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि तस्य भूपते विग्रहे समुपस्थिते, वीरसम्भावनायां क्रियमाणायां, प्रकल्प्यमानेषु[1] गजेषु, सन्नह्यमानेषु वाजिषु, योधेषु प्रगुणीक्रियमाणेषु, तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्टो निर्जने—'भो राजपुत्र! किं ते नाम? का च जातिः? कस्मिन्सङ्ग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः?।

स आह—'देव! नायं शस्त्रप्रहारः, युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं जात्या[2]। मद्गृहेऽनेककर्पराण्यासन्। अथ कदाचिन्मद्यपानं कृत्वा निर्गतः प्रधावन्कर्परोपरि पतितः। ततश्च प्रहारविकारोऽयं

कोट्या = कर्पराग्रकोणेन। पाटितललाट =भिन्नललाटपट्टः। युधिरप्लावितनुः= रुधिरपरीतगात्र। ('लोहूलुहान')। कृच्छ्रात्=महता कष्टेन। (किसी तरह)। अपथ्यसेवनात्= अनुचिताचरणभक्षणादिना। प्रहार =व्रण.। करालता=गम्भीरताम्। ('गहरा घाव')। नीरोगता=स्वास्थ्यम्। दुर्भिक्षम्=अकाल'। विकराल=दीर्घमायतं गभीरञ्च। प्रहारक्षतं=प्रहारव्रणम्। तेन=अत एव। विशेषप्रसादेन=विशेषेणानुग्रहेण। ईर्ष्याधर्मम्=ईर्ष्यान्वितं भावम्। वीरसम्भावनायां= वीरपूजायाम्, तत्परीक्षायाञ्च। विग्रहे=युद्धे। प्रकल्प्यमानेषु=सज्जीक्रियमाणेषु। (हाथी तैयार किए जा रहे थे)। सन्नह्यमानेषु=पर्याणबन्धादिना सज्जीक्रियमाणेषु वाजिषु=अश्वेषु। प्रगुणीक्रियमाणेषु =सन्नह्यमानेषु। प्रस्तावानुगतं=प्रसङ्गात्।,निर्जने=रहसि। अत्र 'कुलालोऽहं प्रकृत्ये'ति पाठान्तरे प्रकृत्या=स्वभावेनैवा-

---

1. 'विलोक्यमानेषु' इति पाठा०। २ 'कुलालोऽहं। प्रकृत्ये'ति पाठा०।

मे ललाट एवं विकरालतां गतः।' तदाकर्ण्य राजा सव्रीडमाह- 'अहो ! वञ्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणाऽनेन कुलालेन, तद्दीयतां द्रागेतस्य चन्द्रार्धः।' तथानुष्ठिते कुम्भकार आह-'देव ! मैवं कुरु, पश्य मे रणे हस्तलाघवम्।'

राजा प्राह-'भोः ! सर्वगुणसम्पन्नो भवान्, तथापि गम्यताम्। उक्तञ्च—

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक !
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ३९ ॥

कुलाल आह-'कथमेवत् ?'। राजा कथयति—

४. सिंहशृगालपुत्रकथा

कस्मिंश्चिदुद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म। अथ सिंही पुत्रद्वयमजीजनत्। सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान्व्यापाद्य सिंह्यै ददाति। अथान्यस्मिन्नहनि तेन किमपि नासादितम्, वने भ्रमतोऽपि तस्य रविरस्तं गतः। अथ तेन स्वगृहमागच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः। स च 'बालकोऽय'मित्यवधार्य यत्नेन दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा सिंह्यै जीवन्तमेव समर्पितवान्। ततः सिंह्याऽभिहितम्-'भोः कान्त ! त्वयाऽऽनीतं किञ्चिदस्माकं भोजनम् ?'। सिंह आह-'प्रिये ! मयाद्यैनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किंचित्सत्त्वमासादितम्, स च मया 'बालोऽय'मिति मत्वा न व्यापादितो, विशेषात्स्वजातीयश्च। उक्तञ्च—

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहर्तव्यं न कर्हिचित्।
प्राणात्ययेऽपि सञ्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः ॥ ४० ॥

प्रहारविकारः=व्रणः। 'कर्परप्रहारोऽयं मे' इति लिखितपुस्तकपाठो युक्ततरः। चन्द्रार्धः=अर्धचन्द्रम्। (गर्दनिया, धक्का)। 'मा मैव कुरु' इति पाठान्तरम्। अजीजनत्=जनयामास। स च=सिंहश्च। स्वजातीयः=मांसाशी,नखायुधश्च। लिङ्गिनः=ब्रह्मचारिपरिव्राजकादयः। अत्ययः=नाशः। विश्वस्तेषु=विश्वास-

१ 'अर्धचन्द्र.'। पा०। २ 'शूरोऽसि कृतविद्योऽसि'। पा०

इदानीं त्वमेनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु। प्रभातेऽन्यत्किञ्चिदुपार्जयिष्यामि। सा प्राह–'भोः कान्त ! त्वया 'बालकोऽय'-मिति विचिन्त्य न हत., तत्कथमेनमहं स्वोदरार्थे विनाशयामि ? ।
उक्तञ्च—

अकृत्यं नैव कर्तव्यं प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
न च कृत्यं परित्याज्यमेप धर्मः सनातनः ॥ ४१ ॥

तस्मान्ममाऽयं तृतीय पुत्रो भविष्यति।' इत्येवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत्। एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परमज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्यसमयं निर्वाहयन्ति स्म।

अथ कदाचित्तत्र वने भ्रमन्नरण्यगजः समायातः। तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वावपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत्, तावत्तेन शृगालसुतेनाभिहितम्–'अहो ! गजोऽयं युष्मत्कुलशत्रुः, तन्न गन्तव्यमेतस्याभिमुखम्।' एवमुक्त्वा गृहं प्रति प्रधावितः। तावपि ज्येष्ठबान्धवभङ्गान्निरुत्साहतां गतौ।
साध्विदमुच्यते—

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति।
सोत्साहं जायते सैन्यं, भग्ने भङ्गमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

तथा च—

अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान्।
शूरान्वीरान्कृतोत्साहान्वर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४३ ॥

अथ तौ द्वावपि भ्रातरौ गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो विहसन्तौ

मापन्नेषु तु विशेषतो न प्रहर्त्तव्यम् ॥ ४० ॥ पथ्यं=भोजनम्। प्राणत्यागे–प्राणनाशे। सनातन=नित्यः ॥ ४१ ॥ अय=शृगाल। स्वस्तनक्षीरेण=स्वस्तन्यदुग्धेन। परां=महतीम्। एक एव आचारो विहारश्च येषान्ते तथा। प्रकुपिताननौ=क्रुद्धौ। अभिमुख=संमुखम्, तौ=सिंहबालकौ। ज्येष्ठबान्धवस्य=ज्येष्ठभ्रातु शृगालस्य। भङ्गात्=पलायनात्। रणं प्रति=युद्धं प्रति। सोत्साहेन=उत्साहवता।

---

१ 'अस्मत्कुलशत्रु'रिति शोभनः पाठ.।

ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितमूचतुः–'यथायं गजं दृष्ट्वा दूरतोऽपि प्रनष्टः' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवस्ताम्रलोचनस्त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्सयन्परुषतरवचनान्युवाच। ततः सिंह्या एकान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ–'वत्स! मैवं कदाचिज्जल्प, भवदीयलघुभ्रातरावेतौ–' इति। अथासौ सान्त्ववचनेन प्रभूततरकोपाविष्टस्तामप्युवाच–'किमहमेताभ्यां शौर्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनो येन मामुपहसतः?। तन्मयाऽवश्यमेतौ व्यापादनीयौ।' तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्त्यन्तर्विहस्य प्राह—

'शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक!।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥ ४४॥

तत्सम्यक्शृणु, वत्स! त्वं शृगालीसुतः कृपया मया स्वस्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः। तद्यावदेतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात्त्वां शृगालं न जानीतः, तावद्द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां मध्ये मिलितो भव, नो चेदाभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यसि।' सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैरपसृज्य स्वजात्या मिलितः।❀

तस्मात्त्वमपि यावदेते राजपुत्रास्त्वां कुलालं न जानन्ति, तावद्द्रुततरमपसर, नो चेदेतेषां सकाशाद्विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि।'

कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः।

अतोऽहं ब्रवीमि 'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी'—इति। ❀

भङ्गे=पलायने। कातरान्=भीतान् ॥४३॥ कोपाविष्टमना=क्रोधाभिभूतचेताः। प्रस्फुरित अधरपल्लवो यस्यासौ तथा=कोपप्रकम्पिताधरोष्ठः। ताम्रलोचनः=रक्तनयन। त्रिशिखाम्=कोपकरालाम्। तौ=सिंहसूनू। पुत्रक=वत्स! यस्मिन्कुले=शृगालकुले। अतस्तव न दोष इत्याशय॥ ४४॥ अपसृत्य=गत्वा। त्वमपि=हे युधिष्ठिर! त्वमपि। एतेषां=राजपुत्राणाम्। विडम्बनाम्=उपहासं, क्लेशं, कदर्थना वा।

---

१ 'निर्भर्त्सयमान'। पा०।

धिङ् मूर्ख ! यत्त्वया स्त्रियोऽर्थे एतत्कार्यमनुष्ठातुमारब्धम् । न हि स्त्रीणां कथञ्चिद्विश्वासमुपगच्छेत् ।

उक्तञ्च—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्धं च हारितम् ।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः ? ॥४५॥

मकर आह—'कथमेतत् ?। वानर आह—

५. ब्राह्मणब्राह्मणीपङ्गुकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः । तस्य च भार्या प्राणेभ्योऽप्यतिप्रियाऽऽसीत् । सापि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति । सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्यावात्सल्यात्स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः ।

अथ महाटवीमध्ये ब्राह्मण्याऽऽभिहितः—'आर्यपुत्र ! तृष्णा मां बाधते, तदुदकं क्वाप्यन्वेषय ।' अथासौ तद्वचनानन्तरं यावदुदकं गृहीत्वा समागच्छति, तावत्तां मृतामपश्यत् । अतिसौहार्देन अतिवल्लभतया विषादं कुर्वन्यावद्विलपति, तावदाकाशे वाचं शृणोति । तथा हि—'यदि ब्राह्मण ! त्वं स्वकीयजीवितस्यार्धं ददासि ततस्ते जीवति ब्राह्मणी' ।

तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्धं दत्तम् । वाक्समेव च सा ब्राह्मणी जीविता । अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारब्धौ । ततः क्रमेण कस्यचिन्नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्यामभिहितवान्—भद्रे ! यावदहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि ताव-

---

वानरो मकरमुपालभते—धिगिति । जीवितार्धम्=आयुषोऽर्धम् । हारितम्=दत्तं नाशितम् ॥ ४५ ॥ विप्रकृष्टं=दूरतरम् । आर्यपुत्र=हे नाथ ! । अतिसौहार्देन=स्नेहातिरेकेण । अतिवल्लभतया=अतिप्रियतया । शुचीभूय=आचमनादिना पवित्रेण । तिसृभिर्वाचाभिः=त्रिवारमुच्चार्य । अवधारणाय दार्ढ्यार्थं च त्रिरुक्तिः । वाक्समम्=दानवाक्याभिधानान्तरम् । पुष्पवाटिकायाम्=उद्याने । ('फुलवाड़ी

दत्र त्वया स्थातव्यम्' । इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम।

अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पङ्गुररघट्टं खेटयन्दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति, तच्च श्रुत्वा कुसुमेषुणार्दितया ब्राह्मण्या तत्सकाशङ्गत्वाऽभिहितम्'—'भद्र ! यदि मां न कामयसे तन्मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति' । पङ्गुरब्रवीत्–'किं व्याधिग्रस्तेन मया करिष्यसि ? ।'

साऽब्रवीत्–'किमनेनोक्तेन ? अवश्यं त्वया सह मया सङ्गमः कर्तव्यः । तच्छ्रुत्वा स तथा कृतवान् ।

सुरतानन्तरं साऽब्रवीत्–'इतः प्रभृति यावज्जीवं मयात्मा भवते दत्त.'–इति ज्ञात्वा भवानप्यस्माभिः सहाऽऽगच्छतु ।'

सोऽब्रवीत्–'एवमस्तु ।' अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुमारब्धः । साऽब्रवीत्–'एष पङ्गुर्बुभुक्षितः, तदेतस्यापि कियन्तमपि ग्रासं देहि'–इति । तथाऽनुष्ठिते ब्राह्मण्याऽभिहितम्–'ब्राह्मण ! सहायहीनस्त्वं यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति, तदेनं पङ्गु गृहीत्वा गच्छावः ।

सोऽब्रवीत्–न शक्नोम्यात्मानमप्यात्मना वोढुं, किं पुनरेनं पङ्गुम् ।' साऽब्रवीत्–पेटाभ्यन्तरस्थमेनमहं नेष्यामि ।' अथ तत्कृतवचनव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्नम् ।

तथानुष्ठितेऽन्यस्मिन्दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणस्तया

में') अरघट्टं=जलोद्धरणयन्त्रम् । अरघट्टः पुंसि । (रहट) । खेटयन्=चालयन् (खेता हुआ, 'चलाता हुआ') । 'खेलय'न्निति मुद्रितपाठेऽपि स एवार्थोऽनुसन्धेयः । दिव्यगिरा=मधुरस्वरेण । कुसुमेषुणा=कामेन । अर्दितया=पीडितया । कामयसे=सुरतेन तर्पयसि । मत्सक्ता=मन्स रणजन्या । व्याधिग्रस्तेन=रोगपीडितेन । सङ्गमः=रतिमहोत्सवः । तथा=सुरतं । यावज्जीवं=यावदायुष्यम् । आत्मा=शरीरम् । वचनसहायः=वार्तालापकर्त्ता । पेटाभ्यन्तरस्थं=सम्पुटकमध्यस्थापितम् । (सन्दूख वा पिटारी में बैठा कर) । कृतकवचनैः=कपटपूर्णवाक्यैः–व्यामोहितं चित्तं यस्यासौ तेन । प्रतिपन्नं=स्वीकृतम् । कूपोकण्ठे=कूपसन्निधौ ।

च पङ्गुपुरुषासक्तया सम्प्रेर्य कूपान्तः पतितः। साऽपि पङ्गुं गृहीत्वा कस्मिंश्चिन्नगरे प्रविष्टा। तत्र शुल्कचौर्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैरितस्ततो भ्रमद्भिस्तन्मस्तकस्था पेटा दृष्टा, बलादाऽऽच्छिद्य राजाग्रे नीता। राजा च यावत्तामुद्घाटयति, तावत्तं पङ्गुं ददर्श। ततः सा ब्राह्मणी विलापं कुर्वती राजपुरुषानुपदमेव तत्राऽऽगता राज्ञा पृष्टा–'को वृत्तान्तः?' इति।

साऽब्रवीत्–'ममैष भर्ता व्याधिबाधितो दायादसमूहैरुद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगरे आनीतः।'

तच्छ्रुत्वा राजाऽब्रवीत्–'ब्राह्मणि! त्वं मे भगिनी, ग्रामद्वयं गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान्भुञ्जाना सुखेन तिष्ठ।'

अथ स ब्राह्मणो दैववशात्केनापि साधुना कूपादुत्तारितः परिभ्रमंस्तदेव नगरमायातः,–तया दुष्टभार्यया दृष्टो राज्ञे निवेदितश्च—'राजन्! अयं मम भर्तुर्वैरी समायातः?। राज्ञापि वध आदिष्टः। सोऽब्रवीत्–'देव! अनया मम सक्तं किञ्चिद्गृहीतमस्ति, यदि त्वं धर्मवत्सलः तदा दापय।'

राजाऽब्रवीत्–'भद्रे! यत्त्वयाऽस्य सक्तं किञ्चिद्गृहीतमस्ति तत्समर्पय।' सा प्राह–'देव। मया न किञ्चिद्गृहीतम्।' ब्राह्मण आह–'यन्मया त्रिवाचिकं स्वजीवितार्धं दत्तं तद्देहि।

अथ सा राजभयात्तथैव 'त्रिवाचिकमेव जीवितार्धं मया दत्तम्'–इति जल्पन्ती प्राणैर्विमुक्ता।

पङ्गुपुरुषासक्तया=पङ्गुप्रणयासक्तया। सम्प्रेर्य=दृढ हस्ताभ्यां प्रहृत्य। ('धक्का देकर')। कूपान्त=कूपमध्ये। शुल्कं=ग्रामादिप्रवेशे राजदेयो भाग। (चुंगी)। (पेटा=पिटारी)। आच्छीय=अपहृत्य। ('जबरदस्ती छीन कर')। ता=पेटाम्। व्यधिवाधित=रोगाक्रान्त। दायादसमूहैः=बन्धुबान्धवैः (हिस्सेदार)। उद्वेजित=पीडित। उत्तारित=निष्कासित। दुष्टभार्यया=पुंश्चल्या स्वपत्न्या। आदिष्ट=आज्ञप्त। मम सक्तं=मदीयम्। धर्मवत्सल=धर्मरक्षक। 'तद्दापये'ति पाठान्तरम्। तथैव=शुचिर्भूत्वा, यथा त्वया दत्तं तथैव वा। त्रिवाचिकं=

ततः सविस्मयं राजाऽब्रवीत्–'किमेतत्' ? इति। ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽपि तस्मै निवेदितः। अतोऽहं ब्रवीमि–'यदर्थे स्वकुलं त्यक्तम्–'इति।❀

वानरः पुनराह–'साधु चेदमुपाख्यानकं श्रूयते—

न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः।
अनश्वा यत्र हेषन्ते तत्र पर्वणि मुण्डितम्' ॥ ४६ ॥

मकर आह–'कथमेतत् ?'। वानरः कथयति—

६. नन्दवररुचिकथा

अस्ति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृतपादपीठः शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशाः समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्या भर्ता नन्दो नाम राजा। तस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिर्नाम। तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता। सा चाऽतीव वल्लभाऽनेकप्रकारं परितोष्यमाणापि न प्रसीदति। ब्रवीति च भर्ता–'भद्रे! येन प्रकारेण तुष्यसि तं वद, निश्चितं करोमि।'

ततः कथञ्चित्तयोक्तम्–'यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोः निपतसि तदा प्रसादाभिमुखी भवामि।' तथानुष्ठिते च सा प्रसन्नाऽऽसीत्।

त्रिरुक्त्वा। मया=ब्राह्मण्या। दत्तं=परावर्त्य दीयते। प्राणैर्वियुक्ता=मृता।

प्रख्यातं बलं पौरुषञ्च यस्यासौ तथा=प्रसिद्धबलपराक्रम। अनेके ये नरेन्द्रा–राजानः, तेषां यानि मुकुटानि, तेषां या मरीचयः=प्रभास्तासां जालेन=पुञ्जेन, जटिलीकृतं=व्याप्तं पादपीठं यस्यासौ तथा। अनेकराजवन्दित इत्यर्थः। शरदि यः शशाङ्कस्तस्य ये किरणास्तद्वत् निर्मलं=स्वच्छं यशो यस्यासौ तथा। कीर्त्तिशालीत्यर्थः। सर्वैः शास्त्रैः समधिगतं समस्तं तत्त्वं–रहस्यं–भूतं भविष्यच्च येनासौ तथा। त्रिकालवेत्तेत्यर्थः। प्रणयकलहेन=कृत्रिमकलहेन। जाया=पत्नी। वल्लभा=प्रिया। अनेकप्रकारं=नानोपायैः। परितोष्यमाणा=प्रसाद्यमाना। प्रसीदति=प्रसन्ना भवति। प्रसादाभिमुखी=प्रसन्ना। तथाऽनुष्ठिते=शिरो मुण्डयित्वा

अथ नन्दस्य भार्यापि तथैव रुष्टा प्रसाद्यमानाऽपि न तुष्यति। तेनोक्तम्-'भद्रे! त्वया विना मुहूर्तमपि न जीवामि, पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयामि।' साऽब्रवीत्-'यदि खलीनं मुखे प्रक्षिप्याऽहं तव पृष्ठे समारुह्य त्वां धावयामि, धावितस्तु यद्यश्ववद् ह्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि।' राज्ञाऽपि तथैवानुष्ठितम्।

अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञः समीपे वररुचिरायातः। तं च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ-'भो वररुचे! कस्मिन् पर्वणि[1] मुण्डितं शिरस्त्वया?।' सोऽब्रवीत्—

'न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते तत्र पर्वणि मुण्डितम्' ॥ ४७ ॥

तद्भो दुष्टमकर! त्वमपि नन्दवररुचिवत्स्त्रीवश्यः। ततस्तद्भ[2]णितेन त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः। परं स्ववाग्दोषेणैव प्रकटीकृतः[3]। अथवा साध्विदमुच्यते—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम्[4] ॥ ४८ ॥

तथा च—

सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः।

पादोपग्रहणे कृते सति। नन्दस्य=तन्नाम्नो महाराजस्य। तेन=नन्देन। पादयोः पतित्वा=प्रणम्य। खलीनं=कविकाम्। ['लगाम' व 'लगाम का कडा']। धावयामि=प्रेरयामि। ('चलाना' 'हाकना')। ह्रेषसे=अश्वशब्दं करोषि। ('हिनहिनाना')। पर्वणि=पुण्यकाले। विना पर्व शिरोवपनस्य निषेधात्। अभ्यर्थित = प्रार्थित। अनश्वाः=अश्वभिन्ना भवद्विधा राजानोपि, यत्र-प्रियाप्रसादने सुरतमहापर्वणि ह्रेषन्ते=अश्ववच्छब्दं कुर्वन्ति, तत्र पर्वणि=तस्मिन् सुरतमहायज्ञे, मयापि शिरो मुण्डितमिति रात्रिवृत्तान्तस्मारणेन सर्वज्ञेन वररुचिना राजा कटाक्षितः ॥ ४७॥

मुखदोषेण=बहुभाषणदोषेण, मुखचाञ्चल्येन च ॥ ४८ ॥ सुगुप्तं=नितरां

---

१. 'किमपर्वणि-मुण्डितं शिरस्त्वया' इति पाठा०।
२ 'ततो भद्र! तद्भणितेन'। पा०। ३ 'प्रकटित'। ४ 'साधकम्'। पा०।

व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ४९ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' । वानरः कथयति—

७. वाचालरासभकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति स्म । तस्य च गर्दभ एकोऽस्ति । सोऽपि घासाऽभावादतिदुर्बलतां गतः । अथ तेन रजकेनाऽटव्यां परिभ्रमता मृतव्याघ्रो दृष्टः । चिन्तितश्च-'अहो ! शोभनमापतितम्, अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषूत्स्रक्ष्यामि,-येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं न निष्कासयिष्यन्ति ।

तथाऽनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यवभक्षणं करोति, प्रत्यूषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति । एवं गच्छता कालेन स रासभः पीवरतनुर्जातः । कृच्छ्राद्बन्धनस्थानमपि नीयते ।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि स मदोद्धतो दूराद्रासभीशब्दमशृणोत् । तच्छ्रवणमात्रेणैव स्वयं शब्दायितुमारब्धः । अथ तैः क्षेत्रपालैः 'रासभोऽयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नः' इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैः स व्यापादितः ।

अतोऽहं ब्रवीमि-'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि—'इति । ❀

अथैवं तेन सह वदतो मकरस्य –जलचरेणैकेनागत्याऽभि-

गूढं यथा स्यात्तथा । दारुणं=विकृतं । व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्न =व्याघ्रचर्माच्छादित-तनुः । वाक्कृते=वाक्चापलात् ॥ ४९ ॥

घासाभावात्=घासादिभोजनव्यवस्थाऽभावात् । शोभनमापतितं=युक्तं जातम् । ('ठीक हो गया')। प्रतिच्छाद्य=पिधाय । उत्स्रक्ष्यामि=त्यक्षामि । 'उत्सृजामी'ति पाठान्तरम् । प्रत्यूषे=अहर्मुखे । ('तड़काऊ' 'पौ फटने पर')। पीवरतनु = पुष्टदेहः । कृच्छ्रादिति । बन्धनस्थानमपि कृच्छ्रान्नीयतेऽतिबलशालित्वादित्यर्थ । मदोद्धत =मदोन्मत्त. । शब्दायितुं=शब्दं कर्त्तुम् । लगुडशरपाषाणप्रहारै.=दण्ड-बाणप्रस्तरप्रहारै. । 'ते क्षेत्रपालाः–लगुडशरपाषाणप्रहारैस्तं व्यापादितवन्त' इति पाठान्तरम् ।

हितम्-'भो मकर ! त्वदीया भार्याऽनशनोपविष्टा-त्वयि चिरयति प्रणयाऽभिभवाद्विपन्ना' । एवं तद्वज्रपातसदृशवचनमाकर्ण्याऽतीव व्याकुलितहृदयः प्रलपितमेवं चकार-'अहो ! किमिदं सञ्जातं मे मन्दभाग्यस्य ? । उक्तञ्च-

माता यस्य गृहे नास्ति, भार्या च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥ ५० ॥

तन्मित्र ! क्षम्यतां, यन्मया तेऽपराधः कृतः, सम्प्रत्यहं तु स्त्रीवियोगाद्वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि ।' तच्छ्रुत्वा वानरः प्रहसन्प्रोवाच-'भोः ! ज्ञातं मया प्रथममेव-यत्त्वं स्त्रीवश्यः, स्त्रीजितश्च । साम्प्रतं च प्रत्ययः सञ्जातः । तन्मूढ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विषादं गतः ! । तादृग्भार्यायां मृतायामुत्सवः कर्तुं युज्यते । उक्तञ्च यतः—

'या भार्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया ।
भार्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ५१ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामाऽपि परिवर्जयेत् ।
स्त्रीणामिह हि सर्वासां य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ५२ ॥
यदन्तस्तन्न जिह्वायां यज्जिह्वायां न तद्बहिः ।
यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति,-विचित्रचरिताः स्त्रियः ! ॥ ५३ ॥
के नाम न विनश्यन्ति ? मिथ्याज्ञानान्नितम्बिनीम् ।
रम्यां य उपसर्पन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ५४ ॥
अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।
गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ५५ ॥
ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिताः ।
न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ५६ ॥

तेन=वानरेण । चिरयति=विलम्ब कुर्वाणे । प्रणयाभिभवात्=इच्छामानादिविघातात् । वैश्वानरः=वह्नि· । प्रत्यय=विश्वास । दुष्टचारित्रा=दुष्टशीला । विदग्धै·=पण्डितै ॥ ५१ ॥ यत्-अन्त·=अन्त करणे । 'वर्त्तते' इति शेष· । 'प्रिये'ति मिथ्याज्ञानात् ये-रम्यां स्त्रियमुपसर्पन्ति-ते शलभा दीपप्रभामिव-तां प्राप्य नूनं नश्यन्तीति भाव ॥५४॥ संस्तवै=स्तुतिभि, प्रशंसावाक्यैश्च ॥५६॥

आस्तां तावत्किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।
विधृतं स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्रं स्वकं रुषा ! ॥ ५७ ॥
रुक्षायां स्नेहसद्भावं, कठोरायां सुमार्दवम् ।
नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत्' ॥ ५८ ॥

मकर आह—'भो मित्र ! अस्त्वेतत्, परं किं करोमि ? ममानर्थद्वयमेतत्सञ्जातम् । एकस्तावद्गृहभङ्गः, अपरस्त्वद्विधेन मित्रेण सह चित्तविश्लेषः । अथवा भवत्येवं दैवयोगात् । उक्तञ्च यतः—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव ।
नाऽभूज्जारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नग्निके ! ॥ ५९ ॥[1]

वानर आह–'कथमेतत् ? । मकरोऽब्रवीत्—

८. हालिकवधूशृगालिकावञ्चककथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसतः स्म । सा च हालिकभार्या पत्युर्वृद्धभावात्सदैवाऽन्यचित्ता न कथञ्चिद्गृहे स्थैर्यमालम्बते-केवलं परपुरुषानन्वेषमाणा परिभ्रमति । अथ केनचित् परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा लक्षिता विजने प्रोक्ता च–'सुभगे ! मृतभार्योऽहं, त्वद्दर्शनेन स्मरपीडितश्च, तद्दीयतां मे रतिदक्षिणा ।'

अन्येन दौरात्म्येन=दुष्टत्वेन वर्णितेन किम् ?–एकमेव निदर्शनमलं, यत्–स्वार्थसिद्धये रुषा स्व पुत्रमपि घ्नन्तीति ॥ ५७ ॥

नीरसायां=शुष्काया, क्रूरायाञ्च । बालिकाया=युवतौ,-बाल.=मूर्खो मुग्धो वा, विकल्पयेत्=निश्चिनुयात्, न पण्डित इत्यर्थ । गृहभङ्गः=पत्नीवियोग. । चित्तविश्लेष =मनोभेद. । तादृशं द्विगुणं=मत्तो द्विगुणं । जार =उपपति· ॥५९॥

हालिकदम्पती=कृषीवलमिथुनं । ('किसान स्त्रीपुरुष') । वृद्धभावात्=वार्धक्यात् । अन्यचित्ता=परपुरुषरता । स्थैर्य=स्थितिम् । परवित्तापहारकेण=परधनापहर्त्रा । धूर्तेन=वञ्चकेन ('ठग') । लक्षिता=ज्ञाता । विजने=एकान्ते ।

---

१. 'जले तिष्ठसि नग्निके' इति लिखितपुस्तकपाठः ।

ततस्तयाऽभिहितम्—'भोः सुभग ! यद्येवं तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं धनं, स च वृद्धत्वात्प्रचलितुमप्यसमर्थः । ततस्तद्धनमादायाऽहमागच्छामि, येन त्वया सहाऽन्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखमनुभविष्यामि ।' सोऽब्रवीत्—रोचते मह्यमप्येतत्, तत्प्रत्यूषेऽत्र शीघ्रमेव समागन्तव्यं, येन शुभतरं किञ्चिन्नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः सफलीक्रियते ।'

सापि 'तथा'—इति प्रतिज्ञाय प्रहसितवदना स्वगृहं गत्वा रात्रौ प्रसुते भर्तरि सर्वं वित्तमादाय प्रत्यूषसमये तत्कथितस्थानमुपाऽद्रवत् । धूर्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणां दिशमाश्रित्य सत्वरगतिः प्रस्थितः । एवं तयोर्व्रजतोर्योजनद्वयमात्रेणाऽग्रतः काचिन्नदी समुपस्थिता ।

तां दृष्ट्वा धूर्तश्चिन्तयामास—'किमहमनया यौवनप्रान्ते वर्तमानया करिष्यामि ? । किञ्च कदाप्यस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेष्यति, तन्मे महाननर्थः स्यात् । तत्केवलमस्या वित्तमादाय गच्छामि ।' इति निश्चित्य तामुवाच—'प्रिये ! सुदुस्तरेयं महानदी, तदहं द्रव्यमात्रं[1] पारे धृत्वा समागच्छामि, ततस्त्वामेकाकिनीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेनोत्तारयिष्यामि ।' सा प्राह—'सुभग ! एवं क्रियताम् ।' इत्युक्त्वाऽशेषवित्तं तस्मै समर्पयामास ।

अथ तेनाऽभिहितम्—'भद्रे ! परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय येन जलमध्ये निःशङ्का व्रजसि । तथाऽनुष्ठिते—धूर्तो वित्तं

मृतभार्य=मृतजाय । रतिदक्षिणा=सुरतसौख्यम् । प्रभूतं=बहुलम् । प्रत्यूषे=प्रभाते । ('तडकाळ') । जीवलोक सफलीक्रियते=मनुष्यजन्मफलं सुरतसुखमनुभवामि । तत्कथित=धूर्तनिर्दिष्टम् । उपाद्रवत्=पलायाञ्चक्रे, जगाम । योजन द्वयमात्रेण=क्रोशाष्टकानन्तरम् । यौवनप्रान्ते=यौवनसमाप्तौ । (ढलती उमर में) । पृष्ठत =पश्चाद्भागतोऽन्वेषयन् । अनर्थ. = राजदण्डादि. । द्रव्यमात्रं=धनं सकलम् । परिधानाच्छादनवस्त्र=धौतवस्त्रोत्तरीयवस्त्रयुगलमपि । तथानुष्ठिते=परि-

---

१ 'द्रव्यमात्रां' । पा० ।

वस्त्रयुगलं चाऽऽदाय यथाचिन्तितविषयं गतः। साऽपि कण्ठ-निवेशितहस्तयुगला सोद्वेगा नदीपुलिनदेशे उपविष्टा यावत्तिष्ठति, तावदेतस्मिन्नन्तरे काचिच्छृगालिका मांसपिण्डगृहीत-वदना तत्राऽऽजगाम। आगत्य च यावत्पश्यति, तावन्नदीतीरे महान्मत्स्यः सलिलान्निष्क्रम्य बहिः स्थित आस्ते। एनञ्च दृष्ट्वा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रत्युपाद्रवत्। अत्रान्तरे आकाशादावतीर्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय पुनः खमुत्पपात। मत्स्योपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश। सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रमवलोकयन्ती तया नग्निकया सस्मितमभिहिता—

'गृध्रेणाऽपहृतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः।
मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे! किं निरीक्षसि जम्बुकि!' ॥ ६० ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पतिधनजारपरिभ्रष्टां दृष्ट्वा सोपहासमाह—

'यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तव।
नाऽभूज्जारो न भर्ता च 'किं निरीक्षसि नग्निके?' ॥६१॥

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेणाऽऽगत्य निवेदितं, यत्–'अहो! त्वदीयं गृहमप्यपरेण महामकरेण गृहीतम्।'

तच्छ्रुत्वाऽसावतिदुःखितमनास्तं गृहान्निःसारितुमुपायं चिन्तयन्नुवाच–'अहो! पश्यत मे दैवोपहतत्वम्।—

'मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता।
गृहमन्येन च व्याप्तं किमद्यापि भविष्यति?॥ ६२ ॥

-धानवस्त्रादिप्रदाने कृते। यथाचिन्तितविषयं=स्वाभिलषितं देशम्। कण्ठनिवेशित-हस्तयुगला=स्तनयुगलपिधानार्थं कृतस्वस्तिकाकारहस्ता। नदीपुलिनदेशे=नदी-कूले। 'तोयोत्थितं तत्पुलिन'मित्यमरः। मांसपिण्डं गृहीतं वदने यया सा—मांसपिण्डगृहीतवदना। गृहीतमांसपिण्डिके'ति तु लिखितपुस्तके पाठ.। उपाद्रवत्=प्रत्युज्जगाम। तस्य=मकरस्य। दैवोपहतत्वं=दुरदृष्टकदर्थितत्वम्। क्षते=

---

१. 'जले तिष्ठसि नग्निके' इति लिखिते पाठ। २ 'दैवहतकत्वम्।३.'चाक्रान्त'। पा०।

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णमन्नक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति वामे विधौ सर्वमिदं नराणाम् ॥६३॥

तत्किं करोमि ?। किमनेन सह युद्धं करोमि। किं वा साम्नैव सम्बोध्य गृहान्निःसारयामि ?। किं वा भेदं दानं वा करोमि ?। अथवाऽमुमेव वानरमित्रं पृच्छामि ?। उक्तञ्च—

'यः पृष्ट्वा कुरुते कार्यं प्रष्टव्यान्स्वहितान्गुरून्।
न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि' ॥ ६४ ॥

एवं सम्प्रधार्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारूढं कपिमपृच्छत्-'भो मित्र ! पश्य मे मन्दभाग्यतां यत्-सम्प्रति गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धं, तदहं त्वां प्रष्टुमभ्यागतः। कथय किं करोमि ?। सामादीनामुपायानां मध्ये कस्यात्र विषयः ?।

स आह-'भोः कृतघ्न ! पापचारिन् ! मया निषिद्धोऽपि किं भूयो मामनुसरसि ?। नाहं तव मूर्खस्योपदेशमपि दास्यामि।'

तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह-'भो मित्र ! साऽपराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेशं देहि।' वानर आह-'नाहं ते कथयिष्यामि यद्भार्यावाक्येन भवताऽहं समुद्रे प्रक्षेप्तुं नीतः, तदेवं न युक्तम्। यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते। तन्मूर्ख ! मूढत्वेन नाशस्तव प्रागेव निवेदित आसीत्। यतः—

सतां वचनमादिष्टं मदेन न करोति यः।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम् ॥ ६५ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?। सोऽब्रवीत्—

९. घण्टोष्ट्रकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवसति

व्रणादौ। विधौ=दैवे ॥६३॥ प्रष्टव्यान्=प्रश्नयोग्यान्। विघ्नः=विपत्तिः। अनेन=शत्रुभूतमकरेण। घण्टोष्ट्र=बद्धघण्टः-उष्ट्र ॥६५॥ रथकारः=वर्द्धकिः। ('बढई'

स्म। स चातीव दारिद्र्योपहतश्चिन्तितवान्–'अहो! धिगियं दरिद्रताऽस्मद्गृहे। यतः सर्वोऽपि जनः स्वकर्मण्येव रतस्तिष्ठति। अस्मदीयः पुनर्व्यापारो नात्राधिष्ठानेऽर्हति–यतः सर्वलोकानां चिरन्तनाश्चतुर्भूमिका गृहाः सन्ति, मम एकमपि तन्नाऽस्ति। तत्किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम् ।'–इति चिन्तयित्वा देशान्निष्क्रान्तः। यावत्किञ्चिद्वनं गच्छति तावद्गह्वराकारवनगहनमध्ये सूर्यास्तमनवेलायां स्वयूथाद्भ्रष्टां प्रसववेदनया पीड्यमानामुष्ट्रीमपश्यत्। स[1] च दासेरकयुक्तामुष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखः प्रस्थितः। गृहमासाद्य रज्जुं गृहीत्वा तामुष्ट्रिकां बबन्ध। ततश्च तीक्ष्णं परशुमादाय तस्याः कृते पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गतः। तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्त्वा शिरसि समारोप्य तस्या अग्रे निचिक्षेप। तया च तानि शनैः शनैर्भक्षितानि। पश्चात्पल्लवभक्षणप्रभावादहर्निशं पीवरतनुरुष्ट्री सञ्जाता। सोऽपि दासेरको महानुष्ट्रः सञ्जातः। ततः स नित्यमेव दुग्धं गृहीत्वा स्वकुटुम्बं परिपालयति। अथ रथकारेण वल्लभत्वाद्दासेरकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा।

पश्चाद्रथकारो व्यचिन्तयत्–'अहो! किमन्यैर्दुष्कृतकर्मभिः, यावन्ममैतस्मादेवोष्ट्रीपरिपालनादस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम्, तत्किमन्येन व्यापारेण।' एवं विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह–

'खाती')। रतः=अनुरक्तः। अधिष्ठाने=नगरे। अर्हति=वर्द्धते। 'भर्वती'ति केचित्पठन्ति। तत्र च–'प्रवर्द्धते' प्रचलती'ति वाऽर्थः। चतुर्भूमिकाः=चतुस्तलाः। ('चौमंजिली हवेली)।

चिरन्तनाः=प्राचीनाः। 'बहव' इति केचित्पठन्ति। गह्वराकारवनगहनमध्ये=पर्वतगुहाकारारण्यगहनप्रदेशे। दासेरकः=उष्ट्रबालकः। (ऊँटका बच्चा 'टोडरिया')। परशु=परश्वधं। (फरसा)। 'अहर्निशं पल्लवभक्षणप्रभावात्पीवरतनु'रिति सम्बन्धः। ततः उष्ट्रयाः सकाशात्। वल्लभत्वात्=प्रियत्वात्। भव्यं=कल्याणं।

---

१. अत्र–'सा चाऽचिरादेकं दासेरकं सुषुवे।' इति पाठस्त्रुटितो भाति।

भद्रे ! समीचीनोऽयं व्यापारः, तव सम्मतिश्चेत्कुतोऽपि धनिकात्किञ्चिद्द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय। तावत्त्वयैतौ यत्नेन रक्षणीयौ—यावदहमपरामुष्ट्रीं नीत्वा समागच्छामि।' ततश्च गुर्जरदेशं गत्वोष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहमागतः। किं बहुना—तेन तथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्र्यः करभाश्च सम्मिलिताः। ततस्तेन महदुष्ट्रयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः। तस्य प्रति वर्षं वृत्त्या करभमेकं प्रयच्छति। अन्यच्चाऽहर्निशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम्। एवं रथकारोऽपि नित्यमेवोष्ट्रीकरभव्यापारं कुर्वन्सुखेन तिष्ठति।

अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवने आहारार्थं गच्छन्ति। कोमलवल्लीर्यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा सायन्तनसमये मन्दं मन्दं लीलया गृहमागच्छन्ति। स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात्पृष्ठे आगत्य मिलति। ततस्तैः कलभैरभिहितम्—'अहो ! मन्दमतिरयं दासेरको—यथा यूथाद्भ्रष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वादयन्नागच्छति। यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यति।

अथैकदा तैरसकृदेव निषिद्धः सन्नपि स तद्वचने कर्णमदत्त्वैव मदातिरेकाद्घण्टां वादयन् वनं प्रविष्टः। इत्थं तस्य तद्वन गाहमानस्य तत्रस्थः कश्चित्सिंहो घण्टारवमाकर्ण्य शब्दानुसारेण दृष्टिं निपात्य अवलोकयति,—यदुष्ट्रीदासेरकाणां यूथं गच्छति। स तु पुनः प्रतिदिवसमिव पृष्ठे क्रीडां कुर्वन्वल्लरीश्चरन् यावत्तिष्ठति, तावदन्ये दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः। ततसोऽपि वनान्निष्क्रम्य यावद्दिशोऽवलोकयति, तावन्न कश्चिन्मार्गं पश्यति, वेत्ति वा। यूथाद्भ्रष्टो मन्दं मन्दं बृहच्छब्दं कुर्वन्याव-

---

सुख सम्पत्। करभा =शिशव उष्ट्रा । रक्षापुरुष =रक्षक ('रखवाल' जमादार')। वृत्ति.=भृति ('तनखाह')। निरूपितं=निर्दिष्टम् (ठहरा दिया)। वल्ली.=लता । लीलया=क्रीडया। पूर्वदासेरक =प्रथम करभक । मदातिरेकात्=गर्वात्। पृष्ठे=पश्चात्। (पीछे से) असकृत्=वारंवारम्। कर्णमदत्त्वा=अश्रुत्वैव। क्रमं

त्कियद्दूरं गच्छति, तावत्तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रम कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः।

ततो यावदुष्ट्रः समीपमागतः, तावत्सिंहेन झम्पयित्वा, ग्रीवायां गृहीतो, मारितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि-'सतां वचनमादिष्टम्—' इति। अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—'भद्र!

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं जनाः शास्त्रविचक्षणाः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद्वक्ष्यामि तच्छृणु॥ ६६॥
उपदेशप्रदातॄणां नराणां हितमिच्छताम्।
परस्मिन्निह लोके च व्यसनं नोपपद्यते॥ ६७॥

तत्सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादमुपदेशप्रदानेन।

उक्तञ्च—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः?।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते'॥ ६८॥

तदाकर्ण्य वानरः प्राह—'भद्र! यद्येवं तर्हि तत्र गत्वा तेन सह युद्धं कुरु। उक्तञ्च—

'हतस्त्वं प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन्गृहमथो यशः।
युध्यमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम्॥ ६९॥
उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्ति पराक्रमैः॥ ७०॥

मकरः प्राह—'कथमेतत्?'। सोऽब्रवीत्—

१०. शृगाल-सिंह-व्याघ्र-चित्रकथा

आसीत्कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे महाचतुरको नाम शृगालः। तेन

कृत्वा=आक्रमणसन्नाहं कृत्वा। झम्पयित्वा=कूर्दयित्वा। ('कूद कर' 'झपट कर')। हितं=परहितम्। व्यसनं=दुःखम्॥ ६७॥ तेन=शत्रुणा मकरेण। उत्तमं=श्रेष्ठं, महाबलं शत्रुम्। प्रणिपातेन=नम्रतया। शूरं=मध्यमं। भेदेन=उपजापेन। समशक्तिं=समानं। पराक्रमैः=युद्धादिभिः। योजयेद्=साधयेत्॥ ७०॥

कदाचिदरण्ये स्वयं मृतो गजः समासादितः । तस्य समन्तात्परिभ्रमति, परं कठिनां त्वचं भेत्तुं न शक्नोति । अथात्राऽवसरे इतश्चेतश्च विचरन्कश्चित्सिंहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ । अथ सिंहं समागतं दृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयमुवाच 'स्वामिन् !, त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितस्त्वदर्थं गजमिमं रक्षामि, तदेनं भक्षयतु स्वामी ।'

तं प्रणतं दृष्ट्वा सिंहः प्राह—'भोः ! नाहमन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्षयामि । उक्तञ्च—

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥७१॥

तत्तवैव गजोऽयं मया प्रसादीकृतः ।' तच्छ्रुत्वा शृगालः सानन्दमाह-'युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु ।

उक्तञ्च यतः—

अन्त्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्नो जहाति शुद्धतया ।
न श्वेतभावमुज्झति शङ्खः शिखिभुक्तमुक्तोऽपि' ॥७२॥

अथ सिंहे गते कश्चिद्व्याघ्रः समाययौ । तमपि दृष्ट्वाऽसौ व्यचिन्तयत्—'अहो ! एकस्तावद्दुरात्मा प्रणिपातेनाऽपवाहितः, तत्कथमिदानीमेनमपवाहयिष्यामि ? । नूनं शूरोऽयं, न खलु भेदं विना साध्यो भविष्यति ।

समन्तात्=चतसृषु दिक्षु । पर=परन्तु । क्षितितले निहितं=स्थापितं मौलिमण्डलं येनासौ तथा,=कृतप्रणाम. । संयोजितकरयुगलः=बद्धाञ्जलि । लागुडिकः=रक्षकपुरुषः । ('लठैत' 'जमादार') । मृगमांसं भक्ष्यं येषान्ते-तथाभूताः । चरन्ति=भक्षयन्ति ॥ ७१ ॥

प्रसादीकृतः=प्रसन्नेन प्रदत्तः । अन्त्यावस्थः-कष्टां दशाम्प्राप्तः । स्वामिगुणान्=दयादाक्षिण्यादीन् । शुद्धतया=स्वच्छतया, सत्कुलप्रसूततया च । शिखिभुक्तमुक्तोपि=वह्नौ प्रदग्धोऽपि । भस्मीभूतोपि । शङ्खवत् । शङ्खभस्मापि श्वेतमेव भवतीत्याशयः ॥ ७२ ॥ असौ=जम्बुकः । एक =सिंहः । अपवाहित =दूरीकृतः ।

उक्तञ्च यतः—

न यत्र शक्यते कर्तुं साम दानमथापि वा ।
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः ॥ ७३ ॥

किञ्च—सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन बध्यते ।

उक्तञ्च यतः—

अन्तस्थेनाऽविरुद्धेन सुवृत्तेनाऽतिचारुणा ।
अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनाऽपि बन्धनम् ॥ ७४ ॥

एवं सम्प्रधार्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वादुन्नतकन्धरः ससम्भ्रममुवाच—'माम ! कथमत्र भवान्मृत्युमुखे प्रविष्टः । येनैष गजः सिंहेन व्यापादितः, स च मामेतद्रक्षणे नियुज्य नद्यां स्नानार्थं गतः । तेन च गच्छता मम समादिष्टम्—'यदि कश्चिदिह व्याघ्रः समायाति, तर्हि त्वया सुगुप्तं ममावेदनीयं येन वनमिदं मया निर्व्याघ्रं कर्तव्यम् । यतः—पूर्वं व्याघ्रेणैकेन मया व्यापादितो गजः शून्ये भक्षयित्वोच्छिष्टतां नीतः । तद्दिनादारभ्य व्याघ्रान्प्रति प्रकुपितोऽस्मि' । तच्छ्रुत्वा व्याघ्रः सन्त्रस्तस्तमाह–'भो भागिनेय ! देहि मे प्राणदक्षिणाम् । त्वया तस्यात्र चिरायातस्यापि मदीया काऽपि वार्ता नाख्येया ।'

एवमभिधाय सत्वरं पलायाञ्चक्रे ।

अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चिद् द्वीपी समायातः । तमपि दृष्ट्वाऽसौ व्यचिन्तयत्—'दृढदंष्ट्रोऽयं चित्रकः, तदस्य पार्श्वादस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि । एवं निश्चित्य तमप्युवाच–'भो भगिनीसुत ! किमिति चिराद्दृष्टोऽसि ? ।

अन्तःस्थेन=अभ्यन्तरस्थेन, अन्तरङ्गेण च । सुवृत्तेन=सुशीलाचारेण, वर्तुलेन च । अन्तर्भिन्नेन=भेदमाप्तेन । सच्छिद्रेण च ॥ ७४ ॥

उन्नतकन्धरः=गर्वोद्धुरग्रीवः । 'शिरोधिः कन्धरा ग्रीवे'त्यमर । मृत्युमुखे=सङ्कटे । (मौतके मुख में) । निर्व्याघ्रं=व्याघ्रशून्यम् । शून्ये=एकान्ते । तस्य=सिंहस्य । चिरायातस्य=कदाचिदपि समायातस्य । आख्येया=कथनीया । पलायाञ्चक्रे=पलायितः । द्वीपी=शार्दूलः । ('चीता') । दृढदंष्ट्रः=तीक्ष्णदन्तः ।

कथञ्च बुभुक्षित इव लक्ष्यते ? । तदतिथिरसि मे । उक्तञ्च-'समयाभ्यागतोऽतिथिः ।' तदेष गजः सिंहेन हतस्तिष्ठति-अहञ्चास्य तदादिष्टो रक्षपालः । परं तथापि यावत्सिंहो न समायाति, तावदस्य गजस्य मांसं भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं व्रज ।

स आह—माम ! यद्येवं तन्न कार्यं मे मांसाशनेन । यतः-'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति ।'

उक्तञ्च—

यच्छक्यं ग्रसितुं शस्तं, ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ ७५ ॥

सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति, तदहमितोऽपयास्यामि ।' शृगाल आह—'भो अधीर ! विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्व, तस्याऽऽगमनं दूरतोऽपि तवाऽहं निवेदयिष्यामि ।'

तथाऽनुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय जम्बूकेनाऽभिहितम्-'भो भगिनीसुत ! गम्यताम्, एप सिंहः समायाति ।' तच्छ्रुत्वा चित्रको दूरं प्रनष्टः ।

अथ यावदसौ तद्भेदकृतद्वारेण किञ्चिन्मांसं भक्षयति ताव दतिसङ्क्रुद्धोऽपरः शृगालः समाययौ । अथ तमात्मतुल्यपराक्रमं दृष्ट्वेनं श्लोकमपठत्—

'उत्तमं प्रणिपातेन, शूरं भेदेन योजयेत् ।
नीचमल्पप्रदानेन, समशक्तिं पराक्रमैः' ॥ ७६ ॥

ततश्च तदभिमुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिस्तं विदार्य दिगन्त-

पार्श्वात्=सनिधानात् ('इसके पास से') । रक्षपाल=रक्षक । ('रखवाला') । 'रक्षापाल' इति केचित्पठन्ति । भद्रशतानि पश्यति=आनन्दशतान्यनुभवति । विश्रब्ध=विश्वस्त । तस्य=सिंहस्य । तथानुष्ठिते=चित्रकेण त्वचं संखण्ड्य गजमासभक्षणे प्रारब्धे । प्रनष्टः—पलायित । प्रकृते-उत्तमः सिंह; व्याघ्र—शूर नीच-चित्रक, शृगाल, सम इति ध्येयम् ॥ ७६ ॥

---

१. 'दिशां भागं कृत्वे'ति क्वचित्पाठ. । तत्र-दिशां भागं=बलिं,कृत्वा-तं हत्वेत्यर्थः।

भाजं कृत्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमांसं बुभुजे। ❀

एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिगन्त-भाजं कुरु, नो चेत्पश्चाद्बद्धमूलादस्मात्त्वमपि विनाशमवाप्स्यसि।

उक्तञ्च यतः—

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं, सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं स्त्रीषु चापल्यं, सम्भाव्यं जातितो भयम् ॥७७॥
सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ७८ ॥

मकर आह–'कथमेतत् ?'। वानरोऽब्रवीत्–

११. विदेशगतसारमेयकथा।

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्राङ्गो नाम सारमेयः। तत्र चिरकालं दुर्भिक्षं पतितम्। अन्नाऽभावात्सारमेयादयो निष्कु-लतां गन्तुमारब्धाः। अथ चित्राङ्गः क्षुत्क्षामकण्ठस्तद्भयाद्देशा-न्तरं गतः। तत्र च कस्मिंश्चित्पुरे कस्यचिद्गृहमेधिनो गृहिण्याः प्रमादेन प्रतिदिनं गृहं प्रविश्य विविधान्यन्नानि भक्षयन्परां तृप्तिं गच्छति। परं तद्गृहाद्बहिर्निष्क्रामन्नन्यैर्मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गं दंष्ट्राभिर्विदार्यते। ततस्तेन विचिन्तितम्–'अहो! वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते, न च कोऽपि युद्धं करोति, तदेवं स्वनगरं व्रजामि'–इत्यवधार्य स्वस्थानं प्रति जगाम।

तदभिमुखकृतप्रयाण.=शृगालाभिमुखं युद्धाय चलितः। तं=शृगालम्। दिगन्तभाजं=दूरं निस्सारितम्। त्वम्=मकरः। बद्धमूलात्=स्थिरीभूतात्। सम्पन्नं=सम्पत्तिः, धनम्। सम्भाव्यं=सम्भावनीयम्। तर्कणीयमिति यावत्। ॥७७॥ विचित्राणि=अतिभूमिङ्गतानि। सुभिक्षाणि=अन्नादिसम्पत्तिः। शिथिलाः= अन्नादिरक्षणे उदासीनाः। (लापरवाह)। पौरयोषित.=नगरवासिस्त्रियः। स्वजातिः=आत्मीय एव कुक्कुरादिः ॥ ७८ ॥

सारमेय.=कुक्कुरः। तत्र=अधिष्ठाने। निष्कुलतां=वंशनाशं। तद्भयात्=

अथाऽसौ देशान्तरात्समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः—'भोश्चित्राङ्ग ! कथयाऽस्माकं देशान्तरवार्ताम्। कीदृग्देशः ?'। किं चेष्टितं लोकस्य ?। क आहारः ?। कश्च व्यवहारस्तत्र'—इति। स आह—'किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषये ?।

सुभिक्षाणि विचित्राणि, शिथिलाः पौरयोषितः।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते' ॥ ७९ ॥

सोऽपि मकरस्तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरमनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः। तत्र च (तेन) स्वगृहप्रविष्टेनाऽऽततायिना सह विग्रहं कृत्वा, दृढसत्त्वावष्टम्भाच्च तं व्यापाद्य, स्वाश्रयं च लब्ध्वा, सुखेन चिरकालमतिष्ठत्। साध्विदमुच्यते—

अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयाऽपि भोग्यया[1] ?।
जरद्गवः[2] समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८० ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम

❀ चतुर्थं तन्त्रम् ❀

दुर्भिक्षभयात्। गृहमेधिनः=गृहस्थस्य। प्रमादेन=अनवेक्षणेन। स्वरूपविषयः=स्वरूपम्। 'स्वरूपविषये' इति गौडाः पठन्ति। अनुज्ञाप्य=आपृच्छ्य। ('पूछ कर' 'आज्ञा लेकर')। आततायिना=परद्रव्यापहारकेण दस्युना। विग्रहं=युद्धम्। दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च=दार्ढ्यावलम्बनाच्च। या श्रीः—इत्यस्य—'लभ्यते' इति शेषः। जरद्गवः=वृद्धवृष। (बूढा बैल)। उपनतं=लब्धम् ॥ ८० ॥

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायामभिनवराजलक्ष्म्यां
पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रम्।

---

१. 'तयाऽलसभोग्यया'—इति—पाठान्तरम्। २ 'कुरङ्गोपी'ति पाठान्तरम्।

अथ अपरीक्षितकारकम्

अथेदमारभ्यतेऽपरीक्षितकारकं[1] नाम पञ्चमं तन्त्रम् । यस्याऽयमादिमः श्लोकः—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं[2] कुश्रुतं[3] कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृतम् ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रूयते-अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम नगरम् । तत्र मणिभद्रो[4] नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म । तस्य च धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशाद्धनक्षयः संजातः ।

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता अभिनवराजलक्ष्मीः ।

लोलल्लोलम्बझङ्कारपूरिताशाकदम्बकम् ।
वन्दे भूतिसितं सन्ध्यारुणं गाणपतं महः ॥१॥
नुमोऽनवद्यसद्धृद्यविद्योद्योतितदिङ्मुखान् ।
मरुमण्डलमार्तण्डस्नेहिरामाभिधान् गुरून् ॥२॥

न परीक्षितम्-अपरीक्षितम्, अपरीक्षितस्य कारकः-अपरीक्षितकारकः । तमधिकृत्य कृतञ्च प्रकरणम्-उपचारात्-अपरीक्षितकारकम् । तन्त्रं=प्रकरणं । यस्य=अपरीक्षितकारकस्य । अयं=वक्ष्यमाण. 'कुदृष्ट'मित्यादिः । कुदृष्टं=न तत्त्वतो दृष्टं । कुपरिज्ञातं=न यथावद्विचारितं । कुश्रुतं=न सम्यगाकर्णितं । कुपरीक्षितं=न यथावत् निर्णीतं । तत्=ईदृशं कर्म, यथा नापितेन कृतं तथा । नरेण=विदुषा पुरुषेण । न कर्त्तव्यं=नाचरणीयम् । किन्तु विदुषा विचार्यैव कार्यं करणीयमित्यर्थः ॥ १ ॥

यथा=येन प्रकारेण । अनुश्रूयते=कर्णाकर्णिकया वृद्धपरम्परया श्रूयते ।

जनपदे=देशे । 'भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयो.' इति विश्वः । श्रेष्ठी=धनी । तस्य=श्रेष्ठिनः । धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च ते, तेषां कर्माणि=यज्ञ-

---

१ 'अपरीक्षितकारित' । २ 'कुमतिज्ञातम्' । ३ 'कुकृतम्' । ४ 'माणिभद्र' इति पाठा० ।

ततो विभवक्षयादपमानपरम्परया परं विषादं गतः। अथान्यदा रात्रौ सुप्तश्चिन्तितवान्–'अहो धिगियं दरिद्रता। उक्तं च—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥ २ ॥
मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा।
सर्वं प्रणश्यति समं-वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥
प्रतिदिवसं याति लयं वसन्तवाताहतेव शिशिरश्रीः।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥
नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य।
घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

दान-वाणिज्योपभोगादीनि। विधिवशात्=भाग्यस्य विपर्ययात्। 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधि' इत्यमर। धनक्षय=धनविनाश, दारिद्र्यम्।

अपमानपरम्परया=बन्धुबान्धवज्ञातिलोककृतया नानाविधतिरस्कारसन्तत्या। परम्=अत्यन्तं। विषादम्=दु खम्। गत=प्राप्त। अथ=शनैर्गच्छति काले। अन्यदा=कस्मिंश्चित्काले। धिगिति। यत इयम्=ईदृशी दरिद्रता मया प्राप्ता, अतो मा धिक्–इत्यध्याहारेण योजनीयम्। उक्तम्=कथितञ्च। 'प्रामाणिकै'रिति शेष।

उक्तमेवाह–शीलमित्यादि। शीलं–शुभाचार। शौचं=पवित्रता। क्षान्ति= क्षमा। दाक्षिण्यम्=उदारता। मधुरता=मधुरभाषित्वं। कुले=सत्कुले। वित्तविहीन-स्य=धनरहितस्य दरिद्रस्य ॥ २ ॥ मानो वेति। मान=चित्तसमुन्नति। दर्प= अभिमान। विज्ञानं=शिल्पकलाकौशलं, प्रौढं पाण्डित्यञ्च। विभ्रम=निर्भ्रान्तत्वं, विलासो वा। समं=युगपदेव। वित्तविहीन=निर्धन ॥ २ ॥

प्रतीति। वसन्तवातेन=वसन्तर्तुभवेन मरुता। आहता=ताडिता, शिशिर-श्रीरिव=शिशिरर्तुशोभेव। ('जाडा')। बुद्धिमतामपि–बुद्धिः=कुटुम्बभर-चिन्तया=कुटुम्बपालनायासखेदेन। प्रतिदिवसं=प्रत्यहं, शनै शनै। लयं= विनाशं–याति=गच्छति ॥ ४ ॥

विपुलमते=विशालबुद्धे पण्डितस्यापि पुरुषस्य। मन्दविभवस्य=निर्धनस्य। प्रकृते घृतादिकं-कुटुम्बोपकरणमात्रोपलक्षणम् ॥ ५ ॥

---

१ 'प्रतिदिनमुपैति विलयं'–पाठान्तरम्।

गगनमिव नष्टतारं, शुष्कमिव सरः, श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्षं भवति गृहं धनविहीनस्य ॥ ६ ॥
न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।
सततं जातविनष्टाः पयसामिव बुद्बुदाः पयसि ॥ ७ ॥
सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।
आढ्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥
विफलमिह पूर्वसुकृतं, विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्भूताः ।
यस्य यदा विभवः स्यात्तस्य तदा दासतां यान्ति ! ॥ ९ ॥
'लघुरय'माह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।
सर्वमलज्जाकरमिह यद्यत्कुर्वन्ति परिपूर्णाः' ॥१०॥

नष्टतारं=विलुप्तनक्षत्रशोभं-गगनाङ्गणमिव । गृहपक्षे-नष्टतारं=नष्टशोभम् । शुष्कं=गतजलं, सर इव=जलाशय इव, रौद्रं=भीषणं । प्रियदर्शनं=सुन्दरम् । रूक्षम्=अजातसंस्कारम् , अशोभनञ्च सौभाग्यरहितञ्च । धनविहीनस्य= दरिद्रस्य ॥ ६ ॥

विभाव्यन्ते=परिचीयन्ते । वित्तविहीना अतएव-लघवः=तुच्छाः, पुरोऽपि= अग्रेऽपि, निवसन्तः=तिष्ठन्तः । जातविनष्टाः=उत्पन्नविनष्टाः । पयसि=जले पयसां बुद्बुदा इव । ॥ ७ ॥ कुशलं=प्रवीणं, सुजनं=सुशीलं, विकले=रहिते, आढ्ये= धनशालिनि जने, रज्यन्ति=प्रसीदन्ति । जननिवहाः=लोकसमूहाः ॥८॥ पूर्वसुकृतं =प्रयत्नेन पूर्वं कृतमपि पुण्यं । विफलं=नेह सहायतां करोति । यतः-विद्यावन्तः= कृतश्रमाः तपस्विनः, यस्य-मूर्खस्यापि विभवः=धनं स्यात्तस्य दासतां यान्ति= तमाश्रयन्ते । अधीतविद्या अपि निर्धनं जडमपि धनिनमाश्रयन्ते इति पूर्वो- पार्जितं तपोविद्यादिकं सकलमत्र विफलमेवेत्याशयः ॥ ९ ॥

कामं=यथेच्छं, गर्जन्तं=स्वगौरवोन्मत्तम् , निर्भयं । पयसां जलाना, पतिं= नाथं- मेघं, समुद्रं वा । लोकाः=जनाः, अयं लघुः=क्षुद्रोऽयं मेघः, इत्थं न नैव आह= न कथयति, न तं निन्दतीत्यर्थः। परिपूर्णाः=धनिनः, पूर्णाश्च । इह=लोके । यद्यत्कुर्वन्ति तत्तेषां न लज्जां करोति । अनुचितमपि कुर्वन्तो धनिनो लोके न लज्जन्ते, लोका अपि च न तं निन्दन्ति-इत्यहो ! धनमहिमेत्याशयः ॥ १० ॥

---

१ 'विरस इति हसति न जनः' । पा० ।

एवं संप्रधार्य भूयोऽप्यचिन्तयत्–'तदहमनशनं कृत्वा प्राणानुत्सृजामि, किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन ? ।'

एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः ।

अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपी दर्शनं दत्वा प्रोवाच-'भोः श्रेष्ठिन् ! मा त्वं वैराग्यं गच्छ । अहं पद्मनिधिस्तव पूर्वपुरुषोपार्जितः । तदनेनैव रूपेण प्रातस्त्वद्गृहमागमिष्यामि । ततस्त्वयाऽहं लगुडप्रहारेण शिरसि ताडनीयः, येन कनकमयो भूत्वा-अक्षयो भवामि ।'

अथ प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्नं स्मरंश्चिन्ताचक्रमारूढस्तिष्ठति-'अहो ! सत्योऽयं स्वप्नः, किंवा असत्यो भविष्यति ?, न ज्ञायते । अथवा नूनं मिथ्याऽनेन भाव्यम्, यतोऽहमहर्निशं केवलं वित्तमेव चिन्तयामि । उक्तञ्च—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेनाऽथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

एवम्=इत्थं । सम्प्रधार्य=निश्चित्य । भूयोऽपि=पुनरपि । तत्=यतो दरिद्रस्य जीवनं धिक् अत,-प्राणान्=जीवनम्, उत्सृजामि=त्यजामि । 'उज्झामी'-ति पाठान्तरम् । नः=अस्माकं, व्यर्थं=निरर्थकं यत् जीवनं तस्मिन् व्यसनम्=उत्कटेच्छा । तदेव व्यसनमिति वा । एवं निश्चयं=मरणनिश्चयम् । पद्मनिधिः=पद्माख्यो निधिभेदः । (निधि=खजाना) । क्षपणकः=जैन-बौद्ध-संन्यासी । श्रेष्ठिन्=हे साधो ! । वैराग्यं=जीवने औदासीन्यम् । पूर्वैः पुरुषैः=पितृपितामहादिभिः । उपार्जितः=वाणिज्येन सञ्चितः । तत्=तस्मात् । अनेन रूपेण=क्षपणकरूपेण । येन=ताडनेन । कनकमयः=सुवर्णमयः । अक्षयः=बहुशो व्यये कृते सत्यपि अविनाशी । भवामि=भविष्यामि । वर्तमानसामीप्ये लट् ।

अथ=स्वप्नानन्तरं । चिन्ताचक्रं=चिन्तापरम्पराम् । आरूढः=अधिरूढः, प्राप्तः । चिन्तातुर इति यावत् । वित्तं=धनम् ।

व्याधितेनेति । व्याधितेन=रुग्णेन । सशोकेन=शोकाकुलेन । चिन्ताग्रस्तेन=चिन्तातुरेण। जन्तुना=मनुष्येण । मत्तेन=मद्यादिना उन्मत्तेन । निरर्थकः

एतस्मिन्नन्तरे तस्य भार्यया[1] कश्चिन्नापितः पादप्रक्षालनाय आहूतः। अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव।

अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना आसन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत्। सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणाद्भूमौ निपतितः।

अथ तं स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच–'तदेतद्धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण। भद्र! कस्यचिन्नाख्येयोऽयं वृत्तान्तः।'

नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयत्–'नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रातः प्रभूतानाहूय लगुडैः शिरसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति'। एवं चिन्तयतो महता कष्टेन निशा व्यतिचक्राम।

अथ प्रभातेऽभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेकं प्रगुणीकृत्य, क्षपणकविहारं गत्वा, जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय, जानुभ्यामवनिं

=निष्फल. ॥ ११ ॥ अन्तरे=मध्ये। तस्य=श्रेष्ठिनः। पादप्रक्षालनाय=पादशौचाय, पादरञ्जनाय च। माङ्गलिकेषु कृत्येषु नखरञ्जनाय च नापिताः सौभाग्यवतीनां प्राघुणिकानाञ्च जलेन पादप्रक्षालनं कुर्वन्तीति लौकिकम्। (पादप्रक्षालनं=पैर पखारना, या नहछू)।

यथानिर्दिष्टः=पूर्वं स्वप्ने दृष्टः सः=श्रेष्ठी, तं=पद्मनिधिं। प्रहृष्टमना =प्रसन्नः सन्। यथासन्नकाष्ठदण्डेन=निकटवर्तिदारुदण्डेन। तं=क्षपणकं। तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले। निभृतं=सुगूढं। कृत्वा=निधाय। सन्तोष्य=धनादिना पुरस्कृत्य। तदेतत्=पुरतो दृष्टं। भद्रः! साधो! पुन =किन्तु। नाख्येय =न कथनीय.। नूनम्=अवश्यं। नग्नकाः=क्षपणकाः। प्रभूतान्=प्रचुरान्। प्रभूतं=विपुलं। हाटकं=सुवर्णं। चिन्तयतः=विचारयतो नापितस्य। महता कष्टेन अतिकष्टेन कथञ्चित्। व्यतिचक्राम=व्यतीयाय।

प्रगुणीकृत्य=सज्जीकृत्य। क्षपणकविहार.=बौद्ध–जैनभिक्षुनिवासभूतो मठः। जिनेन्द्रस्य=बुद्धस्य जिनस्य च प्रतिमायाः। वक्त्रद्वारे न्यस्तमुत्तरीयस्याऽञ्चलं येन स.=उत्तरीयैकदेशविहितमुखप्रदेशः। एषा हि जैनादिमतसिद्धा

---

1 'भार्याया· कश्चिन्नापित. पादप्रक्षालनायागतः।' पा०।

गत्वा, वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलस्तारस्वरेणेमं श्लोकमपठत्—

जयन्ति[2] ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम् ।
आ जन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोपरायितम्[3] ॥ १२ ॥

अन्यच्च—

सा जिह्वा या जिनं स्तौति, तच्चित्तं यज्जिने रतम् ।
तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ १३ ॥

तथा च—

'ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षु' क्षणं
पश्याऽनङ्गशरातुरं जनमिमं, त्रातापि नो रक्षसि ! ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्य. पुमान्'
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बौद्धो जिन' पातु वः ॥ १४ ॥

सन्मानप्रदर्शनरीतिरद्यापि जागर्त्ति । जीवहिंसाभयेन च ते क्षपणका मुखे चेलाञ्चलं दधतीत्यपि प्रसिद्धमेव । तारस्वरेण=उच्चस्वरेण । इमं=वक्ष्यमाणम् ।

'सर्वथाऽऽवरणविलये चेतनस्वरूपाविर्भाव.-केवलम्' इति हेमचन्द्र । तादृशनिर्मलज्ञानेन शालन्ते=शोभन्ते तच्छीलानाम् । आजन्मन =जन्मत आरभ्य । स्मरोत्पत्तौ=कामवासनारूपाङ्कुरोत्पत्तौ। ऊपरइवाचरितम् ऊषरायितम्। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका' इत्यमर । (ऊषर.=बीजाङ्कुरोत्पत्त्यनर्हा भू ।) कामकल्मषलेशशून्यमनस इति यावत् ॥ १२ ॥

तस्य=जिनस्य । पूजा कुरुतस्तच्छीलौ—तत्पूजाकरौ । करौ=हस्तौ ॥१३॥

ध्यानेति । ध्यानस्य व्याज =छलम् । उपेत्य=आश्रित्य । कां स्वमनोहरा=वामलोचना, चिन्तयसि ? । अस्माननादृत्येति शेष । क्षणं=क्षणमात्र चक्षु=लोचनम् । उन्मील्य=उद्घाट्य । अनङ्गशरातुरं=कामबाणाहतम् । इमं जनम्=अस्मान्–पश्य । त्राता=रक्षकोऽपि त्वं, नो = नैव । यतो न रक्षसि । अत –मिथ्यैव कारुणिक =दयालु. । किन्तु दयालुभूमिकाप्रतिच्छन्नो निर्घृणतर.=निर्दयशिरोमणि । कुत'=कुत्र । इति=इत्थम् । ईर्ष्यया सहितं यथा स्यात्तथा–सेर्ष्यं । मारवधूभि =कामकदर्थिताभिरप्सरोभि. । बुद्धसमाधिभङ्गाय समागताभि कामसेनासमवेताभिरप्सरोभिरिति वा । अभिहित =अधिक्षिप्त । बुद्ध एव बौद्ध –

---

१ 'पल्लव' । २ 'ते जयन्ति' । ३ 'मनोभवाभिधे बीजे मानसेनोषरायितम्' । पा०

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकमासाद्य क्षितिनिहितजानुचरणः,-'नमोऽस्तु', 'वन्दे' इत्युच्चार्य लब्धधर्मवृद्ध्याशीर्वादः-[1]सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह-'भगवन्! अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेनास्मद्गृहे कर्तव्या।'

स आह-'भोः श्रावक! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि?, किं वयं ब्राह्मणसमानाः, यत आमन्त्रणं करोषि?। वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियां कुर्मः। तद्गम्यताम्, नैवं भूयोऽपि वाच्यम्।'

तच्छ्रुत्वा नापित आह-'भगवन्!, वेद्मि-अहं युष्मद्धर्मम्, परं भवतो बहवः श्रावका आह्वयन्ति। साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि, तथा पुस्त-

तद्भक्तो वा बौद्धः, सर्वज्ञो वा। जिनः=अर्हन्। वः=युष्मान् उपासकान्, रङ्गस्थान् सभासदो वा-पातु। प्रधानक्षपणकः=भिक्षुमुख्यः। जानुनी च चरणौ च जानुचरणं, क्षितौ निहितं जानुचरणं येनासौ-क्षितिनिहितजानुचरणः=भूतललग्नजानुपादप्रान्तः। लब्धो-धर्मवृद्धेराशीर्वादो येनासौ तथा। सुखमालिकया=तन्मतप्रसिद्धया सूत्रमय्या चामरयष्ट्या योऽनुग्रहस्तेन लब्धः=प्राप्तो व्रतस्य आदेशः=उपदेशो येनासौ-सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेशः। उत्तरीयेण निबद्धो ग्रन्थिर्येनासौ तथा=गलावलम्बितदुकूलदत्तग्रन्थिः। विनीतवेष इति यावत्। सप्रश्रयं=सविनयम्। विहरणक्रिया=भोजनान्वेषणाय भिक्षूणां गमनं, भोजनं वा। मुनिः=भिक्षुः। सः=भिक्षुमुख्यः। श्रावकः=जिनभक्त.। आमन्त्रणं=भोजनार्थं निमन्त्रणम्। तत्कालपरिचर्यया=भोजनकालोचितविहारेण। तेन=श्रावकेण। कृच्छ्रात्=कष्टेन बहुशः। अभ्यर्थिताः=प्रार्थिता.। तद्गृहे=श्रावकभवने। प्राणधारणमात्रां=शरीरयात्रोचिताम्। अशनक्रियां=भोजनं। भूयोऽपि=पुनरपि। युष्मद्धर्मम्=भिक्षुसमाचारम्। भवतः=युष्मान्। आह्वयन्ति=भोजनाय प्रार्थयन्ते। पुनः=

१ सुखमालिका=स्वमनस्तोषाय प्रधानक्षपणकेन धारिता सुमनोमाला इति वा। 'शुष्कमालिके'ति 'पुष्पमालिकात्यागलब्धे'ति च पाठान्तरम्।

कानां लेखनाय लेखकानाञ्च वित्तं सञ्चितमास्ते। तत्सर्वथा कालोचितं कार्यम्।'

ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः। तत्र च गत्वा खादिरमयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारि समाधाय, सार्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारमाश्रित्य सर्वान्क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहमानयत्। तेऽपि सर्वे कर्पट-वित्त-लोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान्परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः। अथवा साध्विदमुच्यते-

एकाकी गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
सोऽपि संवाह्यते लोके, तृष्णायाः पश्य कौतुकम्!॥१५॥
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते, तृष्णैका तरुणायते॥१६॥

अपरं-गृहमध्ये तान् प्रवेश्य द्वारं निभृतं पिधाय लगुड-

किन्तु। साम्प्रतम्=इदानी। मया पुस्तकाच्छादनयोग्यानि=वेष्टनार्हाणि। कर्पटानि=चीवराणि। प्रगुणीकृतानि=स्वगृहे सञ्चितानि, सज्जीकृतानि वा। लेखकाना=युष्मदर्थं पुस्तकलेखकाना। तेभ्यो भृतिरूपेण देयमिति यावत्। सञ्चितं=पृथक्कृत्य राशिभावेन स्थापितं। प्रभूततमन्धनमिति तत्त्वम्। तत्=तस्मात्। कालोचितं=समयोचितं। कार्यं=विधेयम्।

खादिरमयं=खादिरकाष्ठमयं। सुदृढम्। लगुडं=महान्तं दण्डम्। समाधाय=उद्घाट्य। जैनश्रावकाचार एषः। गमनावसरोचितत्वात् कपाटं पिधायेति वाऽर्थं कार्यः। यद्वा-कपाटयुगलं 'दृढं पिधानयोग्यं नवे'ति सुपरीक्ष्य, बन्धनयोग्यं कृत्वेत्यर्थो बोध्य इति गौडा॰। विहार=मठ। क्रमेण=परिपाट्या। (नम्बरवार)। गुरुप्रार्थनया=महता निर्बन्धेन। साधु=युक्तमेव।

एकाकीति। सन्त्यक्तं गृहं येनासौ गृहसन्त्यक्त॰। आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातः। पाणि॰ पात्रं यस्यासौ पाणिपात्र॰। दिगेवाम्बरं यस्यासौ दिगम्बरः। संवाह्यते=आकृष्यते। कौतुकम्=आश्चर्यम्॥ १५॥

जीर्यन्ते=शुक्लीभवन्ति। जीर्यत॰=शनैर्वयोहानिमनुभवत॰ पुंसोऽपि। तरुणीवाचरति तरुणायते=नवीभवति॥ १६॥

प्रहारैः शिरस्यताडयत्। तेऽपि ताड्यमाना एके मृताः, अन्ये भिन्नमस्तकाः फूत्कर्तुमुपचक्रमिरे।

अत्रान्तरे तमाक्रन्दमाकर्ण्य कोटरक्षपालेनाऽभिहितम्—'भो भोः ?, किमयं महान्कोलाहलो नगरमध्ये ! तद्गम्यतां, गम्यताम्।'

ते च सर्वे तदादेशकारिणस्तत्सहिता वेगात्तद्गृहं गता यावत्पश्यन्ति, तावद्रुधिरप्लावितदेहाः पलायमाना नग्नका दृष्टाः, पृष्टाश्च-'भोः, किमेतत् ?।'

ते प्रोचुर्यथावस्थितं नापितवृत्तम्। तैरपि स नापितो बद्धो हतशेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतः।

कारणिकैर्नापितः पृष्टः-'भोः ! किमेतद्भवता कुकृत्यमनुष्ठितम् ?। स आह-'किं करोमि, मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविधो व्यतिकरः।' सोऽपि सर्वं मणिभद्रवृत्तान्तं यथादृष्टमकथयत्।

ततः श्रेष्ठिनमाहूयते भणितवन्तः—'भोः श्रेष्ठिन् ! किं त्वया कश्चित्क्षपणको व्यापादितः ?।' ततस्तेनापि सर्वः क्षपणकवृत्तान्तस्तेषां निवेदितः। अथ तैरभिहितम्-'अहो ! शूलमारो-

---

अपरं=किञ्च। ('और')। तान्=भिक्षून्। निभृतं=शनकैः। (धीरे से)। एके=केचन भिक्षवः। अन्ये=अपरे। भिन्नमस्तकाः=स्फुटितशिरसः। फूत्कर्तुं=तारस्वरेण रोदितुं। ('चिल्लाने')। आक्रन्दः=कोलाहलः। कोटरक्षपालेन=नगररक्षाधिकारिणा। (कोतवाल ने')। तदादेशकारिणः=नगररक्षाधिपाज्ञाकारिणः। (सिपाही लोग)। पलायमानाः=धावमानाः। नग्नकाः=भिक्षवः। यथावस्थितम्—आदितः सञ्जातं। तैः=राजपुरुषैः। हतशेषैः=अवशिष्टैर्भिक्षुभिः सह। धर्माधिष्ठानं=राजद्वारं। ('कचहरी')। कारणिकैः=धर्माधिष्ठानस्थैः न्यायाधीशैः। 'तै'रिति पाठेऽपि स एवार्थः। व्यतिकरः=विपरीताचरणं। ('गडबड़')। सः=नापितः। व्यापादितः=हतः। क्षपणकवृत्तान्तः-'स्वप्ने पद्मनिधिदर्शनं, तदादेशप्राप्तिस्तत्प्रादुर्भावश्चे'त्यादिवृत्तान्तः।

---

१ 'नो चेद्भवति सन्तापः' इति गौडाः पठन्ति।

्यतामसौ दुष्टात्मा कुपरीक्षितकारी नापितः।'

तथानुष्ठिते तैरभिहितम्—

'कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम् ॥ १७ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

अपरीक्ष्य न कर्तव्यं, कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुलाद्यथा ॥ १८ ॥

मणिभद्र आह—'कथमेतत्?'। ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

१. ब्राह्मणीनकुलकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। तस्य भार्या प्रसूता सुतमजनयत्। तस्मिन्नेव दिने नकुली नकुलं प्रसूय मृता। अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि नकुलं स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादिभिः पुपोष। परं तस्य न विश्वसिति। अपत्यस्नेहस्य सर्वस्नेहातिरिक्ततया सततमेवमाशङ्कते-यत्—'कदाचिदेष स्वजातिदोषवशादस्य दारकस्य विरुद्धमाचरिष्यति' इति।

उक्तञ्च—

कुपुत्रोऽपि भवेत्पुंसां हृदयानन्दकारकः।
दुर्विनीतः कुरूपोऽपि मूर्खोऽपि व्यसनी खलः ॥१९॥

तैः=धर्माधिकरणस्थैः। शूलं=वधसाधनं। ('शूली') कुपरीक्षितकारी=असमीक्ष्यकारी। तथाऽनुष्ठिते=शूलमारोप्य हते सति। तैः=धर्माधिकारिभिः। (मजिस्ट्रेट, जज, न्यायाधीश)।

अधिष्ठान=नगरम्। 'नामे'ति प्रसिद्धौ। प्रसूय=उत्पाद्य। सा=ब्राह्मणी। दारकवत्=स्वपुत्रवत्। तम्=अनार्यं। स्तन्यं=दुग्धम्। अभ्यङ्गं=तैलादिलापनम्। मर्दनं=संवाहनं। (दाबना, मलना,)। तस्य=नकुलस्य। दारकस्य=मत्पुत्रस्य। विरुद्धम्=अनिष्टम्।

हृदयस्यानन्दं करोतीति—हृदयानन्दकारकः=मनोहरः। दुर्विनीत=अशि-

---

१ 'तस्य भार्या पुत्रमेकं नकुलं च सुषुवे। अथ सा सुतवत्सला सुतवन्नकुलमपि'। पाठोयं शोभनः।

एवं च भाषते लोक'श्चन्दनं लोक शीतलम्' ।
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ! ॥ २० ॥
सौहृदस्य[1] न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च ।
लोकः प्रपालकस्यापि यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २१ ॥

अथ सा कदाचिच्छय्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भमादाय पतिमुवाच—'ब्राह्मण ! जलार्थमहं तडागे यास्यामि, त्वया पुत्रोऽयं नकुलाद्रक्षणीयः ।' अथ तस्यां गतायां पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्यं गृहं मुक्त्वा भिक्षार्थं क्वचिन्निर्गतः । अत्रान्तरे दैववशात् कृष्णसर्पो बिलान्निष्क्रान्तः । नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा भ्रातू रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्ध्वा सर्पं खण्डशः कृत(च)वान् ।

ततो रुधिराप्लावितवदनः सानन्दं स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः संमुखे गतः । मातापि तं रुधिरक्लिन्नमुखमवलोक्य शङ्कितचित्ता 'नूनमनेन दुरात्मना मम दारको भक्षितः'-इति विचिन्त्य कोपात्तस्योपरि तं जलकुम्भं चिक्षेप । एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत्प्रलपन्ती गृहे आगच्छति, तावत्सुतस्तथैव सुप्तस्तिष्ठति । समीपे कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्तमवलोक्य पुत्रवधशो-

क्षितः । व्यसनी=दुर्वृत्त. । खल=क्रूरः ॥ १९ ॥ 'चन्दनं किल शीतल'मित्येवं हि लोको यद्यपि भाषते, तथापि पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादपि शीतलः सुखप्रदश्चेत्यन्वयः । किलेति प्रसिद्धौ । पुत्रगात्रस्य=पुत्रशरीरस्य । स्पर्शस्तु—चन्दनात्—अतिरिच्यते=अधिकं सुखद इत्यर्थः ॥ २० ॥

सौहृदस्य=पित्रादीनां परममान्यानां सौहृदं स्नेहमपि, न तथा वाञ्छन्ति यथा पुत्रस्य=पुत्रकृतं-बन्धनं=बन्धनादिक्लेशं मपि मन्यन्ते इत्यर्थः । 'सौहृदस्ये'ति सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी । केचित्तु—सुहृदेव सौहृद., तस्य सौहृदस्य=सुहृदोऽपि । मित्रस्य, जनकस्य=पितुः, हितस्य=हितैषिणः, प्रपालकस्य=रक्षितुश्च । बन्धनं=स्नेहपाशं, लोकः—न वाञ्छन्ति=न तथा मन्यन्ते, यथा=यादृक्, पुत्रस्य बन्धनं=तत्कृतं स्नेहपाशं वाञ्छन्तीत्यर्थमाहुः ॥ २१ ॥

सा=ब्राह्मणी । तडागे=जलाशयं प्रति । सुतनिर्विशेषलालितं=पुत्रवत्परिपालितम् । रुधिराप्लावितवदनः=रुधिरलिप्तमुखः, रुधिरक्लिन्नमुखं=रुधिरार्द्रमुखं ।

१ 'सुहृदोऽपि न वाञ्छन्ती'ति पाठस्तु शोभनः ।

केनात्मशिरो वक्षःस्थलं च ताडयितुमारब्धा ।

अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत्पश्यति तावत्पुत्रशोकाभितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति—'भो भो लोभात्मन् ! लोभाभिभूतेन त्वया न कृतं मद्वचः, तदनुभव साम्प्रतं पुत्र-मृत्युदुःखवृक्षफलम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

अतिलोभो न कर्तव्यो, लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके ॥ २२ ॥

ब्राह्मण आह–'कथमेतत् ?' । सा प्राह—

२. लोभाविष्टसिद्धिच्युतचक्रधरकथा ।

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रतां गता वसन्ति स्म । ते चापि दारिद्र्योपहता मन्त्रं चक्रुः-अहो ! धिगियं दरिद्रता । उक्तञ्च—

वरं वनं व्याघ्रगजादिसेवितं जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥२३॥

तथा च—

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि, सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवा,
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजाः, स्फारीभवन्त्यापदः ।

चिक्षेप=पातयामास । व्यापाद्य=हत्वा । पुत्रवधशोकेन=नकुलमरणशोकेन । गृहीतनिर्वाप =गृहीतप्रतिग्रह । (निरुपसृष्टवप्धातोर्दानार्थताया 'प्रादेशनं निर्वपण'–मित्यमरेणैवोक्तत्वात्)।

दारिद्र्योपहताः=दारिद्र्यदुःखिता । मन्त्रं=परामर्शं । वरं=श्रेष्ठं । जनेन हीनं=निर्जनं । बहुकण्टकावृतं=नानाकण्टकाकुलं । परिधाने परिधानस्य वा वल्कलं-परिधानवल्कलं=भूर्जपत्रादिपरिधानम् ॥ २३ ॥

स्वामीति । निर्धनेन-सुसेवितोऽपि स्वामी तं द्वेष्टि । सद्बान्धवा सहसा तं प्रोज्झन्ति । तस्य गुणा न राजन्ते, तनुजा =पुत्रा अपि तं त्यजन्ति, आपदः स्फारी-

---

१ गृहीतनिःस्रावक इति पाठे–गृहीतभिक्ष इत्यर्थः । (निस्रावक='निछरावल 'दान') ।

भार्या साधु सुवंशजाऽपि भजते नो, यान्ति मित्राणि च
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्धनम् ॥२४॥
शूरः सुरूपः सुभगश्च वाग्मी शस्त्राणि शस्त्राणि विदाङ्करोतु।
अर्थं विना नैव यशश्च मानं प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥२५॥
तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्।

तद्गच्छामः कुत्रचिदर्थाय।' इति संमन्त्र्य स्वदेशं पुरञ्च स्वसुहृत्सहितं बान्धवयुतं गृहञ्च परित्यज्य प्रस्थिताः।
अथवा साध्विदमुच्यते—

सत्यं परित्यजति, मुञ्चति बन्धुवर्गं
शीघ्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम्।
सन्त्यज्य गच्छति विदेशमनिष्टलोकं
चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्रलोके ॥ २६ ॥

भवन्ति=वर्द्धन्ते, सुवंशजाऽपि भार्या साधु=यथावत्प्रेम्णा नो भजते=नैव सेवते। मित्राणि च—न्यायेनारोपिता विक्रमा यैः तानि—न्यायारोपितविक्रमाणि=न्यायमार्गावलम्बितपराक्रमशालीनि, शूराणि। यान्ति=दूरीभवन्ति, येषा धनं न स्यादित्यर्थः ॥२४॥ सुभगः—सौभाग्यशाली। वाग्मी=वाचोयुक्तिपटु। विदाङ्करोतु=जानातु। विदाङ्करोति' इतिप्रचलितः पाठः। अर्थः=धनं। मर्त्यः=पुमान् ॥२५॥

अविकलानि=अनुपहतानि इन्द्रियाणि तान्येव=पूर्ववदेव वर्त्तन्ते, एवं तदेव नाम=नामधेयं, सैव अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनं, तथापि अर्थोष्मणा=धनशक्त्या। विरहितः=रहितः पुरुषः। क्षणेन बाह्य=सर्वलोकतिरस्कृतो भवतीति अहो! धनमाहात्म्यमित्यर्थः। अर्थाय=धनमुपार्जयितुं। संमन्त्र्य=विचार्य। स्वसुहृत्सहितं पुरं, बान्धवयुतं गृहमित्यन्वयः। साधु=युक्तमेव, सत्य त्यजति,=मिथ्या भाषते। जननीमपि जन्मभूमि विहाय शीघ्रं बन्धुवर्गं मुञ्चति। पाठान्तरे

---

१ भार्या नोत्तमवंशजाऽपि भजते नो यान्ति मित्राणि च न्यायारोपितविक्रमानपि नरान्' इति लिखितः पाठो युक्ततरः। तत्र न्यायारोपितविक्रमान्—शूरानपि नरानित्यर्थः। २. 'शेते हकार इव सङ्कुचिताखिलाङ्ग.' पा०। ३ 'अभीष्टलोकं' पा०। अभीष्टसिद्धयै' इति तु गौडाः पठन्ति। ४ 'पुरुष. किमन्यत्'। पा०।

एवं क्रमेण गच्छन्तोऽवन्तीं प्राप्ताः। तत्र क्षि (सि) प्राजले कृतस्नाना महाकालं प्रणम्य यावन्निर्गच्छन्ति, तावद्भैरवानन्दो नाम योगी संमुखो बभूव। ततस्तं ब्राह्मणोचितविधिना संभाव्य ते सर्वे तेनैव सह तस्य मठं जग्मुः। अथ तेन ते पृष्टाः—'कुतो भवन्तः समायाताः? क्व यास्यथ? किं प्रयोजनम्?।'

ततस्तैरभिहितम्—'वयं सिद्धियात्रिकाः, तत्र यास्यामो यत्र धनाप्तिर्मृत्युर्वा भविष्यतीति। एष निश्चयः।

उक्तञ्च—

दुष्प्रापाणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि।
अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥ २८ ॥
पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति।
दैवमचिन्त्यं बलवद्बलवान्ननु पुरुषकारोऽपि ॥ २९ ॥

अनिष्टलोकं=दुष्टलोकसङ्कुलम्। भार्यापुत्रादिकं सन्त्यज्य विदेशं गच्छति। चिन्तयाऽऽकुलीकृता मतिर्यस्यासौ तथा,-पुरुषः=दरिद्रः पुमानित्यर्थः ॥ २७ ॥

अवन्ती=उज्जयिनी। क्षि(सि)प्रा=तत्रत्या नदी। महाकालः=तत्रत्यः शिवः। सम्भाव्य=संपूज्य, अभिवाद्य च। तेन=योगिना। ते=ब्राह्मणपुत्राः। यात्रा प्रयोजनं येषान्ते यात्रिका, सिद्धये यात्रिकाः-सिद्धियात्रिकाः,=धनादिसिद्ध्ये गच्छन्त। तत्र=दुर्गमेऽपि तस्मिन्देशे।

साहसिकपुरुषाणाम्-अवसरतुलिताभिः=कार्यसाधनावसरे तुलामारोपिताभिः-'शरीरं पातयामि कार्यं वा साधयामी'त्येवं निश्चयेन सशयदोलामारोपिताभि। तनुभिः=देहै। दुष्प्रापाणि बहूनि वाञ्छितानि धनानि लभ्यन्ते ॥ २८ ॥ नभस=गगनात्तु जलं कदाचिदेव=वर्षाकाले एव तडागादौ पतति=आगच्छति। परन्तु खाते=खननादिश्रमनिष्पन्ने कूपादौ। जलाशये तु-पातालतोऽपि-नीचैरतिदूरतरप्रदेशादपि, जलमेति=आगच्छति। अतः दैवम्=अदृष्टं यद्यपि बलवत्, ननु=तथापि, पुरुषकारः=परिश्रमादिरूपः पुरुषार्थोऽपि, अदृष्टवदेव बलवानेव। तथाहि वर्षासु दैवात् क्षेत्रादौ जलं लभ्यते, पर व्यतीतासु वर्षास्वपि पुरुषार्थपराः कृषीवलाः कूपादितोऽपि निम्नतरादपि जलमुद्धृत्य कृषिं निष्पादयन्तीति-पुरुषार्थस्य दैवादपि महत्त्वं सूचितम् ॥ २९ ॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण।
'दैव'मिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः॥ ३०॥
द्वयमतुलं गुरु लोकात् 'तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिकाः।
प्राणानद्भुतमेतच्चरितं, चरितं ह्युदाराणाम्'॥ ३१॥
क्लेशस्याऽङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते।
मधुभिन्मथनायस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम्॥ ३२॥
तस्य कथं न चला स्यात्पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि?।
मासांश्चतुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम्॥ ३३॥

पुरुषस्य–अभिमतसिद्धिः=अभीष्टसिद्धिः। अशेषा=सकलाऽपि। पुरुषकारेण=पुरुषार्थेन। दैवमिति यत् त्वं कथयसि लोका वा वदन्ति सोऽपि पुरुषवर्त्ती अदृष्टाख्यो गुण एव, नातो भिन्नः। दैवमपि पुरुषाधीनमिति यावत्, अतो दैवं विहाय यत्नः करणीय.।

लोकात्=जगतोऽपि। द्वयं=एतदुभयम्। अतुलम्=अतुलनीयम्, अतएव गुरु=अतिमहत्। किन्तद्द्वयमत आह–तृणमिवेति। प्राणांश्च तृणमिव साहसिकाः साधु तुलयन्ति=तुलायामारोपयन्ति। भयस्थानसहस्रेषु प्राणानारोप्य विजयं लभन्ते इति यावत्। एतदद्भुतं चरितं **प्रथमम्**। उदाराणां=दधीचिकर्णादीना चरितञ्च–**द्वितीयम्**। एतद्द्वयं लोकादपि गुरुतरमित्याशयः। 'लोके' इति पाठस्तु सुन्दरः। अत्राऽशुद्धे 'भयमतुल'मिति मुद्रिते पाठे परश्शतेभ्यो वत्सरेभ्योऽपि भ्राम्यन्तो विद्वांसोऽस्माभिर्हन्त! पाठं संशोध्य क्लेशान्मोचिताः॥ ३१॥

क्लेशस्याङ्गं=शरीरम्। अदत्त्वा=क्लेशमननुभूय। सुखं यथा स्यात्तथा सुखानि मानवैर्न लभ्यन्तेऽत्र जगति। यतः–मधुभित्=विष्णुरपि–समुद्रमथनश्रान्तैर्बाहुभिः लक्ष्मीमाश्लिष्यति। समुद्रमथने कृते सत्येव विष्णुना लक्ष्मी. प्राप्ता न सुखं सुप्तेनेति उद्योगेनैव समीहितसिद्धिरित्यर्थः॥ ३२॥

विष्णुपत्नी लक्ष्मीश्चञ्चलेति लोकप्रसिद्धिस्तत्राह—तस्येति। नृसिंहकस्यापि=पुरुषश्रेष्ठस्य, नृसिंहावतारभृतश्च,–विष्णोरपि–का कथाऽन्यस्य,–पत्नी=भार्याऽपि–*का कथा सम्पत्त्यन्तरस्य। पक्षे विष्णोः पत्नी=लक्ष्मीरित्यर्थः। कथं चला=चञ्चला,* विनष्टा च न स्यात्, यः–जलगतः=क्षीराब्धिगतः। डलयोरैक्यात्=जडजनमध्यगतश्च, चतुरो मासान्=मासचतुष्टयं यावत्, निद्रां सेवते=स्वपिति। विष्णु-

दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण साहसं न कृतम् ।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ॥ ३४ ॥

तत्कथ्यतामस्माकं कश्चिद्धनोपायो विवरप्रदेश-शाकिनीसाधन-श्मशानसेवन-महामांसविक्रय-साधकवर्तिप्रभृतीनामेकतम इति । अद्भुतशक्तिर्भवाञ्श्रूयते । वयमप्यतिसाहसिकाः । उक्तञ्च—

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः ।
ऋते समुद्रादन्यः को बिभर्ति वडवानलम् ? ॥ ३५ ॥

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्ध्यर्थं बहूपायं सिद्धवर्तिचतुष्टयं कृत्वाऽऽर्पयत् । आह च—गम्यतां हिमालयदिशि, तत्र संप्राप्तानां यत्र वर्तिः पतिष्यति तत्र निधानमसन्दिग्धं प्राप्स्यथ । तत्र स्थानं खनित्वा निधिं गृहीत्वा व्याघुट्यताम् ।

तथानुष्ठिते तेषां गच्छतामेकतमस्य हस्ताद्वर्तिर्निपपात । अथासौ यावत्तं प्रदेशं खनति तावत्ताम्रमयी भूमिः । ततस्तेनाभिहितम्—'अहो, गृह्यतां स्वेच्छया ताम्रम् ।' अन्ये प्रोचुः—

श्चतुरो मासान् स्वपितीति प्रसिद्धम् । पक्षे चतुरोऽपि मासान् योऽनुत्साहे न नयति तस्योत्साहशून्यजनपरिवृतस्य कथं नाम लक्ष्मीरक्षुण्णा तिष्ठेदिति सर्वदैवोत्साहवता भाव्यमित्याशयः ॥ ३३ ॥

परभागः=विजयः, श्रेष्ठत्वं, गुणोत्कर्षश्च । तुला=तुलाराशिः, साहसं च । भास्वान्=सूर्यः, तेजस्वी च । जलदपटलानि=मेघजालानि ॥ ३४ ॥

विवरप्रवेशः=पातालप्रवेशः । शाकिनीसाधनं=यक्षिण्यादिसाधनं । श्मशानसेवनं=वेतालादिसाधनाय श्मशानोपासनम् । महामांसविक्रयः=स्वशरीरबलिदानं, स्वमांसविक्रयः, परपुरुषमांसविक्रयश्च । साधकवर्त्तिः=अञ्जनगुटिकापादलेपादिरूपा ॥ ३५ ॥

बहव उपाया यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा बहूपायं=नानोपायैः । 'बह्वपाय'मिति पाठे नानाविधसिद्धिविघ्नजटिलमित्यर्थः । हिमालयदिशि=उत्तरस्यां दिशि । निधानं=भूमिस्थं धनं । व्याघुट्यतां=परावर्त्यागम्यतां । ('वापस आना' 'वापिस आना') । ताम्रमयी भूमिः=ताम्रस्य खनिः । 'आसादितेति'

१. 'बहूपायैरिति 'बह्वपाय'मिति वा गौडाः । २. 'हिमालयोत्तरदिशी'ति पा० ।

'भो मूढ ! किमनेन क्रियते ? यत्प्रभूतमपि दारिद्र्यं न नाशयति, तदुत्तिष्ठ, अग्रतो गच्छामः ।' सोऽब्रवीत्—'यान्तु भवन्तः, नाहमग्रे यास्यामि ।' एवमभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा प्रथमो निवृत्तः ।

ते त्रयोऽप्यग्रे प्रस्थिताः । अथ किञ्चिन्मात्रं गतस्याग्रेसरस्य वर्तिर्निपपात, सोऽपि यावत्खनितुमारब्धस्तावद्रूप्यमयी क्षितिः ।

ततः प्रहर्षितः प्राह–'यद्भो भोः, गृह्यतां यथेच्छया रूप्यम् । नाग्रे गन्तव्यम्' ।

तावूचतुः—'भोः पृष्ठतस्ताम्रमयी भूमिः, अग्रतो रूप्यमयी, तन्नूनमग्रे सुवर्णमयी भविष्यति । किञ्चानेन प्रभूतेनापि दारिद्र्यनाशो न भवति । तदावामग्रे यास्यावः । एवमुक्त्वा द्वावप्यग्रे प्रस्थितौ । सोऽपि स्वशक्त्या रूप्यमादाय निवृत्तः ।

अथ तयोरपि गच्छतोरेकस्याग्रे वर्तिः पपात । सोऽपि प्रहृष्टो यावत्खनति, तावत्सुवर्णभूमिं दृष्ट्वा द्वितीयं प्राह–'भोः, गृह्यतां स्वेच्छया सुवर्णम् । सुवर्णादन्यन्न किञ्चिदुत्तमं भविष्यति'।

स प्राह—'मूढ' ! न किंचिद्वेत्सि, प्राक्ताम्रम् , ततो रूप्यम् ततः सुवर्णम् । तन्नूनमतःपरं रत्नानि भविष्यन्ति, येषामेकतमेनापि दारिद्र्यनाशो भवति , तदुत्तिष्ठ, अग्रे गच्छावः । किमनेन भारभूतेनापि प्रभूतेन ? ।' स आह–'गच्छतु भवान् । अहमत्र स्थितस्त्वां प्रतिपालयिष्यामि ।'

तथाऽनुष्ठिते सोऽपि गच्छन्नेकाकी ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनुः पिपासाकुलितः सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राम ।

अथ भ्राम्यन् स्थलोपरि पुरुषमेकं रुधिरप्लावितगात्रं भ्रम-

शेष' । अनेन=ताम्रेण । प्रभूतं=बहुलम् । अग्रेसरस्य=अग्रयायिनः । रूप्यमयी=रजतमयी । क्षितिः=भूमि । नूनम्=अवश्यम् । अनेन=रजतेन । एकतमेन=एकेनापि ।

तथाऽनुष्ठिते=एवं कृते सति । ग्रीष्मार्कस्य यः प्रतापः=आतप, तेन सन्तप्ता तनुर्यस्यासौ तथा । प्रखरघर्माकुल इत्यर्थः । सिद्धिमार्गच्युत'=सुवर्ण-

चक्रमस्तकमपश्यत्। ततो द्रुततरं गत्वा तमवोचत्—'भोः, को भवान्?, किमेवं चक्रेण भ्रमता शिरसि तिष्ठसि?। तत्कथय मे यदि कुत्रचिज्जलमस्ति ?। यतस्तृषार्तोऽस्मि'इति।

एवं तस्य प्रवदतस्तच्चक्रं तत्क्षणात्तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम्। स आह—'भद्र,! किमेतत्?। स आह–'ममाप्येवमेतच्छिरसि चटितम्। स आह–'तत्कथय कदैतदुत्तरिष्यति, महती मे वेदना वर्तते।' स आह—यदा त्वमिव कश्चिद्धृतसिद्धवातरेवमागत्य त्वामालापयिष्यति, तदा तस्य मस्तके चटिष्यति।'

स आह–'कियान्कालस्तवैवं स्थितस्य?।' स आह—साम्प्रतं को राजा धरणीतले?।' स आह–'वीणावत्सराजः।' स आह—अहं तावत्कालसङ्ख्यां न जानामि, परं यदा रामो राजाऽऽसीत्तदाहं दारिद्र्योपहतः सिद्धवर्तिमादायाऽनेन पथा समायातः। ततो मयाऽन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः, पृष्टश्च। ततश्चैतज्ज्ञातम्।'

स आह—'भद्र,! कथं तवैवं स्थितस्य भोजनजलप्राप्तिरासीत्?।' स आह–'भद्र,! धनदेन निधानहरणभयात्सिद्धानामेतच्चक्रपतनरूपं भयं दर्शितम्, तेन कश्चिदपि नागच्छति। यदि कश्चिदायाति, स क्षुत्पिपासानिद्रारहितो जरामरणवर्जितः केवलमेवं वेदनामनुभवतीति। तदाज्ञापय मां स्वगृहाय।' इत्युक्त्वा गतः।

भूमिमार्गभ्रष्टः। स्थलोपरि=समतलप्रदेशे। भ्रमत् चक्रं मस्तके यस्यासौ तं तथाभूतं। तस्य=पूर्वोक्तस्थलस्थपुरुषस्य। शिरस=मस्तकात्। चटितम्=अधिरूढं। ('चढ गया')। एवमागत्य=त्वमिव लोभाक्रान्त· सिद्धिमार्गच्युत आगत्य। वीणावत्सराज=कौशाम्बीपति· पाण्डववंशजो राजा कश्चित्। कालसङ्ख्या=वर्षयुगादिसङ्ख्या। धनदेन=भगवता कुवेरेण। एवं=चक्रभ्रमिजन्यां न तु क्षुत्तृष्णा

---

१ 'समारुरोह'। २ 'आरूढम्'। ३ 'समारोक्ष्यति'। पा०।

अथ तस्मिंश्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्यान्वेषणपरस्तत्पदपङ्क्त्या यावत्किंचिद्वनान्तरमागच्छति, तावद्रुधिरप्लावितशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदनः क्वणन्नुपविष्टस्तिष्ठती'ति ददर्श। ततः-तत्समीपवर्तिना भूत्वा सबाष्पं पृष्टः—'भद्र ! किमेतत् ?।' स आह—'विधिनियोगः।' स आह—'कथं तत् ? कथय कारणमेतस्य।' सोऽपि तेन पृष्टः सर्वं चक्रवृत्तान्तमकथयत्।

तच्छ्रुत्वासौ तं विगर्हयन्निदमाह-'भोः ! निषिद्धस्त्वं मयाऽनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम्, तत्किं क्रियते ?। विद्यावानपि कुलीनोऽपि बुद्धिरहितः। अथवा साध्विदमुच्यते—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः॥ ३६॥

चक्रधर आह-'कथमेतत् ?'। सुवर्णसिद्धिराह—

३. सिंहकारकमूर्खब्राह्मणत्रयकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रभावमुपगता वसन्ति स्म। तेषां त्रयः शास्त्रपारङ्गताः, परन्तु बुद्धिरहिताः। एकस्तु बुद्धिमान्, केवलं शास्त्रपराङ्मुखः। अथ तैः कदाचिन्मित्रैर्मन्त्रितम्-'को गुणो विद्यायाः, येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्यार्थोपार्जना न क्रियते ?। तत्पूर्वदेशं गच्छामः'। तथानुष्ठिते किंचिन्मार्गं गत्वा तेषां ज्येष्ठतरः प्राह-'अहो ! अस्माकमेकश्चतुर्थो मूढः, केवलं बुद्धिमान्। न च राजप्रतिग्रहो

दिजन्यां। चिरयति=विलम्बं कुर्वति सति। सवेदनः=पीडाकुलः। क्वणन्=विलपन्। सबाष्पं=साश्रु। विधिनियोगः=दुर्भाग्यविजृम्भितम्। असौ=सुवर्णसिद्धिः। तं=सिद्धिभ्रष्टं। विगर्हयन्=विनिन्दन्। न शृणोषि=नैवाऽशृणोः। वर्तमानसामीप्ये लट्।

अधिष्ठाने=नगरे। 'अधिष्ठानं रथस्याङ्गे प्रभावेऽध्यासने पुरे' इत्यजयकोशात्। तेषां=तेषां मध्ये। बुद्धिरहिताः=व्यवहारज्ञानशून्याः। शास्त्रपराङ्मुखः=

बुद्ध्या लभ्यते-विद्यां विना। तन्नास्मै स्वोपार्जितं दास्यामः। तद्गच्छतु गृहम्। ततो द्वितीयेनाभिहितम्-'भोः सुबुद्धे! गच्छ त्वं स्वगृहे, यतस्ते विद्या नास्ति।'

ततस्तृतीयेनाऽभिहितम्—'अहो न युज्यते एवं कर्तुम्। यतो वयं बाल्यात्प्रभृत्येकत्र क्रीडिताः। तदागच्छतु महानुभावोऽस्मदुपार्जितवित्तस्य समभागी भविष्यती'ति। उक्तञ्च—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या? या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते॥ ३७॥

तथा च—'अयं निजः परो वे'ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ ३८॥

तदागच्छतु एषोऽपि-' इति। तथाऽनुष्ठिते तैः मार्गाश्रितैरटव्यां कतिचिदस्थीनि दृष्टानि। ततश्चैकेनाभिहितम्-'अहो! अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते। कतिचिदेतानि मृतसत्त्वस्यास्थीनि तिष्ठन्ति। तद्विद्याप्रभावेण जीवनसहितानि कुर्मः। अहमस्थिसञ्चयं करोमि। ततश्च तेनौत्सुक्यादस्थिसंचयः कृतः। द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम्। तृतीयोऽपि यावज्जीवनं संचारयति, तावत्सुबुद्धिना निषिद्धः—'भोः, तिष्ठतु भवान्, एष सिंहो निष्पाद्यते, यद्येनं सजीवं करिष्यति-ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति'। इति तेनाभिहितः स आह-'धिङ् मूर्ख! नाहं

अनधीतविद्यः। गुण=फलं। राजप्रतिग्रहः=राजादिदत्तं धनादिकं। बुद्ध्या=बुद्धिमात्रेण। समभागी=समानलाभशाली।

या वधूरिव=भार्येव-केवलेनात्मनैवोपभुज्यते, नतु वेश्येव पथिकैः=मार्गस्थैरपि भुज्यते, तया लक्ष्म्या किम्?=न किमपि फलम्॥ ३७॥ 'अयं निज' 'अयं परः' इति गणना-लघुचेतसा=क्षुद्राणा भवति, उदारचरितानां=महात्मना तु-वसुधैव=सकलं जगदपि-कुटुम्बकमेव॥ ३८॥

मार्गाश्रितैः=पथि गच्छद्भिः। विद्याप्रत्ययः=पूर्वोपार्जितविद्याप्रभावदर्शनम्। अस्थिसञ्चय=अस्थ्ना यथासंनिवेशं स्थापनं। 'विद्याप्रभावा'दिति शेषः। सुबुद्धिना=चतुर्थेनानधीतशास्त्रेण। निष्पाद्यते=भवद्भिः प्राणसंयोजनेन उत्थाप्यते।

विद्याया विफलतां करोमि।' ततस्तेनाभिहितम्–'तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं यावदहं वृक्षमारोहामि।' तथानुष्ठिते यावत्सजीवः कृतस्तावत्ते त्रयोऽपि सिंहेनोत्थाय व्यापादिताः। स च पुनर्वृक्षादवतीर्य गृहे गतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'वरं बुद्धिर्न सा विद्या' इति। अतः परमुक्तं च सुवर्णसिद्धिना—

'अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः।
सर्वे ते हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः' ॥ ३९ ॥

चक्रधर आह–कथमेतत्?। सोऽब्रवीत्—

४ मूर्खपण्डितचतुष्टयकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणाः परस्परं मित्रत्वमापन्नाः वसन्ति स्म। बालभावे तेषां मतिरजायत–'भोः! देशान्तरं गत्वा विद्याया उपार्जनं क्रियते'–इति। अथाऽन्यस्मिन्दिवसे ब्राह्मणाः परस्परं निश्चयं कृत्वा विद्योपार्जनार्थं कान्यकुब्जे गताः। तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति। एवं द्वादशाब्दान् यावदेकचित्ततया पठित्वा विद्याकुशलास्ते सर्वे संजाताः। ततस्तैश्चतुर्भिर्मिलित्वोक्तम्–'वयं सर्वविद्यापारङ्गताः, तदुपाध्यायमुत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छामः।' एवं मन्त्रयित्वा (तथैवानुष्ठीयतामित्युक्त्वा) ब्राह्मणा उपाध्यायमुत्कलापयित्वा, अनुज्ञां[1] लब्ध्वा, पुस्तकानि नीत्वा प्रचलिता यावत्किञ्चिन्मार्गं यान्ति

व्यापादयिष्यति=मारयिष्यति। सः=तृतीयो विप्रपुत्रः। विफलतां=इदानीं स्मृताया विद्याया वृथा परावर्त्तनं। तेन=सुबुद्धिना। क्षणं=क्षणमात्रम्। प्रतीक्षस्व=परिपालय। (ठहर जाओ)।

वरं=श्रेष्ठा। लोकाचारविवर्जिताः=व्यवहारबुद्धिशून्याः॥ ३९॥

मित्रत्व=मैत्रीम्। आपन्नाः=प्राप्ताः। बाल्यभावे–बाल्यावस्थायामेव। कान्यकुब्जे=देशभेदे। (कन्नौज)। विद्यामठे=पाठशालायाम्। एकचित्ततया=तन्मयतया। उत्कलापयित्वा=पृष्ट्वा। धनादिदानेन सन्तोष्य वा। प्राकृत-

---

१ 'अनुज्ञाप्य' इति संस्कृत. पाठः।

तावद्द्वौ पन्थानौ समायातौ दृष्ट्वा उपविष्टाः सर्वे ।

तत्रैकः प्रोवाच-'केन मार्गेण गच्छामः ? ।' एतस्मिन्समये तस्मिन् पत्तने कश्चिद्वणिक्पुत्रो मृतः । तस्य दाहाय महाजनो गतोऽभूत् । ततश्चतुर्णां मध्यादेकेन पुस्तकमवलोकितम्—

महाजनो येन गतः स पन्थाः-इति ।

—तन्महाजनमार्गेण गच्छामः ।' अथ ते पण्डिता यावन्महाजनमेलापकेन सह यान्ति तावद्रासभः कश्चित्तत्र श्मशाने दृष्टः । अथ द्वितीयेन पुस्तकमुद्घाट्यावलोकितम्—

'उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ४० ॥

तदहो ! अयमस्मदीयो बान्धवः ।' ततः कश्चित्तस्य ग्रीवायां लगति, कोऽपि पादौ प्रक्षालयति । अथ यावत्ते पण्डिताः दिशामवलोकनं कुर्वन्ति, तावत्कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः । तैश्चोक्तम्-एतत्किम् ? । तावत्तृतीयेन पुस्तकमुद्घाट्योक्तम्-

धर्मस्य त्वरिता गतिः ।

तन्नूनमेष धर्मस्तावत् ।' चतुर्थेनोक्तम्—

'इष्टं धर्मेण योजयेत् ।'

प्रसिद्धोऽयं प्रयोग । अनुज्ञाम्=आज्ञा । लब्ध्वा=गृहीत्वा । द्वौ पन्थानौ=मार्गौ द्विधा विभक्त ।

पत्तने=नगरे । महाजन'=वणिग्जनसमूह , श्रेष्ठो जनश्च । येन=येन मार्गेण । गतः=व्यवहारं करोति, कृतवान् वा, प्रचलितश्च । पन्था'=स मार्ग -श्रेष्ठ । महाजनमेलापकेन=वणिग्जनसमूहेन ।

उत्सवे=हर्षसमये । व्यसने=विपत्तिकाले । शत्रुसङ्कटे=शत्रुकृते कष्टे । राजद्वारे=राजभवने ('कचहरी') । यो विपदि उत्सवे च वर्त्तते स एव वान्धव इत्यर्थ ॥४०॥

अयं=रासभः । तस्य=रासभस्य । लगति=परिष्वजते । दिशा=हरिताम् । इतस्तत इति यावत् । त्वरिता=चपला, अचिन्तनीया, सूक्ष्मा च । एष =धावमान उष्ट्र । इष्टं=स्वप्रियं । रासभश्च वन्धुतया इष्टकोटिप्रविष्ट इति उष्ट्रग्रीवाया

तद्बान्धवोऽयमस्माकं धर्मेण नियुज्यताम् ।

अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवायां बद्धः । तत्तु केनचित्तत्स्वामिनो रजकस्याग्रे कथितम् । श्रुत्वा च यावद्रजकस्तेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातस्तावत्ते प्रनष्टाः ।

ततो यावदग्रे किञ्चित्स्तोकं मार्गं यान्ति, तावत्काचिन्नदी समासादिता । तस्या जलमध्ये पलाशपत्रमायान्तं दृष्ट्वा पण्डितेनैकेनोक्तम्—

'आगमिष्यति यत्पत्रं तदस्मांस्तारयिष्यति ।'

एतत्कथयित्वा तत्पत्रस्योपरि पतितो यावन्नद्या नीयते, तावत्तं नीयमानमवलोक्याऽन्येन पण्डितेन केशान्तं गृहीत्वोक्तम्—

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।
अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः' ॥ ४१ ॥

—इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः । अथ तैश्च पश्चाद्गत्वा कश्चिद्ग्राम आसादितः । तेऽपि ग्रामीणैर्निमन्त्रिताः पृथक्पृथग्गृहेषु नीताः । तत एकस्य सूत्रिका घृतखण्डसंयुक्ता भोजने दत्ता । ततो विचिन्त्य पण्डितेनोक्तम्—यत्—

दीर्घसूत्रो[1] विनश्यति ।

—एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गतः ।

रासभबन्धनम् । रजकस्य=गर्दभस्वामिनो वस्त्रक्षालकस्य । प्रनष्टाः=पलायिताः । समासादिता=प्राप्ता । पत्रं=वाहनं नौकादिकं, पर्णञ्च । 'पत्रन्तु वाहने पर्णे' इति विश्वः । नद्या नीयते=नद्या निमज्जति, प्रवहति वा । केशान्तं=केशाग्रभागं । तैः=अवशिष्टैस्त्रिभिः । निमन्त्रिताः=भोजनायाहूताः । सूत्रिका='सेमई' इत्याख्याता, 'जलेबी'त्याख्याता वा । दीर्घसूत्रः=आलस्योपहतः । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इति कोशात् । सूत्रिकायामपि दीर्घाः समितातन्तव इति तयोः साम्यं । मण्डकाः=करपट्टिकाः, फुल्का वा । ('रोटी, फुलका') । अतिविस्तारविस्तीर्णम् अतिवर्द्धितं वस्तु न चिरस्थायि, अथवा यथा 'नानाविधव्यापारप्रसक्तो नरश्चि-

---

१ 'दीर्घसूत्री'ति पाठान्तरम् ।

तथा द्वितीयस्य मण्डका दत्ताः । तेनाप्युक्तम्—

'अतिविस्तारविस्तीर्णं तद्भवेन्न चिरायुषम्[1] ।'

स च भोजनं त्यक्त्वा गतः । अथ तृतीयस्य वटिकाभोजनं दत्तम् । तत्रापि तेन पण्डितेनोक्तम्—

'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' ।

एवं ते त्रयोऽपि पण्डिताः क्षुत्क्षामकण्ठा लोकैर्हस्यमानास्ततः स्थानात् स्वदेशं गताः ।' ❀

अथ सुवर्णसिद्धिराह—'यत्त्वं लोकव्यवहारमजानन्मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः, तत ईदृशीमवस्थामुपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'अपि शास्त्रेषु कुशलाः' इति ॥

तच्छ्रुत्वा चक्रधर आह—'अहो, अकारणमेतत्—

सुबुद्धयोऽपि नश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिताः ।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४२ ॥

उक्तञ्च—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥४३॥

तथाच—

शतबुद्धिः शिरस्थोयं लम्बते च सहस्रधीः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ४४ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—'कथमेतत् ?' । स आह—

५ शतबुद्ध्यादिमत्स्यत्रयकथा

कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धिः सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निव-

---

न्ताशताकुलो न चिरं जीवति, एवम् 'अतिविस्तीर्णा मण्डका न भोजने प्रशस्ता.' इत्यप्यर्थ. । वटिका=('वडा' ।) छिद्रेषु=व्यसनेषु, सच्छिद्रेषु भोजनेषु च । बहुलीभवन्ति=वर्द्धन्ते । क्षुत्क्षामकण्ठाः=क्षुधाशुष्ककण्ठा. । बुभुक्षिता. ।

न स्थित.=न गमनान्निवृत्तः । अरक्षितम्=अकृतरक्षणप्रयत्न । दैव=भाग्यम् ॥ ४३ ॥ भद्रे=सुभगे ॥ ४४ ॥ जलाशये=सरसि । तयो.=शतबुद्धि-

---

१ 'चिरायुषे' इति गौडा. पठन्ति ।

सतः स्म । अथ तयोरेकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः । एवं ते त्रयोऽपि वेलायां कश्चित्कालं सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि सलिलं प्रविशन्ति ।

अथ कदाचित्तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्ता धीवराः प्रभूतैर्मत्स्यैर्व्यापादितैर्मस्तके विधृतैरस्तमनवेलायां तस्मिञ्जलाशये समायाताः ।

ततः सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः–'बहुमत्स्योऽयं ह्रदो दृश्यते स्वल्पसलिलश्च । तत्प्रभातेऽत्रागमिष्यामः ।' एवमुक्त्वा स्वगृहं गताः । मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्रं चक्रुः ।

ततो मण्डूक आह–'भोः शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवता, तत्किमत्र युज्यते कर्तुम् ?' पलायनमवष्टम्भो वा यत्कर्तुं युक्तं भवति तदादिश्यतामद्य ।' तच्छ्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य आह–'भो मित्र ! मा भैषीः, यतो वचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्यं ।
उक्तञ्च—

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम् ।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ ४५ ॥

सहस्रबुद्ध्योः । वेलायां=सरोवरकूले । 'वेला काले च सीमायामब्धेः, कूलविकारयो'रिति मेदिनी ।

गोष्ठीसुखं=काव्यालापगोष्ठीसुखम् । गोष्ठीगतानां=कूले सम्भूयोपविष्टाना । जालहस्ताः–जालपाणयः । धीवराः=मत्स्यवधाजीवाः । व्यापादितैः=हतैः । मस्तके=शिरसि । धृतैः–स्थापितैः–उपलक्षिताः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । अस्तमनवेलायां=सूर्यास्तसमये । सलिलाशयं=सरोवरं । मिथः=परस्परं । बहुमत्स्यः= मत्स्यबहुलः । ह्रदः=जलाशयः । स्वल्पसलिलः=अल्पजलः । विषण्णानि वदनानि येषान्ते विषण्णवदनाः=विच्छायमुखाः, मन्त्रं=विचारम् । चक्रुः=विदधुः ।

पलायनं=देशान्तरगमनम् । अवष्टम्भः=धृत्याऽत्रैवावस्थानम् । आदिश्यताम्=उपदिश्यताम् । श्रवणमात्रादेव=धीवराणा वचनस्य श्रवणमात्रेण ।

खलानां=दुर्जनानां । दुष्टचेतसां=पापिनाम् । अभिप्रायाः=मनोरथाः, वर्तते जीवति ॥ ४५ ॥

तत्तावत्तेषामागमनमपि न संपत्स्यते, भविष्यति वा तर्हि त्वां बुद्धिप्रभावेणात्मसहितं रक्षयिष्यामि, यतोऽनेकां सलिलगतिचर्यामहं जानामि।' तदाकर्ण्य शतबुद्धिराह-'भोः, युक्तमुक्तं भवता, सहस्रबुद्धिरेव भवान्। अथवा साध्विदमुच्यते-

बुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्यं हि किञ्चन।
बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनाऽसिपाणयः॥ ४६॥

तथा च—न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनां च विवस्वतः।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा॥ ४७॥

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्यायागतं जन्मस्थानं त्यक्तुं न शक्यते।

न तत्स्वर्गेऽपि सौख्यं स्याद्दिव्यस्पर्शेन शोभने।
कुस्थानेऽपि भवेत्पुंसां जन्मनो यत्र संभवः॥ ४८॥

तन्न कदाचिदपि गन्तव्यम्, अहं त्वां स्वबुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि'। मण्डूक आह-'भद्रौ! मम तावदेकैव बुद्धिः पलायनपरा। तदहमन्यं जलाशयमद्यैव सभार्यो यास्यामि।'

एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रावेवाऽन्यजलाशयं गतः। धीवरैरपि प्रभाते आगत्य जघन्यमध्यमोत्तमजलचरा मत्स्यकूर्म-

---

सम्पत्स्यते=सिद्धिं गमिष्यति। आत्मसहितं=सहस्रबुद्धिना स्वेन सहितं। सलिलगतिचर्या=जलचलचातुर्यं। युक्तम्=उचितम्।

बुद्धिमता बुद्धेर्लोके किञ्चन अगम्यं नास्ति, यतः—नन्दाख्याः-असिपाणयः=धृतायुधा राजानः-चाणक्येन एकाकिनाऽसहायेनाऽपि विप्रेण बुद्ध्या हताः॥४६॥

यत्र वायोर्गतिर्नास्ति, विवस्वतो रश्मीनाञ्च यत्र गतिर्नास्ति, तत्रापि बुद्धिमतां बुद्धिः आशु=शीघ्रं प्रविशति॥ ४७॥

ततः=बुद्ध्या कार्यसिद्धिसम्भवे। वचनश्रवणमात्रात्—धीवरोक्तवचनाकर्णनमात्रात्। पितृपर्यायागतं=वंशक्रमागतं। जन्मस्थानं=जलाशयः। नेति। दिव्याङ्गनादिस्पर्शेन शोभने=सुखदे स्वर्गेऽपि तत्सौख्यं न स्यात्, यत्-यत्र जन्मसम्भवः तत्र कुस्थानेऽपि-पुंसां सुखमेव-सौख्यं भवति॥४८॥ भद्रौ=महाशयौ। पलायनपरा=पलायनप्रधाना। जघन्याः=कनिष्ठाः, मध्यमाः=युवानः, उत्तमाः=वृद्धाः।

मण्डूककर्कटादयो गृहीताः, तावपि शतबुद्धि-सहस्रबुद्धी सभार्यौ पलायमानौ चिरमात्मानं गतिविशेषविज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तावपि जाले पतितौ, व्यापादितौ च।

अथाऽपराह्णसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः। गुरुत्वाच्चैकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः। सहस्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते। ततश्च वापीकण्ठोपगतेन मण्डूकेन तौ तथा नीयमानौ दृष्ट्वा अभिहिता स्वपत्नी-'प्रिये! पश्य पश्य—

'शतबुद्धिः शिरस्थोऽयं, लम्बते च सहस्रधीः।
एकबुद्धिरहं भद्रे! क्रीडामि विमले जले॥'

अतश्च 'वरं बुद्धिर्न सा विद्या' इत्यादि यद्भवता उक्तं, तत्रेयं मे मतिर्यत्-'नैकान्तेन बुद्धिरपि प्रमाणम्।' ❀

सुवर्णसिद्धिः प्राह-'यद्यप्येतदस्ति, तथापि मित्रवचनं न लङ्घनीयम्। परं किं क्रियते, निवारितोऽपि मया न स्थितोऽसि लौल्यात्, विद्याहङ्काराच्च। अथवा साधु इदमुच्यते—

'साधु मातुल! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः, सम्प्राप्तं गीतलक्षणम्॥ ४९॥

चिरं=बहुकालं। गतिविशेषविज्ञानैः=नानाविधजलतरणविज्ञानपाटवैः। कुटिलचारेण=नानाविधवक्रगमनेन। गुरुत्वात्=भारवत्त्वात्। प्रलम्बमानः=अधो लम्बमानः, आकृष्यमाणश्च, (लटकता हुआ)। वापीकण्ठोपगतेन=दीर्घिका-तटोपविष्टेन। (वापी=बावड़ी)। तौ=सहस्रबुद्धिशतबुद्धी। तथा=शिरसि धृत्वा, आकर्षणेन च।

एका='पलायनमेव वरम्' इति बुद्धिर्यस्यासौ-एकबुद्धिः। विमले=निर्मले। एकान्तेन=सर्वदा। प्रमाणं=कार्यसाधनम्।

परं=किन्तु। स्थितः=गमनान्निवृत्तः। अतिलौल्यात्=अतिचापल्यात्।

मातुल=माम!। आत्मीयभावद्योतनाय सम्बोधनमिदम्। गीतेन साधु= गीतेन अलं। गीताद्विरतो भव। साधुपदमलमर्थकमव्ययं मन्तव्यम्। (अथवा गीतेन साधु=युक्तं गीतं। प्रकृत्यादित्वादभेदे तृतीया। प्रोक्तः=प्रतिषिद्धः, -इत्यर्थः)। अपूर्वः=अद्भुतः। मणिः=मणिस्थानीयमुदूखलं-बद्धः। गीतलक्षणं=

चक्रधर आह–'कथमेतत्' ?। सोऽब्रवीत्–

६. गीतपररासभशृगालकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उद्धतो नाम गर्दभः प्रतिवसति स्म। स सदैव रजकगृहे भारोद्वहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्यटति। ततः प्रत्यूषे बन्धनभयात्स्वयमेव रजकगृहमायाति। रजकोऽपि ततस्तं बन्धनेन नियुनक्ति। अथ तस्य रात्रौ क्षेत्राणि पर्यटतः कदाचिच्छृगालेन सह मैत्री संजाता। स च पीवरत्वाद्वृतिभङ्गं कृत्वा कर्कटिका[1]क्षेत्रे शृगालसहितः प्रविशति। एवं तौ यदृच्छया चिर्भटिका[2]भक्षणं कृत्वा प्रत्यहं प्रत्यूषे स्वस्थानं व्रजतः।

अथ कदाचित्तेन मदोद्धतेन रासभेन क्षेत्रमध्यस्थितेन शृगालोऽभिहितः–'भो भगिनीसुत! पश्य-पश्य, अतीव निर्मला रजनी। तदहं गीतं करिष्यामि, तत्कथय कतमेन रागेण करोमि?'।

स आह–'माम! किमनेन वृथाऽनर्थप्रचालनेन?। यतश्चौरकर्मप्रवृत्तावावां; निभृतैश्च चौरजारैरत्र स्थातव्यम्। उक्तञ्च–

गीतप्रशस्तिसूचकं चिह्नं। सम्प्राप्तम्=भवता लब्धं। स्वचापलेनैव माम! बद्धोऽसि, अनुभवेदानीं स्वकृतस्य कर्मणो विपाकमित्याशयः। अन्योऽपि गानकुशलो राजादिदत्तं मण्यादिकं कण्ठे बध्नातीति साम्यम्॥ ४९॥

रजकगृहे=निर्णेजकगृहे। भारोद्वहन=वस्त्रादिभारवहन। कृत्वा=विधाय। स्वेच्छया=यथेच्छं। पर्यटति=भ्रमति। ततः=पर्यटनानन्तरं। प्रत्यूषे=प्रभाते,–बन्धनभयात्=क्षेत्राधिपादिकृतं रजककृतं वा बन्धनं ताडनञ्च शङ्कमान। बन्धनेन=रज्जुकृतेन। नियुनक्ति=बध्नाति। क्षेत्राणि पर्यटतः=क्षेत्रेषु परिभ्रमत। शृगालेन=जम्बुकेन। स=रासभ। पीवरत्वात्। वृतिभङ्गं=क्षेत्रप्राचीरभङ्गं। ('बाड़ तोड़कर')। कर्कटिकाक्षेत्रे=त्रपुसीक्षेत्रे। ('ककड़ी के खेत में')। यदृच्छया=स्वेच्छया। चिर्भटिका=कर्कटिका। भगिनीसुत=भागिनेय। निर्मला=चन्द्रज्योत्स्नाधवला। रजनी=रात्रिः। गीतं=गानं। रागेण–'गान'मिति शेष।

---

१ 'चिर्भटिके'ति पाठान्तरम्।

२ 'कर्कटिके'ति पाठान्तरम्।

कासयुक्तस्त्यजेच्चौर्यं, निद्रालुश्चेत्स पुंश्चलीम् ।
जिह्वालौल्यं रुजाक्रान्तो, जीवितं योऽत्र वाञ्छति ॥ ५० ॥

अपरं-त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरम्, शङ्खशब्दानुकारं दूरादपि श्रूयते । तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सुप्ताः सन्ति । ते उत्थाय वधं बन्धनं वा करिष्यन्ति । तद्भक्षय तावदमृतमयीश्चिर्भटीः, मा त्वमत्र गीतव्यापारपरो भव । तच्छ्रुत्वा रासभ आह-'भोः वनाश्रयत्वात्त्वं गीतरसं न वेत्सि, तेनैतद्ब्रवीषि । उक्तञ्च—

शरज्ज्योत्स्नाहते दूरं तमसि प्रियसन्निधौ ।
धन्यानां विशति श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा ॥ ५१ ॥

शृगाल आह-'माम ! अस्त्येतत्, परं न वेत्सि त्वं गीतम्, केवलमुन्नदसि । तत्किं तेन स्वार्थभ्रंशकेन ?' । रासभ आह—धिग्धिङ्मूर्ख, किमहं न जानामि गीतम् ? । तद्यथा तस्य भेदाः । शृणु—

अनर्थप्रचालनेन=विपत्तेः स्वयमेवाह्वानेन । किं=न प्रयोजनम् । चौरकर्मप्रवृत्तौ=चौर्यरतौ । अत्र=लोके । चौरैः=स्तेनैः । जारैः=पारदारिकैः ।

योऽत्र जीवितं वाञ्छति सः । *कासयुक्तः=कासरोगी, चौर्यं=स्तेयं, त्यजेत्=*जह्यात् । निद्रालुः=निद्रातुरश्चेत्, पुंश्चली=कुलटा, सः=जीवितं वाञ्छन् । रुजाऽऽक्रान्तः=रोगी । जिह्वालौल्यं=रसनाचाञ्चल्यं, त्यजेत्—इत्यर्थः ॥ ५० ॥ अपर=किञ्च । मधुरस्वरं=माधुर्यशालिस्वरयुक्तं । शङ्खस्य शब्दमनुकरोति तत्-शङ्खशब्दानुकारं=शङ्खध्वनिसदृशम् । रक्षापुरुषाः=रक्षकाः । अमृतमयीः=अमृतमधुराः । वनाश्रयत्वात्=वनवासरतत्वात् ।

तमसि=अन्धकारे । दूरं=दूरतरं । शरदि या ज्योत्स्ना=चन्द्रिका, तया हते=दूरीकृते सति, प्रियजनसन्निधौ—श्रोत्रे=कर्णे, गीतझङ्कारजा=गानोत्थिता, सुधा=पीयूषं, धन्यानां=भाग्यशालिनामेव कर्णे विशति=प्रविशति ॥ ५१ ॥ उन्नदसि=सगर्वं वदसि । 'कठोरमुन्नदसी'त्यपि पाठः । न जानामि किं ?=जानाम्येव ।

गीते,—(७-) निषाद—ऋषभ—गान्धार—षड्ज-मध्यम—धैवत

---

१ 'चर्मचौरिका'मिति पाठः । तत्र-चर्मचौरिका=परस्त्रीलम्पटत्वम् ।

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः ।
तानास्त्वेकोनपञ्चाशत्तिस्रो मात्रा लयास्त्रयः ॥ ५२ ॥
स्थानत्रयं यतेः पञ्च ? षडास्यानि रसा नव ।
रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्तत. स्मृताः ॥ ५३ ॥
पञ्चाशीत्यधिकं ह्येतद्गीताङ्गानां शतं स्मृतम् ।
स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम् ॥ ५४ ॥
नान्यद्गीतात्प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते ।
शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्षं जग्राह रावणः ॥ ५५ ॥

तत्कथं भगिनीसुत ! मामनभिज्ञं वदन्निवारयसि ?।' शृगाल आह—'माम ! यद्येवं तदहं तावद्वृतेर्द्वारस्थितः क्षेत्रपालमवलोकयामि, त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु'। तथानुष्ठिते रासभ-

पञ्चमाख्या. सप्त स्वराः (३–) षड्जग्राम—मध्यमग्राम—निषादग्रामाख्यास्त्रयो ग्रामाः । (२१–) स्वराणामारोहावरोहक्रमरूपा एकविंशतिर्मूर्च्छना. । (४९–) मूर्च्छनातानाः एकोनपञ्चाशत्, (३–) ह्रस्व—दीर्घ—प्लुतभेदेन तिस्रो मात्राः । (३–) उर, कण्ठ, शिरश्चेति स्थानत्रय । (५–) यतिर्विराम—पञ्चविध । (६) रागषट्कस्य आस्यानि=मुखानि,–षट् । (९–) शृङ्गार–हास्य–करुण—रौद्र–वीर–भयानक–वीभत्सा–ऽद्भुत–शान्ताख्या नव रसा. । (३६–) रागा रागिन्यश्च षट्त्रिंशत् । (४०) सञ्चारि–व्यभिचारि-स्थायिभेदेन चत्वारिंशद्भावाः । इत्येवं गीताङ्गाना पञ्चाशीत्यधिकं शत (१८५) श्रुते=श्रवणस्य, परम्=अत्यन्तं सुखदं,–श्रुते=वेदस्य वा पर=सारभूत, स्वयं भरताचार्येणोक्तमित्यर्थ. ॥ ५४ ॥ अस्फुटाविमौ श्लोकौ ।

लोके गीतादन्यत्—देवानामपि प्रिय वस्तु न दृश्यते, यत —शुष्कस्नायुस्वराह्लादात्=तन्त्रीस्वरालापात् । (आह्लाद=बजाना)। त्र्यक्ष=त्रिलोचन शिवम् । रावण.—जग्राह=प्रसादयामास । गीतेन देवा अपि प्रसीदन्तीति भाव ॥ ५५ ॥

भगिनीसुत=भागिनेय ! । अनभिज्ञं=अनभिज्ञोऽसि गीतस्येति वदन्तम् । एवं=यदि त्वं गातुमुत्सुकस्तर्हि । वृते=क्षेत्रप्राचीरस्य ('बाड') । तथानुष्ठिते=

१ 'यतीनाञ्चे'ति सर्वत्र पाठ· । स एव युक्त । यतीनामपि स्थानत्रयमितिचार्थ.। परमत्र-(१८३) सख्यैव भवति । न (१८५) इति विचार्यम् । अतीनाञ्चेति गौडाःपठन्ति।
२ 'गीतानाञ्च' । ३ 'शुष्कस्नायुरवैरीशं ररञ्ज रावणः पुरा'–पाठान्तरम् ।

रटनमाकर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधाद्दन्तान्घर्षयन्प्रधावितः। यावद्रासभो दृष्टस्तावल्लगुडप्रहारैस्तथा हतो यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतितः। ततश्च सच्छिद्रमुलूखलं गले बद्ध्वा क्षेत्रपालः प्रसुप्तः। रासभोऽपि स्वजातिस्वभावाद्गतवेदनः क्षणेनाऽभ्युत्थितः। उक्तञ्च—

'सारमेयस्य चाऽश्वस्य रासभस्य विशेषतः।
मुहूर्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा' ॥ ५६ ॥

ततस्तमेवोलूखलमादाय वृतिं चूर्णयित्वा पलायितुमारब्धः। अत्रान्तरे शृगालोऽपि दूरादेव तं दृष्ट्वा सस्मितमाह—

'साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः।
अपूर्वोऽयं मणिर्बद्धः सम्प्राप्तं गीतलक्षणम्' ॥ ५७ ॥

तद्भवान् मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः।' तच्छ्रुत्वा चक्रधर आह–'भो मित्र ! सत्यमेतत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्तं न करोति यः।
स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः' ॥ ५८ ॥

सुवर्णसिद्धिराह–'कथमेतत्' ?। सोऽब्रवीत्—

७. मन्थरकौलिककथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स्म। तस्य कदाचित् पटकर्माणि कुर्वतः सर्वपटकर्मकाष्ठानि भग्नानि। ततः स कुठारमादाय वने काष्ठार्थं गतः। स च समुद्रतटं

जम्बुके बहिर्गते सति। रासभरटनं=रासभध्वनिः। (गदहे का 'रेंकना')। क्षेत्रप = क्षेत्ररक्षकः। भूपृष्ठे=भूतले। उलूखलं=उदूखलम् ('ऊखली')। गले–'रासभस्येति' शेषः। गता वेदना=पीडा यस्यासौ–गतवेदनः। सारमेय =कुकुरः। विशेषतो रासभस्य=गर्दभस्यावश्यमेव। मुहूर्त्त=क्षणमात्रम्। व्यथा=पीडा ॥५६॥

सस्मितं=किञ्चिद्धासं कृत्वा। प्रज्ञा=बुद्धिः। निधनं=मरणम् ॥ ५८ ॥

कौलिकः=तन्तुवायः। पटकर्माणि=पटनिर्माणव्यापारं। सर्वपटकर्मकाष्ठानि= सकलान्यपि पट्टसाधनकाष्ठानि वेमादीनि। भग्नानि=त्रुटितानि। कुठारं=परशुम्।

यावद्भ्रमन्प्रयातः, तावत्तत्र शिंशपापादपस्तेन दृष्टः। ततश्चिन्तितवान्–'महानयं वृक्षो दृश्यते, तदनेन कर्त्तितेन प्रभूतानि पटकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति'—इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान्।

अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्व्यन्तरः समाश्रित आसीत्। अथ तेनाऽभिहितम्–'भोः ! मदाश्रयोऽयं पादपः सर्वथा रक्षणीयः, यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि–समुद्रकल्लोलस्पर्शनाच्छीतवायुनाऽऽप्यायितः।'

कौलिक आह–'भोः किमहं करोमि ?, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बकदम्बं बुभुक्षया पीड्यते। तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम्। अहमेनं कर्त्तयिष्यामि।' व्यन्तर आह–'भो !, तुष्टस्तवाहम्, तत्प्रार्थ्यतामभीष्टं किञ्चित्, रक्षैनं पादपम्' इति।

कौलिक आह–'यद्येवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं स्वभार्याञ्च पृष्ट्वा आगमिष्यामि ततस्त्वया देयम्।'

अथ 'तथा' इति व्यन्तरेण प्रतिज्ञाते स कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्रति निवृत्तो यावदग्रे गच्छति तावद्ग्रामप्रवेशे निजसुहृदं नापितमपश्यत्। ततस्तस्य व्यन्तरवाक्यं निवेदयामास–यत्–'अहो मित्र ! मम कश्चिद्व्यन्तरः सिद्धः, तत्कथय किं प्रार्थये ?,

---

समुद्रतट यावत्=समुद्रतटपर्यन्त। तत्र=समुद्रतटे। कर्त्तितेन=छिन्नेन। पटकर्मोपकरणानि=पटनिर्माणसाधनयन्त्राणि। अवधार्य=निश्चित्य। तस्य=वृक्षस्य। उत्क्षिप्तवान्=छेत्तुमुत्थापितवान्। व्यन्तरः=देवविशेष। समाश्रित.=स्थितः। पादप=वृक्ष। सर्वथा=येन केनाप्युपायेन। महासौख्येन=अतिसुखेन। समुद्रस्य ये कल्लोला=तरङ्गा, तेषां संस्पर्शात्=सम्बन्धात्, शीतेन वायुना-आप्यायित= हृष्ट.। दारुसामग्रीं=काष्ठनिर्मितपटोपकरण=कुटुम्बं=पुत्रकलत्रादिकम्। अन्यत्र= वृक्षान्तरे। तुष्ट=प्रसन्न। अभीष्टं= प्रियं वस्तु, मनोरथ। रक्ष=परिपालय। एव=प्रसन्नो वरदानोन्मुखश्चेत्। तत=तदनन्तरं। देयम्=अभीष्टं देयम्।

अथ=कौलिकप्रार्थनानन्तरं। तथा='एवमस्तु' इति। प्रतिज्ञाते=स्वीकृते सति। ग्रामप्रवेशे=ग्रामपरिसरप्रवेशे। निजसुहृद=स्वमित्रम्। तस्य-'सविधे'इति

अहं त्वां प्रष्टुमागतः।' नापित आह–'भद्र ! यद्येवं तद्राज्यं प्रार्थयस्व येन त्वं राजा भवसि, अहञ्च त्वन्मन्त्री। द्वावपीह सुखमनुभूय परलोकसुखमनुभवावः। उक्तञ्च—

'राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च।
तत्प्रभावात्पुनः स्वर्गे स्पर्धते त्रिदशैः सह' ॥ ५९ ॥

कौलिक आह–'अस्त्येतत्परं गृहिणीं पृच्छामि।' स आह–'भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतत्–यत्स्त्रिया सह मन्त्रः। यतस्ताः स्वल्पमतयो भवन्ति। उक्तञ्च—

भोजनाच्छादने दद्यादृतुकाले च सङ्गमम्।
भूषणाद्यं च नारीणां, न ताभिर्मन्त्रयेत्सुधीः ॥ ६० ॥
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्र प्रशासिता।
तद्गृहं क्षयमायाति भार्गवो हीदमब्रवीत् ॥ ६१ ॥
तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद्गुरुजने रतः।
पुरुषो योषितां यावन्न शृणोति वचो रहः ॥ ६२ ॥

शेषः। सिद्धः=प्रसन्नः। मन्त्री=अमात्यो भवामि। इह=संसारे, अनुभूय=उपभुज्य। नित्यं दानपरः=दानपरायणः। राजा इह कीर्तिमवाप्य–तस्य=दानस्य प्रभावात्–त्रिदिवे=स्वर्गे पुनः=किञ्च—त्रिदशैः सह स्पर्धते=मोदते ॥ ५९ ॥

गृहिणी=भार्याम्। मन्त्रः–परामर्शः। ताः=स्त्रियः। स्वल्पमतयः=अल्पबुद्धयः। नारीणां=स्त्रीभ्यः। भोजनञ्च आच्छादनञ्च भोजनाच्छादने=भोजनं वस्त्रञ्च दद्यात्। एवं भूषणादिकञ्च दद्यात्। सुधीः=धीमान्। ताभिः=स्त्रीभिः सह। न मन्त्रयेत्=न विचारमाचरेत् ॥ ६० ॥ यत्र=गृहे। कितवः=धूर्त्तः, द्यूतकृत् च। प्रशासिता=सञ्चालकः। क्षयं=विनाशम्। आयाति=प्राप्नोति। भार्गवः=शुक्राचार्यः। इदम्=इत्थम् ॥ ६१ ॥ सुप्रसन्नास्यः=प्रसन्नवदनः। गुरुजने=पितृमातृबन्धुवर्गे। रतः=अनुरक्तः। रहः=एकान्ते। योषितां=स्त्रीणाम्। वचः=वाक्यं, पुरुषो यावत् न शृणोति ॥ ६२ ॥

१ 'त्वं राजा अहञ्च त्वन्मन्त्री द्वावपीह।' पा०
२ 'भवत्वेवं परं पत्नीमपि पृच्छामि'। पा०। 'परम्' इत्यस्य स्थाने 'तथापि' इत्यपि पा०।

एताः स्वार्थपरा नार्यः केवलं स्वसुखे रताः ।
न[1] तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६३ ॥

कौलिक आह–'तथापि प्रष्टव्या सा मया, यतः पतिव्रता सा। अपरं तामपृष्ट्वाऽहं न किंचित्करोमि ।' एवं तमभिधाय सत्वरं गत्वा तामुवाच–'प्रिये! अद्यास्माकं कश्चिद्व्यन्तरः सिद्धः। स वाञ्छितं प्रयच्छति । तदहं त्वां प्रष्टुमागतः । तत्-कथय किं प्रार्थये ? । एष तावन्मम मित्रं नापितो वदत्येवं यत्-'राज्यं प्रार्थयस्व ।' साऽऽह–'आर्यपुत्र ! का मतिर्नापितानाम् ? । तन्न कार्यं तद्वचः । उक्तञ्च—

चारणैर्बन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ।
न[2] मन्त्रं मतिमान्कुर्यात्साधं भिक्षुभिरेव च ॥ ६४ ॥

अपरं–महती क्लेशपरम्परा–एषा राज्यस्थितिः, सन्धि-विग्रह-याना-ऽऽसन-संश्रय-द्वैधीभावादिभिः कदाचित्पुरुषस्य सुखं न प्रयच्छतीति । यतः—

एता नार्य. स्वार्थपरा केवल स्वसुखे रता–तासा स्वसुखं विना कोऽपि (किंवहुना)–सुतोऽपि न वल्लभ । स्वसुखार्थमेव खलु एता. पुत्रमपि वाञ्छन्तीत्याशय ॥ ६३ ॥

तथापि=स्वार्थपरा यद्यपि स्त्रिय,–तथापि सा=मद्भार्या । अपरं=किञ्च । वाञ्छित=मनोरथम् । आर्यपुत्र=प्रिय! । 'आर्यपुत्रेति सम्भाष्यो भर्ता स्त्रीभिस्तु यौवने'इत्युक्ते । मति=बुद्धि । तद्वच=नापितोक्तम् ।

चारणा=कुशीलवा, राजप्रशसका· । बन्दिन=स्तुतिपाठका । नीचै.=अधमै । भिक्षुभि'–नग्नकादिभिश्च सह मतिमान् मन्त्रं न कुर्यात् ॥ ६४ ॥

अपर=किञ्च । क्लेशपरम्परा=दुःखपरिपाटी । राज्यस्थितिः=राज्यपालनम् । सन्धि=पणबन्धपूर्वकं परेण सन्धान । विग्रह=युद्धम् । यान=विजिगीषोर्युद्धाय यात्रा । आसन=तुल्यवलयोर्दुर्गादौ कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानम् । संश्रय=बलीयस आश्रयणं । द्वैधीभाव=वाक्चातुर्येण वलवति रिपौ स्वात्मसमर्पणपूर्वक

---

१ 'न तासा वल्लभो यस्मात्स्वसुतोऽपि सुख विना' । पाठा० ।
२ 'न मन्त्रो यतिभिः कार्य.' ।

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धिः ।
घटा नृपाणामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥ ६५ ॥

तथा च—

रामस्य व्रजनं वने, निवसनं पाण्डोः सुतानां वने,
वृष्णीनां निधनं, नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।
सौदासं तदवस्थमर्जुनवधं संचिन्त्य लङ्केश्वरं—
दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्मान्न तद्वाञ्छयेत् ॥६६॥
यदर्थं भ्रातरः पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजाः— ।
वधं राज्यकृतां राज्ञां, तद्राज्यं दूरतस्त्यजेत् ॥ ६७ ॥

कौलिक आह—'सत्यमुक्तं भवत्या । तत्कथय किं प्रार्थये ?' । साऽह—त्वं तावदेकं पटं नित्यमेव निष्पादयसि । तेन सर्वा व्यय-शुद्धिः संपद्यते । इदानीं त्वमात्मनोऽन्यद्बाहुयुगलं, द्वितीयं शिरश्च याचस्व । येन पटद्वयं सम्पादयसि पुरतः पृष्ठतश्च । एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्वं व्ययं सम्पादयिष्यसि । द्वितीयस्य

मलक्षितावस्थानम् । सुखं न प्रयच्छति=न ददाति । अस्य 'राज्यस्थिति'रिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

यदैव नृणां राज्येऽभिषेक=सविधि स्थापनं क्रियते,-तदा प्रभृत्येव, व्यसने=आपत्सु । ननु—नृपाणाम् अभिषेककाले घटा·—अम्भसा=जलेन सहैव—आपदम् उद्गिरन्ति=वमन्ति । तदेवं नानाचिन्तासमाकुलं राज्यमित्याशय ॥ ६५ ॥

रामस्य वने—व्रजनं=गमनम् । पाण्डोः सुताना वने निवसनम् । वृष्णीनां=यादवानाम् । निधनं=मरणम् । नलस्य नृपतेः—राज्यभ्रंशम् । सौदासस्य राज्ञो वसिष्ठ-शापाद्राक्षसयोनिगमनम् । कार्तवीर्यार्जुनस्य परशुरामेण वधञ्च, सञ्चिन्त्य=विचार्य । किञ्च लङ्केश्वरं=रावणं, राज्यकृते=राज्यार्थं, विडम्बनगतं=कालवशङ्गतं—दृष्ट्वा, तत्=राज्यं, न वाञ्छयेत्=नैव इच्छेत् ॥६६॥ **यदर्थं**=राज्यार्थं, भ्रातर., पुत्राः, एवं ये निजाः = बान्धवाः,—राज्यकृता=राज्येऽभिषिक्ताना राज्ञा=नृपाणा, वधं=घातं, वाञ्छन्ति, तद्राज्यं विद्वान् जीवितमिच्छन् दूरतः-त्यजेत् ॥ ६७ ॥

निष्पादयसि=निर्मासि । व्ययशुद्धि.=गृहोचितव्ययनिर्वाहः । आत्मनः=

---

१ 'तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या'। २ 'क्लेनियमन' । पा० ।

मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि। एवं सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाघ्यमानस्य कालो यास्यति, लोकद्वयस्योपार्जना च भविष्यति।'

सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्टः प्राह—'साधु पतिव्रते ! साधु, युक्तमुक्तं भवत्या। तदेवं करिष्यामि। एष मे निश्चयः।'

ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे—'भोः, यदि ममेप्सितं प्रयच्छसि, तद्देहि मे द्वितीयं बाहुयुगलं, शिरश्च।'

एवमभिहिते तत्क्षणादेव द्विशिराश्चतुर्बाहुश्च संजातः। ततो हृष्टमना यावद्गृहमागच्छति, तावल्लोकै 'राक्षसोऽय'मिति मन्यमानैर्लगुडपाषाणप्रहारैस्ताडितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा' इति ।*।

चक्रधर आह—'भोः सत्यमेतत्, सर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयकदाशापिशाचिकाग्रस्तो हास्यपदवीं याति। अथवा साध्विद मुच्यते केनापि—

'अनागतवती चिन्तामसंभाव्यां करोति यः।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ६८ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—'कथमेतत्' ? । सोऽब्रवीत्—

८. भाविसोमशर्मपितृकथा

कस्मिंश्चिन्नगरे कश्चित्स्वभावकृपणो नाम ब्राह्मणः प्रति-

स्वस्य। याचस्व=वृणु। पुरतः=अग्रतः। विशेषकृत्यानि=नैमित्तिकमङ्गलकृत्यानि। सौख्येन=आनन्देन। श्लाघ्यमानस्य=स्तूयमानस्य। कालः=जीवनम्। लोकद्वयस्य=स्वर्गलोकमर्त्यलोकाख्यलोकद्वयस्य। आकर्ण्य=श्रुत्वा। ईप्सितम्=वाञ्छितम्। तत्क्षणादेव=झटिति। लगुडः=दण्डः। पाषाणः=प्रस्तरः। अश्रद्धेया=जघन्याम्। कदाशापिशाचिकाग्रस्तः=आशारूपदुष्टपिशाचीगृहीतः। हास्यपदवीं=उपहास्यताम्। अनागतवती=अनागताम्। असम्भाव्या=असम्भावनीयाम्। पाण्डुरः=चिन्तामलिनः, सक्तुधूसरश्च ॥ ६८ ॥

१. 'अश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य' इति पाठान्तरम्।

वसति स्म। तेन भिक्षार्जितैः सक्तुभिर्भुक्तशेषैः कलशः संपूरितः। तं च घटं नागदन्तेऽवलम्ब्य तस्याधस्तात्खट्वां निधाय सततमेकदृष्ट्या तमवलोकयन् कदाचिद्रात्रौ सुप्तश्चिन्तयामास। यत्,- परिपूर्णोऽयं घटस्तावत्सक्तुभिर्वर्तते। तद्यदि दुर्भिक्षं भवति तदनेन रूपकाणां शतमुत्पत्स्यते। ततस्तेन मयाऽजाद्वयं ग्रहीतव्यम्। ततः षाण्मासिकप्रसववशात्ताभ्यां यूथं भविष्यति। ततोऽजाभिः प्रभूता गा ग्रहीष्यामि। गोभिर्महिषीः। महिषीभिर्वडवाः। वडवाप्रसवतः प्रभूता अश्वा भविष्यन्ति। तेषां विक्रयात्प्रभूतं सुवर्णं भविष्यति। सुवर्णेन चतुःशालं गृहं सम्पत्स्यते। ततः कश्चिद्ब्राह्मणो मम गृहमागत्य प्राप्तवयस्कां रूपाढ्यां कन्यां दास्यति। तत्सकाशात्पुत्रो मे भविष्यति। तस्याहं सोमशर्मेति नाम करिष्यामि। ततस्तस्मिञ्जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तकं गृहीत्वाऽश्वशालायाः पृष्ठदेशे उपविष्टस्तदवधारयिष्यामि। अत्रान्तरे सोमशर्मा मां दृष्ट्वा जनन्युत्सङ्गाज्जानुप्रचलनपरोऽश्वखुराऽऽसन्नवर्ती मत्समीपमागमिष्यति। ततोऽहं ब्राह्मणीं कोपाविष्टोऽभिधास्यामि—'गृहाण तावद्बालकम्।' सापि गृहकर्मव्यग्र-

स्वभावेन-कृपणः=बद्धमुष्टिः। नाम=प्रसिद्धः। भिक्षार्जितैः=भिक्षाप्राप्तैः। भुक्तशेषैः=भोजनावशिष्टैः। सक्तुभिः=भृष्टयवचणकचूर्णैः। कलशः=घटः। नागदन्ते=भित्तिरोपिते काष्ठे। ('खूटी' पर)। तस्य=नागदन्तस्थस्य घटस्य। एकदृष्ट्या=निर्निमेषलोचनेन। तं=घटम्। दुर्भिक्षम्=अनावृष्टिः। अनेन=सक्तुघटेन। उत्पस्यते=लप्स्यते। अजाद्वय=छागमिथुनम्। ततः=अजाद्वयग्रहणानन्तरं। षाण्मासिकप्रसववशात्=षण्मासाभ्यन्तरगर्भोत्पत्तिपरम्परया। ताभ्या=छागाभ्याम्। यूथम्=अजवृन्दम्। प्रभूताः=विपुलाः। वडवाः=अश्वा (घोडी)। प्रसवताः= गर्भग्रहणमोचनादिभिः। चतुःशालं=चतुर्दिक्शालाशोभितम्। प्राप्तवयस्का= युवतिम्। रूपाढ्या=रूपवतीम्। दास्यति विवाहार्थमिति शेषः। तस्मिन्=सोमशर्मणि। जानुचलनयोग्ये=पादविक्षेपसमर्थे। तत्=जानुचलनम्। जनन्युत्सङ्गात्= मातुरङ्कात्। अश्वखुरासन्नवर्ती=घोटकपादनिकटचरः। कोपाविष्टः=क्रुद्धः। गृह-

१ 'उत्पद्यते' इति पा०।

तयाऽस्मद्वचनं न श्रोष्यति। ततोऽहं समुत्थाय तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि'। एवं तेन ध्यानस्थितेन तथैव पादप्रहारो दत्तो यथा स घटो भग्नः, स्वयञ्च सक्तुभिः पाण्डुरतां गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इति।

सुवर्णसिद्धिराह[1]—'एवमेतत्, कस्ते दोषः, यतः—सर्वोऽपि लोभेन विडम्बितो बाध्यते। उक्तञ्च—

'यो लौल्यात्कुरुते कर्म न चोदर्कमवेक्षते[2]।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपतिः' ॥ ६९ ॥

चक्रधर आह—'कथमेतत्?।' स आह—

९. वानरविडम्बितचन्द्रभूपतिकथा

कस्मिंश्चिन्नगरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसति स्म। तस्य पुत्रा वानरक्रीडारता वानरयूथं नित्यमेवानेकभोजनभक्ष्यादिभिः पुष्टिं नयन्ति स्म। अथ वानरयूथाधिपो यः स औशनस-बार्हस्पत्य-चाणक्यमतवित्, तदनुष्ठाता च। तत्सर्वानप्यध्यापयति स्म।

अथ तस्मिन्राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेषयूथमस्ति। तन्मध्यादेको जिह्वालौल्यादहर्निशं निःशङ्कं महानसे प्रविश्य

कर्मव्यग्रतया=भोजनादिव्यापारसक्ततया। एवम्=इत्थं नानाविधमिथ्याकल्पनाभि। तेन=स्वभावकृपणेन विप्रेण। (शेखचिल्ली)। पाण्डुरता=धूसरताम्। ते=सिद्धिभ्रष्टस्य चक्रधरस्य। विडम्बित.=प्रतारितः।

लौल्यात्=चापल्यात्। उदर्क.=उत्तरं फलम्। 'उदर्कस्तूत्तरं फल'मिति कोशात्। विडम्बना=वञ्चनाम् ('ठगा जाना')॥ ६९॥

वानरक्रीडासु=कपिक्रीडासु। रता=निरता,—वानरयूथं=मर्कटवृन्दम्। अनेकभोजनभक्ष्यादिभि-नानाविधभक्ष्य-भोज्य-लेह्यादिभि.। उशनसा प्रोक्तमधीते-तद् वेत्तीति तथा। सकलनीतिशास्त्रपारज्ञत। यद्वा—उशनस इदमौशनसमिति रीत्या तस्येदमित्यण्। तदनुष्ठाता=नीतिसंमतकार्यकर्ता। तान्=वान-

१. 'सुवर्णसिद्ध' इति पाठान्तरम्। २ 'न चाऽनर्थम्। पा०।

यत्पश्यति तत्सर्वं भक्षयति। ते च सूपकारा यत्किञ्चित्काष्ठं, मृण्मयं भाजनं, कांस्यपात्रं, ताम्रपात्रं वा पश्यन्ति, तेनाशु ताडयन्ति। सोऽपि वानरयूथपस्तद् दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्–'अहो! मेषसूपकारकलहोऽयं वानराणां क्षयाय भविष्यति। यतोऽन्नरसाऽऽस्वादलम्पटोऽयं मेषः, महाकोपाश्च सूपकारा यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति। तद्यदि वस्तुनोऽभावात्कदाचिदुल्मुकेन ताडयिष्यन्ति तदोर्णाप्रचुरोऽयं मेषः स्वल्पेनाऽपि वह्निना प्रज्वलिष्यति। तद्दह्यमानः पुनरश्वकुट्यां समीपवर्तिन्यां प्रवेक्ष्यति। सापि तृणप्राचुर्याज्ज्वलिष्यति। ततोऽश्वा वह्निदाहमवाप्स्यन्ति। शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तं; यत्—'वानरवसयाऽश्वानां वह्निदाहदोषः प्रशाम्यति'। तन्नूनमेतेन भाव्यम्। एषोऽत्र निश्चयः। एवं निश्चित्य सर्वान्वानरानाहूय रहसि प्रोवाच। यतः—

'मेषेण सूपकाराणां कलहो यत्र जायते।
स भविष्यत्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः॥ ७०॥
तस्मात्स्यात्कलहो यत्र गृहे नित्यसकारणः।
तद्गृहं जीवितं वाञ्छन्दूरतः परिवर्जयेत्'॥ ७१॥

तथा च—

कलहान्तानि हर्म्याणि, कुवाक्यान्तं च सौहृदम्।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि, कुकर्मान्तं यशो नृणाम्॥ ७२॥

रान्। लघवो ये कुमारास्तेषा वाहनं तस्य योग्यं=स्वल्पशरीरम्। जिह्वालौल्यात्=मिष्टान्नलोभात्। महानसे=रसवत्याम्। सूपकाराः=पाचका.। क्षयाय=विनाशाय। अन्नास्वादलम्पटः=मिष्टान्नरसास्वाददुर्ललितः। उल्मुकेन=ज्वलत्काष्ठेन। ऊर्णाप्रचुरः=ऊर्णाबहुलः। अश्वकुटी=अश्वशाला। प्रवेक्ष्यति=प्रवेशं करिष्यति। वह्निदाहं=वह्निना दाहम्। एतेन=मच्छङ्कितेन वानरक्षयेण। निश्चयः=मदुक्त एव निश्चयः। रहसि=एकान्ते। यत्र=गृहे। स =कलह। क्षयावहः=विनाशकारक·। 'कलहो योऽत्र वर्त्तते' इत्यपि पाठः॥ ७०॥

नास्ति कारणं यस्यासौ–अकारण.=निर्हेतुकः। जीवितं=दीर्घजीवित्वम्। वाञ्छन्–इच्छन्। तद्गृहं दूरतः परिवर्जयेत्-इत्यर्थ.॥७१॥ कलहेन अन्तो=नाशो

तन्न यावत्सर्वेषां संक्षयो भवति, तावदेतद्राजगृहं सन्त्यज्य वनं गच्छामः। अथ तत्तस्य वचनमश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्धता वानराः प्रहस्य प्रोचुः—'भोः! भवतो वृद्धभावाद्बुद्धिवैकल्यं सञ्जातं, येनैतद्ब्रवीपि। उक्तञ्च—

'वदनं दशनैर्हीनं लाला स्रवति नित्यश.।
न मतिः स्फुरति क्वापि बाले, वृद्धे विशेषत.'॥ ७३॥

न वयं स्वर्गसमानोपभोगान्नानाविधान्भक्ष्यविशेषान्राजपुत्रैः स्वहस्तदत्तानमृतकल्पान्परित्यज्य तत्राटव्यां कषायकटुतिक्तक्षार- रूक्षफलानि भक्षयिष्यामः। तच्छ्रुत्वाऽश्रुकलुषां दृष्टिं कृत्वा स प्रोवाच-'रे रे मूर्खाः! यूयमेतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ। रसास्वादनप्रायमेतत्सुखं परिणामे विषवद्भविष्यति। तदाहं कुलक्षयं स्वयं नावलोकयिष्यामि। सांप्रतं वनं यास्यामि।

उक्तञ्च—'मित्रं व्यसनसंप्राप्तं, स्वस्थानं परपीडितम्।
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्'॥ ७४॥

येषान्तानि। हर्म्याणि=कुलानि। कुवाक्येनान्तो यस्य तत्-कुवाक्यान्तं=दुरुक्ति- विनाशि। सौहृदम्=मैत्री। कुराजेन अन्तो येपान्तानि,—कुराजान्तानि। राष्ट्राणि= राज्यानि। नृणा यशश्च। कुकर्मान्तं=दुराचारविनाशि भवति॥७२॥ अश्रद्धेय= विश्वासानर्हम्। मदोद्धता =मदमत्ता। वृद्धभावात्=वार्द्धक्यात्। बुद्धिवैकल्यं= बुद्धिलोप। वदनं=मुखम्। दशनै=दन्तै। लाला=मुखजलम्। स्रवति=क्षरति, निस्सरति। क्वापि=विचारणीये विपये। स्फुरति=प्रसरति॥ ७३॥

स्वर्गेण समान उपभोगो येपान्तान्। अमृतकल्पान्=अमृततुल्यास्वादान्। अटव्या=विपिने। कषाय, कटु, तिक्त, क्षारश्च=रसविशेषा, तद्बहुलानि अत एव रूक्षाणि=विरसानि फलानि न वयं भक्षयिष्याम इति सम्बन्ध.। अश्रुभि कलुषाम्=आविलाम्। दृष्टि=चक्षु। किम्पाको=विपवृक्ष। तत्फलरसास्वादनमादौ सुखदमपि परिमाणे मृत्युदं भवति। तथैव—एतत्सुखं=मधुरमधुरान्नरसास्वादजं सुखम्। साम्प्रतम्=इदानीम्।

व्यसनसम्प्राप्त=विपत्तिग्रस्तं। परै=शत्रुभि। पीडित=समाक्रान्तम्। स्व-

---

१. 'धन्यास्तात' इति पा०।

एवमभिधाय सर्वांस्तान्परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः।

अथ तस्मिन्गतेऽन्यस्मिन्नहनि स मेषो महानसे प्रविष्टः। यावत्सूपकारेण नान्यत्किञ्चित्समासादितं तावदर्धज्वलितकाष्ठेन ताडितः। सोऽपि तेन ताडितः सन् जाज्वल्यमानशरीरः शब्दायमानोऽश्वकुट्यां प्रत्यासन्नवर्तिन्यां प्रविष्टः। तत्र तृणप्राचुर्ययुक्तायां क्षितौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्रापि वह्निज्वालास्तथा समुत्थिता यथा केचिदश्वाः स्फुटितलोचनाः पञ्चत्वं गताः, केचिद्बन्धनानि त्रोटयित्वा अर्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च ह्रेषायमाणा धावमानाः सर्वमपि जन (समूह-) माकुलीचक्रुः। अत्रान्तरे राजा सविषादः शालिहोत्रज्ञान् वैद्यानाहूय प्रोवाच-'भोः! प्रोच्यतामेषामश्वानां कश्चिद्दाहोपशमनोपायः?।' तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य प्रोचुः- 'देव! प्रोक्तमत्र विषये भगवता शालिहोत्रेण। यत्—

'कपीनां मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भवः।
अश्वानां नाशमभ्येति तमः सूर्योदये यथा' ॥ ७५ ॥

तत्क्रियतामेतच्चिकित्सितं द्राक्, यावदेते न दाहदोषेण विनश्यन्ति।' सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधमादिष्टवान्। किं

स्थानं=स्वभवनम्। देशभङ्गम्=परसेनादिना राष्ट्रभङ्गम्। कुलक्षयं=बन्धुवर्गविनाशञ्च। ये न पश्यन्ति-ते धन्याः=श्रेष्ठाः ॥ ७४ ॥

अभिधाय=उक्त्वा। तान्=वानरान्। अन्यस्मिन्=कस्मिंश्चित्। अहनि=दिने। अर्धज्वलितकाष्ठेन=उल्मुकेन। शब्दायमानः=शब्दं कुर्वन्। तृणप्राचुर्ययुक्तायाः तृणबहुलायाम्। स्फुटितलोचनाः=अन्धाः सन्तः। पञ्चत्वं=मृत्युम्। गताः=प्राप्ताः ह्रेषायमाणाः=ह्रेषारवं कुर्वन्तः। ह्रेषा=अश्वशब्दः। अन्तरे=अवसरे। सविषादः शोकाकुलः। शालिहोत्रम्=अश्ववैद्यकं-जानन्तीति-शालिहोत्रज्ञाः, तान्। शालिहोत्रः=अश्ववैद्यकशास्त्रप्रणेता मुनिविशेषः। चिकित्सितम्=उपचारः। द्राक्=झटिति। सः=राजा। तत्=वैद्यवाक्यम्। आकर्ण्य=श्रुत्वा। आदिष्टवान्-आज्ञापया-

१ 'कपीनां वसयाऽश्वानां वह्निदाहसमुद्भवा। व्यथा विनाशमभ्येति—'। पा०।

बहुना ? सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुधलगुडपाषाणादिभि र्व्यापादिताः-इति ।

अथ सोऽपि वानरयूथपस्तं पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादि-संक्षयं ज्ञात्वा परं विषादमुपागतः । सन्त्यक्ताहारक्रियो वनाद्वनं पर्यटति । अचिन्तयच्च-'कथमहं तस्य नृपाऽपसदस्याऽनृणतां कृत्येनापकृत्य करिष्यामि ? । उक्तञ्च—

'मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।
भयाद्वा यदि वा कामात्स ज्ञेय: पुरुषाधमः' ॥ ७६ ॥

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनी-षण्डमण्डितं सरः समासादितम् । तद्यावत्सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोक-यति तावद्वनचरमनुष्याणां पदपङ्क्तिप्रवेशोऽस्ति, न निष्क्रमणम् । ततश्चिन्तितम्-'नूनमत्र जलान्ते दुष्टग्राहेण भाव्यम् । तत्पद्मिनी-नालमादाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि ।'

तथानुष्ठिते तन्मध्याद्राक्षसो निष्क्रम्य रत्नमालाविभूषित-कण्ठस्तमुवाच-'भोः ! अत्र यः सलिले प्रवेशं करोति स मे भक्ष्यः' इति । तन्नास्ति धूर्ततरस्त्वत्समोऽन्यो यः पानीयमनेन विधिना

मास । व्यापादिता=राजपुरुषैर्हता । भ्रातृसुत=भ्रातुःपुत्र । भागिनेय=भगिनी-सुत । परम्=अत्यन्तम् । विषादं=शोकम् । त्यक्ताहारक्रिय=परिवर्जितभोजन-व्यापार । पर्यटति=भ्राम्यति । नृपापसदस्य=दुष्टस्य राज्ञ । कृत्येन=केनचित् कर्मणा । अपकृत्य=अपकारं कृत्वा । अनृणता=वैरनिर्यातनेनाऽऽनृण्य । धर्षणा= पराभवम् । परै=शत्रुभि ; निर्मिता=कृताम् । कामात्=लोभादिना ॥ ७६ ॥

पिपासाकुलेन=तृष्णार्त्तेन । पद्मिनीषण्डेन मण्डित=कमलिनीकदम्बशोभि-तम् । 'अब्जादिकदम्बे षण्डमस्त्रियाम्'-इत्यमर । सूक्ष्मेक्षिकया=विवेकशालिन्या दृष्ट्या । वनचराश्च तेषा-पदपङ्क्तिप्रवेश=चरणचिह्नावलिप्रवेश. । निष्क्रमण= निर्गम । जलान्ते=जलमध्ये । दुष्टग्राहेण=दुष्टेन जलजन्तुना । पद्मिनीनालं=कम-लिनीनालदण्डम् । तन्मध्यात्=सरोमध्यात् । धूर्त्ततर.=चतुरतर । पानीयं=जलम् ।

---

१ पद्मिनी (कमल की लता) की नाल बांस की तरह पोली होता है ।

पिवति' ।। ततस्तुष्टोऽहं, प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम् ।'

कपिराह–'भोः कियती ते भक्षणशक्तिः ?' । स आह–'शत-सहस्रायुतलक्षाण्यपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि, वाह्यतः शृगालोऽपि मां धर्षयति ।

वानर आह–'अस्ति मे केनचिद्भूपतिना सहात्यन्तं वैरम्, यद्येनां रत्नमालां मे प्रयच्छसि–तत्सपरिवारमपि तं भूपतिं वाक्प्रपञ्चेन लोभयित्वा अत्र सरसि प्रवेशयामि ।

सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमालां दत्त्वा प्राह–'भो मित्र ! यत्समुचितं भवति तत्कर्त्तव्यम्' इति ।

वानरोऽपि रत्नमालाविभूषितकण्ठो वृक्षप्रासादेषु परिभ्रमञ्जनैर्दृष्टः, पृष्टश्च–'भो यूथप ! भवानियन्तं कालं कुत्र स्थितः ?, भवता ईदृग्रत्नमाला कुत्र लब्धा, या दीप्त्या सूर्यमपि तिरस्करोति?।

वानरः प्राह–'अस्ति कुत्रचिदरण्ये गुप्ततरं महत्सरो धनदनिर्मितम्, तत्र सूर्येऽर्धोदिते रविवारे यः कश्चिन्निमज्जति, स धनदप्रसादादीदृग्रत्नमालाविभूषितकण्ठो निःसरति ।

अथ भूभुजा तदाकर्ण्य स वानरः समाहूतः पृष्टश्च–'भो यूथाधिप ! किं सत्यमेतत् ?, रत्नमालासनाथं सरोऽस्ति क्वापि ?।'

कपिराह–'स्वामिन् ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्न-

अनेन विधिना=पद्मिनीनालेन । हृदयवाञ्छितं=मनोऽभिलषितम् । अयुतं=दश सहस्रम् । धर्षयति=मा तिरस्करोति । दूषयतीति पाठे–दूषयति=वञ्चयति ।

भूपतिना=राज्ञा । वाक्प्रपञ्चेन=वाग्जालेन । श्रद्धेयं=विश्वासार्हं । वृक्षप्रासादेषु=तरुस्कन्ध–हर्म्यादिषु । या=रत्नमाला । दीप्त्या=स्वप्रभया । धनदनिर्मितं=कुबेरनिर्मितम् । अर्धोदिते=किञ्चिदुदिते । निमज्जति=स्नाति । ईदृश्या रत्नमालया विभूषित. कण्ठो यस्यासौ तथा । निस्सरति=उन्मज्जति । भूभुजा=राज्ञा । तत्=वाक्यम् । रत्नमालासनाथं=रत्नमालासहितम् । प्रत्यक्षतया स्थितया रत्नमालया (उपलक्षितः) मत्कण्ठ एव ते–प्रत्ययः=विश्वासोत्पादक. । 'अस्तु' इति शेष' । मत्कण्ठस्थां मालां दृष्ट्वैव मद्वाक्ये भवता विश्वासो विधेय इत्यर्थ । यद्वा–'म-

---

१ 'दूषयति' पा० ।

मालया प्रत्ययस्ते। तद्यदि रत्नमालया प्रयोजनं तन्मया सह कमपि प्रेषय येन दर्शयामि। तच्छ्रुत्वा नृपतिराह–'यद्येवं तदहं सपरिजनः स्वयमेष्यामि, येन प्रभूता रत्नमालाः सम्पद्यन्ते।

वानर आह–'एवं क्रियताम्।'

तथानुष्ठिते भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः प्रस्थिताः। वानरोऽपि राज्ञा दोलाधिरूढेन स्वोत्सङ्ग आरोपितः सुखेन प्रीतिपूर्वमानीयते। अथवा साध्विदमुच्यते—

तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं यया वित्तान्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते, भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि॥ ७७॥

तथा च—

इच्छति शती सहस्रं, सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं, राज्यस्थः स्वर्गमीहते॥ ७८॥
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे, तृष्णैका तरुणायते॥ ७९॥

अथ तत्सरः समासाद्य वानरः प्रत्यूषसमये राजानमुवाच–

त्कण्ठस्थितये'त्येकमेव पद। 'प्रत्येय' इति च पाठ। एषोऽहं कण्ठस्थरत्नमालयोपलक्षित–तव प्रत्येय=विश्वासार्हः।

परिजन.=सकलानुचरवर्गसहितः। एष्यामि=गमिष्यामि। सम्पद्यन्ते=मिलन्ति। एवं क्रियता=सपुत्रपौत्रानुचरसहितेन भवता गम्यताम्। तथाऽनुष्ठिते=राज्ञि सकुटुम्बे प्रचलिते सति। कलत्राणि भृत्याश्च कलत्रभृत्या.=राजपत्नीसेवकादिपरिवार। दोलाधिरूढेन=प्रेङ्खारूढेन। (दोला='पालकी')। स्वोत्सङ्गे=क्रोडे। (गोद मे)।

यया=तृष्णया। वित्तान्विता=धनिनोऽपि। अकृत्येषु=अकरणीयेषु कर्मसु। नियोज्यन्ते=बलेन योज्यन्ते। दुर्गमेषु=अगम्येषु अपि स्थानेषु। भ्राम्यन्ते=नीयन्ते॥ ७७॥ शती=शतरूप्यकशाली। सहस्र=तत्संख्यातं धनम्। इच्छति=वाञ्छति। सहस्री=सहस्रसंख्यकरूप्यकशाली। लक्ष=लक्षसंख्यातम्। ईहते=वाञ्छति। लक्षाधिप=लक्षपतिः। राज्यम्–इच्छति। राज्यस्थ=राज्याधिप। स्वर्ग=देवराजपदम्। ईहते॥ ७८॥

'देव ! अत्राऽर्धोदिते सूर्येऽन्तःप्रविष्टानां सिद्धिर्भवति। तत्सर्वोऽपि जन एकदैव प्रविशतु, त्वया पुनर्मया सह प्रवेष्टव्यं, येन पूर्वदृष्टस्थानमासाद्य प्रभूतास्ते रत्नमाला दर्शयामि।'

अथ प्रविष्टास्ते लोकाः सर्वे भक्षितास्तेन। अथ तेषु चिरायमाणेषु राजा वानरमाह—'भो यूथाधिप ! किमिति चिरायते मे परिजनः!' तच्छ्रुत्वा वानरः सत्वरं वृक्षमारुह्य राजानमुवाच—'भो दुष्टनरपते !, राक्षसेनान्तःसलिलस्थितेन भक्षितस्ते परिजनः। साधितं मया कुलक्षयजं वैरम्। तद्गम्यताम्। त्वं स्वामीति मत्वा नाऽत्र प्रवेशितः।

कृते प्रतिकृतं (तिं) कुर्याद्धिंसिते प्रतिहिंसितम्।
न तत्र दोषं पश्यामि, यो दुष्टे दुष्टमाचरेत् ॥ ८० ॥

तत्त्वया मम कुलक्षयः कृतः, मया पुनस्तवेति।

अथैतदाकर्ण्य राजा कोपाविष्टः पदातिरेकाकी यथाऽऽयातमार्गेण निष्क्रान्तः। अथ तस्मिन्भूपतौ गते राक्षसस्तृप्तो जलान्निष्क्रम्य सानन्दमिदमाह—

'हतः शत्रुः, कृतं मित्रं, रत्नमाला न हारिता।
नालेन पिबता तोयं भवता साधु वानर !' ॥ ८१ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'यो लौल्यात्कुरुते कर्म' इति। *

तत्=राक्षसाधिष्ठितं। प्रत्यूषसमये=प्रभातसमये। देव=महाराज। अत्र=सरसि। अन्तः=मध्ये। ('अत्रे'त्यशोभन पाठ)। सिद्धिः=रत्नमालासिद्धिः। आसाद्य=प्राप्य। चिरायमाणेषु=विलम्बमानेषु। जनः=बन्धुभृत्यवर्गः। साधितं=निर्यातितम्। ('वैर साधना', वैर पूरा करना')। स्वामी=रक्षक, अन्नदाता प्रभुः। अत्र=सरसि। प्रवेशितः। 'मये'ति शेषः।

कृते—उपकारेऽपकारे वा कृते। प्रतिकृत=प्रत्युपकारादिकं। हिंसिते=हिंसादौ कृते। प्रतिहिंसितं=मारणादिकं कुर्यात्। तत्र=हिंसादावनुष्ठितेऽपि। दोषं न पश्यामि। यतः दुष्टे दुष्टं=दण्डप्रयोगादिक समाचरेदेव ॥ ८० ॥

तवेति। कुलक्षयः। कृत इति शेषः। कोपाविष्टः=क्रोधाकुल। पदाति=पादचारी। यथायातमार्गेण=येनैव पथाऽऽयातस्तेनैव पथा। निष्क्रान्तः=गत।

एवमुक्त्वा भूयोऽपि स चक्रधरमाह–'भो मित्र ! प्रेषय मां, येन स्वगृहं गच्छामि ।

चक्रधर आह–'भद्र ! आपदर्थे धनमित्रसङ्ग्रहः क्रियते । तन्मामेवंविधं त्यक्त्वा क्व यास्यति ? ।

उक्तञ्च–

'यस्त्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठुरतां वहन् ।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम्' ॥ ८२ ॥

सुवर्णसिद्धिराह–'भोः सत्यमेतद्यदि गम्यस्थाने शक्तिर्भवति । एतत्पुनर्मनुष्याणामगम्यस्थलम् । नास्ति कस्यापि त्वामुन्मोचयितुं शक्तिः । अपरं–यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्यामि, तथा तथाऽहमेतज्जानामि यद्—'द्राग् गच्छामि मा कश्चिन्ममाप्यनर्थो भवे'दिति । यतः–

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर ! ।
विकालेन गृहीतोऽसि, यः परैति स जीवति ॥ ८३ ॥

शत्रुः=चन्द्रभूपतिः । हतः=नाशितः । कृतं मित्रं=राक्षसोऽहं सन्तर्पणेन मित्रता नीतः । हारिता=न दत्ता । नालेन=पद्मनालेन । तोयं=जलम् ॥ ८१ ॥

आपदर्थे=विपत्तितः परिरक्षणार्थम् । धनस्य मित्राणाञ्च सङ्ग्रहः=स्वीकरणम् । एवंविधं=भ्रमच्चक्रपीडितम् । सापदम्=आपत्तिसहितम् । कृतघ्नो भूत्वाऽसंशयं नरके यातीति सम्बन्धः ॥ ८२ ॥

गम्यस्थाने=गन्तुं योग्यायां भुवि । 'वर्तमानं स्वमित्रं मोचयितु'मिति शेषः । शक्तिः=स्वमित्रस्य मोक्षणे शक्तिर्भवति । तदा सापदं मित्रं त्यक्त्वा गच्छन् कृतघ्नो भवति इत्यर्थः । एतत्=यत्र भवान् वर्तते । चक्रभ्रमवेदनया=चक्रभ्रमणजन्यपीडया । मुखविकारं=मुखवैरूप्यम् । जानामि=हृदि चिन्तयामि । द्राक्=त्वरितम् । अनर्थः=विपत्तिः ।

वदनच्छाया=मुखकान्तिः । विकालेन=तन्नाम्ना राक्षसेन । विपत्तिविशेषेण च । परैति=पलायते । स एव जीवति=स एव विपदा मुच्यते, नान्यः ॥ ८३ ॥

---

१ 'गम्यस्थाने स्थितं शक्तियुक्तम्त्यजति' । इति लिखितपुस्तकस्थः पाठः शोभनः ।

चक्रधर आह—'कथमेतत् ?।' सोऽब्रवीत्–

१० विकालराक्षसवानरकथा

कस्मिंश्चिन्नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म। तस्य सर्वलक्षणसंपन्ना रत्नवती नाम कन्याऽस्ति। तां कश्चिद्राक्षसो जिहीर्षति। रात्रावागत्योपभुङ्क्ते। परं कृतरक्षाविधानां तां हर्तुं न शक्नोति। साऽपि तत्समये रक्षःसांनिध्यजामवस्थामनुभवति कम्पादिभिः। एवमतिक्रामति काले कदाचित्स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः। साऽपि राजकन्या स्वसखीमुवाच–'सखि! पश्यैष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति, अस्ति दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित् ?।'

तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत्—'नूनं यथाहं तथाऽन्योपि कश्चिद्विकालनामाऽस्या हरणाय नित्यमेवागच्छति, परं सोऽप्येनां हर्तुं न शक्नोति। तत्तावदश्वरूपं कृत्वाऽश्वमध्यगतो निरीक्षयामि,–'किंरूपः सः ?, किं प्रभावश्चे'ति।

एवं राक्षसोऽश्वरूपं कृत्वाऽश्वानां मध्ये तिष्ठति।

तथाऽनुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चिदश्वचौरः प्रविष्टः।

तस्य=भद्रसेनस्य। सर्वैः शुभलक्षणैः सम्पन्ना=युक्ता। हर्तुमिच्छति जिहीर्षति=बलान्नेतुमिच्छति। उपभुङ्क्ते=तामाविश्य भुङ्क्ते, पीडयति च। कृतं रक्षाविधानं यस्याः सा तां–कृतरक्षाविधानाम् = कृतमन्त्ररक्षाम्। 'रक्षोपधाना'मिति मुद्रितस्त्वशुद्धः पाठः। तत्समये=रात्रिसमये। रक्षसः सान्निध्यं तेन जायते या सा तां–रक्षःसान्निध्यजा–राक्षसावेशसम्भूताम्। कम्पादिभिः=गात्रकम्पादिभिः।

अतिक्रामति=गच्छति। काले=समये। मध्यनिशायां=निशीथे। गृहकोणे=राजकन्याभवनकोणे। विकालः=विकालनामा राक्षसः, भीषणाकृतिर्वा। समये=स्वावसरेऽर्धरात्रे। कदर्थयति=पीडयति। दुरात्मनः=दुष्टस्य। प्रतिषेधोपायः=निवारणोपायः।

नूनम्=अवश्यम्। अहं-यथाहरणायागच्छामि इति सम्बन्धः। विकालनामा=विकालाख्यः। किं रूपं यस्यासौ–किंरूपः=कीदृशाकारः। कः प्रभावो

सच सर्वानश्वानवलोक्य तं राक्षसमश्वतमं विज्ञायाऽधिरूढः। अत्राऽन्तरे राक्षसश्चिन्तयामास–'नूनमेष विकालनामा राक्षसो मां चौरं मत्वा कोपाग्निहन्तुमागतः। तत्किं करोमि'?। एवं चिन्तयन्सोऽपि तेन खलीनं मुखे निधाय कशाघातेन ताडितः। अथासौ भयत्रस्तमनाः प्रधावितुमारब्ध'।

चौरोऽपि दूरं गत्वा खलीनाकर्षणेन तं स्थिरं कर्तुमारब्धवान्। स तु केवलं वेगाद्वेगतरं गच्छति। अथ तं तथाऽगणितखलीनाकर्षणं मत्वा चौरश्चिन्तयामास—'अहो! नैवंविधा वाजिनो भवन्त्यगणितखलीनाः। तन्नूनमनेनाऽश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम्। तद्यदि कश्चित्पांसुलं भूमिदेशमवलोकयामि तदात्मानं तत्र पातयामि, नान्यथा मे जीवितव्यमस्ति। एवं चिन्तयत इष्टदेवतां स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्तः। चौरोऽपि वटप्ररोहमासाद्य तत्रैव विलग्नः। ततो द्वावपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ।

अथ तत्र वटे कश्चिद्राक्षससुहृद्वानर स्थित आसीत्। तेन राक्षसं त्रस्तमालोक्य व्याहृतम्—'भो मित्र! किमेवं पलाय्यते-

---

-यस्यासौ-कि प्रभाव=कीदृशशक्तिसम्पन्नः। निशीथसमये=अर्धरात्रे। राजगृहे=राजकीयाऽश्वशालायाम्। अश्वतमं=श्रेष्ठमश्वम्। अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे। चौरं=कन्यापीडकं चौरम्। स.=राक्षस.। तेन=अश्वचौरेण। खलीन=कविकम्। ('घोडे की लगाम')। मुखे=राक्षसमुखे। कशाघातेन=अश्वताडनोपकरणाघातेन। (कशा=चाबुक)।

असौ=कन्याचोरो राक्षस। भयेन त्रस्त मनो यस्यासौ भयत्रस्तमनाः=भयातुर.। आरब्धमस्यास्तीत्यारब्ध। अर्श आद्यच्। यद्वा कर्मणोऽविवक्षया कर्त्तरि क्त।आरब्धवानित्यर्थः। खलीनाकर्षणेन=कविकाकर्षणेन। तम्=अश्वम्। वेगादपि वेगतरं यथा स्यात्तथा गच्छति=यथा यथा स्थिरीकर्त्तुं चौर खलीनमाकर्षति तथा तथाऽसौ राक्षसो नितरा धावते। न गणितं खलीनं यैस्ते–अगणितखलीना.=खलीनाकर्षणेऽपि न स्थिरतां भजन्तः। (खलीन='लगाम')। पांसुलं=सिकताबहुलम्। जीवितव्यं=जीवनम्। वटप्ररोह=वटजटाम्। विलग्न=वटमारुरोह। परममानन्दं भजत इति–परमानन्दभाजौ=अतिहर्षितौ।

ऽलीकभयेन ? । त्वद्भक्ष्योऽयं मानुषः । भक्ष्यताम् ।'

सोऽपि वानरवचो निशम्य स्वरूपमाधाय शङ्कितमनाः स्खलितगतिर्निवृत्तः । चौरोऽपि तं वानराहूतं ज्ञात्वा कोपात्तस्य लाङ्गूलं लम्बमानं मुखे निधाय चर्वितवान्। वानरोऽपि तं राक्षसाभ्यधिकं मन्यमानो भयान्न किञ्चिदुक्तवान्, केवलं व्यथार्तो निमीलितनयनस्तिष्ठति । राक्षसोऽपि तं तथाभूतमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—

'यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर ! ।
विकालेन गृहीतोऽसि, यः परैति स जीवति' ॥ ८४ ॥

उक्त्वा प्रनष्टश्च । * तत्प्रेषय मां येन गृहं गच्छामि। त्वं पुनरनुभुङ्क्ष्वाऽत्र स्थित एव लोभवृक्षफलम् ।'

चक्रधरः प्राह-'भोः ! अकारणमेतत्। दैववशात्सम्पद्यते नृणां शुभाऽशुभम् । उक्तञ्च—

दुर्गस्त्रिकूटः, परिखा समुद्रो, रक्षांसि योधा, धनदाच्च वित्तम् ।
शास्त्रं च यस्योशनसा प्रणीतं, स रावणो दैववशाद्विपन्नः ॥८५॥

राक्षससुहृत्=अश्वरूपधारिराक्षसमित्रम् । तेन=वानरेण । अलीकभयेन=मिथ्याभयेन । त्वद्भक्ष्यः=तव राक्षसस्य भक्ष्यभूतः । स्वरूपं=राक्षसाकारम् । आधाय=गृहीत्वा । शङ्कितमनाः=किमयं मनुष्यो राक्षसो वेति शङ्कमानः । अत एव स्खलद्गतिः=मन्दमन्दगमनः । 'स्खलितगतिः' इति पाठान्तरम् । तं=राक्षसम् । वानरेण आहूतम्=आकारितम् । तस्य=वानरस्य । लाङ्गूलं=पुच्छम् । निधाय=स्थापयित्वा । राक्षसाभ्यधिकं=राक्षसादपि बलीयांसम् । व्यथार्तः=पीडाकुलः । अत एव निमीलितनयनः=निमीलितलोचनः । तं=वानरम् । प्रनष्टश्च=पलायितश्च (भाग गया) ॥ ८४ ॥

मां=सुवर्णसिद्धिम् । अनुभुङ्क्ष्व=अनुभव । एतत्=मदीयं दुःखम् । अकारणं=मदीयलोभादिरूपकारणशून्यम् । दैववशात्=अदृष्टाधीनतया । त्रिकूटः=त्रिकूटपर्वतः । दुर्गः=कोट्टादिकं । ('किला')। समुद्रः-परिखा=खेयम् । ('खाई') । धनदात्=कुबेरात् । उशनसा=शुक्रेण । प्रणीतं=निर्मितम् । शास्त्रं=नीतिशास्त्रम् ।

तथा च–अन्धकः कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः संमुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८६ ॥

सुवर्णसिद्धिः प्राह—'कथमेतत्'? । सोऽब्रवीत्—

११. अन्धककुब्जकत्रिस्तनीकथा[2]

अस्त्युत्तरापथे मधुपुरं नाम नगरम्। तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव। तस्य कदाचिद्विषयसुखमनुभवतस्त्रिस्तनी कन्या बभूव।

अथ तां त्रिस्तनीं जातां श्रुत्वा स राजा कञ्चुकिनः प्रोवाच–'भद्रोः! त्यज्यतामियं त्रिस्तनी गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चिन्न जानाति'। तच्छ्रुत्वा कञ्चुकिनः प्रोचुः–'महाराज! ज्ञायते यदनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति, तथापि ब्राह्मणा आहूय प्रष्टव्या येन लोकद्वयं न विरुध्यते। यतः—

यः सततं परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धिः ॥ ८७ ॥

तथा च–पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ८८ ॥

राजा आह—'कथमेतत्?'। ते प्रोचुः—

१२. राक्षसगृहीतब्राह्मणकथा

'देव! कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चण्डकर्मा नाम राक्षसः प्रति

यस्य=रावणस्य। 'मन्त्राधारभूत'मिति शेषः। दैववशात्=भाग्यविपर्ययात्। विपन्नः=कालवशङ्गतः ॥ ८५ ॥

विषयसुखं=स्त्रीसेवाम्। कञ्चुकिनः=अन्तःपुररक्षकान्। न विरुध्यते=न विरुद्धं भवति, पापमयशश्च न भवति। अनिशं=निरन्तरम्। नलिनीव=कमलिनीव। विवर्द्धते=विकसति ॥ ८७ ॥

---

१. 'अनयोऽपि नयं याति यावच्छ्रीर्भजते नरम्।' पाठान्तरम्।

२. इयङ्कथाऽश्लीलत्वात्काशिकराजकीयप्रथमपरीक्षापाठ्यबहिर्भूता।

वसति स्म। एकदा तेन भ्रमताऽटव्यां कश्चिद्ब्राह्मणः समासादितः।

ततस्तस्य स्कन्धमारुह्य प्रोवाच–'भोः! अग्रेसरो गम्यताम्[1]।' ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनास्तमादाय प्रस्थितः। अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो राक्षसमपृच्छत्–'भोः! किमेवंविधौ ते पादावतिकोमलौ?।' राक्षस आह–'भोः! व्रतमस्ति,–नाहमार्द्रपादो[2] भूमिं स्पृशामि।' ततस्तच्छ्रुत्वाऽऽत्मनो मोक्षोपायं चिन्तयन्स सरः प्राप्तः।

ततो राक्षसेनाभिहितम्–'भोः! यावदहं स्नानं कृत्वा देवताऽर्चनविधिं विधायाऽऽगच्छामि तावत्त्वयाऽतः स्थानादन्यत्र न गन्तव्यम्।' तथानुष्ठिते द्विजश्चिन्तयामास–'नूनं देवतार्चनविधेरूर्ध्वं मामेष भक्षयिष्यति, तद्द्रुततरं गच्छामि, येनैष आर्द्रपादो न मम पृष्ठमेष्यति।

तथाऽनुष्ठिते राक्षसो व्रतभङ्गभयात्तस्य पृष्ठं न गतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'पृच्छकेन सदा भाव्यम्–' इति। ❀

अथ तेभ्यस्तच्छ्रुत्वा राजा द्विजानाहूय प्रोवाच–'भो ब्राह्मणाः! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना,–तत्किं तस्याः प्रतिविधानमस्ति, न वा?। ते प्रोचुः–देव! श्रूयताम्—

'हीनाङ्गी वाऽधिकाङ्गी वा या भवेत्कन्यका नृणाम्।
भर्तुः स्यात्सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च॥ ८९॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम्।
पितरं नाशयत्येव सा द्रुतं नाऽत्र संशयः'॥ ९०॥

तस्मादस्या दर्शनं परिहरतु देवः। तथा–यदि कश्चिदुद्वाह-

नूनम्=अवश्यम्। तेभ्य.=कञ्चुकिभ्य.। प्रतिविधानम्=उपायः। स्वशीलनिधनाय=स्वचरित्रभङ्गाय। लोचनगोचरं=दर्शनम्॥ ९०॥

---

१. 'अग्रेसरेण गम्यता'मिति गौडा. पठन्ति। २ 'अनुद्धानपाद' इति लिखिते पाठ', स एव शोभनः। तत्र-अनुद्धानम्=अनावृतम्। ('उभाणा पैर' इति भाषायाम्।)

यति, तदेनां तस्मै दत्त्वा देशत्यागेन स नियोजयितव्यः'-इति। एवं कृते लोकद्वयाऽविरुद्धता भवति।'

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणामाज्ञापयामास-'अहो! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चिदुद्वाहयति स सुवर्णलक्षमाप्नोति, देशत्यागश्च।' एवं तस्यामाघोषणायां क्रियमाणायां महान्कालो व्यतीतः। न कश्चित्तां प्रतिगृह्णाति।

साऽपि यौवनोन्मुखी सञ्जाता सुगुप्तस्थानस्थिता यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति। अथ तत्रैव नगरे कश्चिदन्धस्तिष्ठति। तस्य च मन्थरकनामा कुब्जोऽग्रेसरो यष्टिग्राही। ताभ्यां तं पटहशब्दमाकर्ण्य मिथो मन्त्रितम्-'स्पृश्यतेऽयं पटहः। यदि कथमपि दैवात्कन्या लभ्यते,-सुवर्णप्राप्तिश्च भवति-तदा सुखेन सुवर्णप्राप्त्या कालो व्रजति। अथ यदि तस्या दोषतो मृत्युर्भवति, तदा दारिद्र्योपात्तस्यास्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति। उक्तञ्च—

लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः
कान्तासङ्गः स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः॥
धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां सम्भवन्ति॥९१॥

एवमुक्त्वा अन्धेन गत्वा स पटहः स्पृष्टः। उक्तञ्च-'भोः! अहं तां कन्यामुद्वाहयामि यदि राजा मे प्रयच्छति।' ततस्ते राजपुरुषैर्गत्वा राज्ञे निवेदितम्-'देव! अन्धेन केनचित्पटहः स्पृष्टः। तदत्र विषये देवः प्रमाणम्।' राजा प्राह—

'अन्धो वा बधिरो वाऽपि कुष्ठी वाऽप्यन्त्यजोऽपि वा।
प्रतिगृह्णातु तां कन्यां सलक्षां स्याद्विदेशगः'॥ ९२॥

अथ राजादेशात्ते रक्षापुरुषैस्तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षेण

सुवर्णलक्ष=निष्कलक्षम्। [१ लाख सोने की मोहर]।

अग्रेसर'=अग्रयायी। मिथ =परस्परम्। मन्त्रितं=विचारितम्। पर्यन्तः=समाप्ति। जठरपिठरे=उदरपात्रे ॥ ९१ ॥ विदेशग'=निर्वासित ॥ ९२ ॥

समं विवाहविधिना त्रिस्तनीं तस्मै दत्त्वा जलयाने निधाय कैवर्ताः प्रोक्ताः-'भोः ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिश्चिदधिष्ठानेऽन्धः सपत्नीकः कुब्जकेन सह मोचनीयः।' तथानुष्ठिते विदेशमासाद्य कस्मिश्चिदधिष्ठाने कैवर्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन कालं नयन्ति स्म। केवलमन्धः पर्यङ्के सुप्तस्तिष्ठति, गृहव्यापारं मन्थरकः करोति। एवं गच्छता कालेन त्रिस्तन्याः कुब्जकेन सह विकृतिः समपद्यत। अथवा साध्विदमुच्यते—

'यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मकः।
सुस्वादः सागरः स्त्रीणां तत्सतीत्वं प्रजायते' ॥ ९२ ॥

अथाऽन्येद्युस्त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः-'भो ! सुभग ! यद्येषोऽन्धः कथञ्चिद्व्यापाद्यते, तदाऽऽवयोः सुखेन कालो याति। तदन्विष्यतां कुत्रचिद्विषम्। येनास्मै तत्प्रदाय सुखिनी भवामि।'

अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता मृतः कृष्णसर्पः प्राप्तः। तं गृहीत्वा प्रहृष्टमना गृहमभ्येत्य तामाह-'सुभगे ! लब्धोऽयं कृष्णसर्पः, तदेनं खण्डशः कृत्वा प्रभूतशुण्ठ्यादिभिः संस्कार्याऽस्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ, येन द्राग्विनश्यति। यतोऽस्य मत्स्यस्यामिषं सदा प्रियम्।'

एवमुक्त्वा मन्थरको बहिर्गतः।[1]

सापि प्रदीप्ते वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डशः कृत्वा तक्रस्थाल्यामाधाय गृहव्यापाराकुला तं विकलाक्षं सप्रश्रयमुवाच-'आर्यपुत्र ! तवाभीष्टं मत्स्यमांसं समानीतम्। यतस्त्वं सदैव तत्पृच्छसि। ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति। तद्यावदहं गृहकृत्यं करोमि, तावत्त्वं दर्वीमादाय क्षणमेकं तान्प्रचालय।'

कैवर्ताः=धीवराः। पर्यङ्के=मञ्चके। विकृति =पापसम्बन्धः। दहनात्मकः=उष्णः। तत्=तर्हि ॥ ९२ ॥

संस्कार्य=संसाध्य (पका कर)। मत्स्यामिष=मत्स्यमासम्। द्राक्=झटिति। विकलाक्षम्=अन्धम्। सप्रश्रय=सस्नेहम्। आर्यपुत्र=प्रिय ! कान्त !। दर्वीम्=

१ 'बाह्ये गतः'। पा०

सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृक्कणी परिलिहन्द्रुतमुत्थाय दर्वीमादाय प्रमथितुमारब्धः। अथ तस्य मत्स्यान्मथ्नतो विषगर्भवाष्पेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षुर्भ्यामगलत्। असावप्यन्धस्तं बहुगुणं मन्यमानो विशेषान्नेत्राभ्यां वाष्पग्रहणमकरोत्।

ततो लब्धदृष्टिर्जातो यावत्पश्यति तावत्तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केवलान्येवावलोकयति।

ततो व्यचिन्तयत्–'अहो! किमेतत्? मम मत्स्यामिषं कथितमासीदनया। एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि!। तत्तावद्विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याश्चेष्टितं–'किं मम वधोपायक्रमः, कुब्जस्य वा?, उताहो अन्यस्य वा कस्यचित्?'। एवं विचिन्त्य स्वाकारं गूहन्नन्धवत्कर्म करोति यथा पुरा।

अत्रान्तरे कुब्जः समागत्य निःशङ्कतयाऽऽलिङ्गनचुम्बनादिभिस्त्रिस्तनीं सेवितुमुपचक्रमे। सोऽप्यन्धस्तमवलोकयन्नपि यावन्न किञ्चिच्छस्त्रं पश्यति, तावत्कोपव्याकुलमनाः पूर्ववच्छयनं गत्वा, कुब्जं चरणाभ्यां सङ्गृह्य, सामर्थ्यात्स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा, त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत्। अथ कुब्जप्रहारेण तस्यास्तृतीयः स्तन उरसि प्रविष्टः। तथा बलान्मस्तकोपरि भ्रामणेन कुब्जः प्राञ्जलतां गतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'अन्धकः कुब्जकश्चैव–' इति। ❀

सुवर्णसिद्धिराह[1]–'भोः! सत्यमेतत्, दैवानुकूलतया सर्वं कल्याणं सम्पद्यते, तथापि पुरुषेण सतां वचनं कार्यम्। न पुनरे-

कम्बिम् (चमचा)। सृक्कणी=ओष्ठप्रान्तौ। आस्वादरसानुभवात्–परिलिहन्। विषगर्भवाष्पेण=विषमिलितधूमेन। नीलपटलम्=नेत्रयोर्नीलमावरणम्। ('झिल्ली')। अगलत्=पपात। बहुगुणं=लाभप्रदम्। कुब्जस्य वेति। अस्य 'वधार्थमुपायः' इति शेषः। स्वाकारं=स्वभावम्। गूहन्=रक्षन्। (छिपाकर)। सामर्थ्यात्=शक्त्या। हृदये=उरःस्थले। प्राञ्जलता=सरलताम्।

दैवानुकूलतया=अदृष्टानुकूल्येन। कल्याणं=शुभम्। पुरुषेण=विदुषा। असं–

१ 'सुवर्णसिद्ध आह'। पा०

-चमेव वर्त्तितव्यम् । अथ एवमेव यो वर्त्तते स त्वमिव विनश्यति ।

तथा च—एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः ।
असंहता विनश्यन्ति भारुण्डा[1] इव पक्षिणः ॥ ८६ ॥

चक्रधर आह-'कथमेतत्' ? । सोऽब्रवीत्—

१३ एकोदरभारुण्डकथा

कस्मिंश्चित्सरोवरे भारुण्डनामा पक्षी एकोदरः पृथग्ग्रीवः प्रतिवसति स्म । तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किंचित्फलममृतकल्पं तरङ्गाक्षिप्तं सम्प्राप्तम् । सोऽपि भक्षयन्निदमाह-'अहो ! बहूनि मयाऽमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोलाहृतानि फलानि भक्षितानि । परमपूर्वोऽस्याऽऽस्वादः । तत्किं पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवम् ?, किं वा किंचिदमृतमयफलमव्यक्तेनापि विधिनाऽऽपतितम् ! ।'

एवं तस्य ब्रुवतो द्वितीयमुखेनाऽभिहितम्-'भोः, यद्येवं तन्ममापि स्तोकं प्रयच्छ, येनाहमपि जिह्वासौख्यमनुभवामि ।'

ततो विहस्य प्रथमवक्त्रेणाभिहितम्—'आवयोस्तावदेकमुदरम्, एका तृप्तिश्च भवति । ततः किं पृथग्भक्षितेन ?। वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते' ।

हतेन=अमिलितेन-स्वेच्छाचारिणा । एकमुदरं येषान्ते-एकोदराः । पृथक् ग्रीवा येषान्ते-पृथग्ग्रीवाः=भिन्नकण्ठमालाः,अत एव भिन्नवदनाः । अन्योन्यं पृथक् फलानि भक्षितुं शीलं येषान्ते—अन्योन्यफलभक्षिणः=परस्परविरुद्धफलभक्षणशीलाः॥८६॥

सरोवरे=महति जलाशये । पृथग्ग्रीवः=द्विमुखः । अमृतकल्पम्=अमृतमधुरम् । तरङ्गैः आक्षिप्तं-तरङ्गाक्षिप्तं=जलतरङ्गानीतम् । समुद्रकल्लोलाहृतानि=वारिधितरङ्गानीतानि । परं=किन्तु । आस्वाद्यतेऽसौ-आस्वादः=माधुर्यादिरसः । (स्वाद) । पारिजातहरिचन्दनतरुसम्भवं=देवतरुसमुद्भूतम् ।

अमृतमयफलम्=साक्षादमृतस्यैव फलम् । अव्यक्तेनापि-विधिना=अलक्षितेन केनचिन्मार्गेण, भाग्येन वा । अदृष्टवशात् । तस्य=भारुण्डस्य । स्तोकम्=

---

१ 'भारण्डाः' इति पा० ।

एवमभिधाय तेन शेषं भारुण्ड्याः प्रदत्तम्। सापि तदास्वाद्य प्रहृष्टतमा–आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनाद्यनेकचाटुपरा च बभूव।

द्वितीयं मुखं तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेगं सविषादं च तिष्ठति।

अथान्येद्युर्द्वितीयमुखेन विषफलं प्राप्तम्। तद् दृष्ट्वाऽपरमाह–'भो निस्त्रिंश! पुरुषाधम! निरपेक्ष! मया विषफलमासादितम्, तत्तवाऽपमानाद्भक्षयामि।' अपरेणाऽभिहितम्–'मूर्ख! मा मैवं कुरु। एवं कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति'।

अथैवं वदता तेनापमानेन तत्फलं भक्षितम्। किं बहुना, द्वावपि विनष्टौ। अतोऽहं ब्रवीमि–'एकोदरा पृथग्ग्रीवा' इति ॥*

चक्रधर आह–'सत्यमेतत्। तद्गच्छ गृहम्। परमेकाकिना न गन्तव्यम्। उक्तञ्च—

एकः स्वादु न भुञ्जीत, नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं, नैकश्चार्थान्प्रचिन्तयेत् ॥ ८७ ॥

अपि च—

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीय. क्षेमकारकः।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवित परिरक्षितम् ॥ ८८ ॥

अल्पतमम्। प्रयच्छ=देहि। जिह्व सौख्य=जिह्वासन्तर्पणम्। वक्त्रं=मुखम्। शेषेण=अवशिष्टेन। प्रिया=भार्या। भारुण्ड्या =स्वभार्यायै। शेषत्वविवक्षया षष्ठी। सा=भारुण्डी। तत्=अमृतफलम्। प्रहृष्टतमा=प्रसन्ना। आलिङ्गनं=समाश्लेष। चुम्बनम्–प्रसिद्धम्। सम्भावन=कटाक्षनिक्षेप। आमर्शनादिकं वा। चाटु=प्रिय हृद्यं वाक्यम्। सोद्वेगम्=अरतिसमाकुलम्। सविषादं=सखेदम्।

अपर=प्रथमं मुखम्। निस्त्रिंश=निष्करुण। पुरुषेषु अधम=नीच। निरपेक्ष=परपीडानभिज्ञ। आत्ममानिन्!। द्वयोरपि=आवयोर्द्वयोरपि। एकोदरतया। विनाश =मरणम्। वदन्तमपि–'अनादृत्ये'त शेष। किं बहुना=किमधिकजल्पनेन। 'सङ्क्षिप्य कथाङ्कथयामी'ति यावत्। द्वावपि=द्वावपि भारुण्डौ। स्वादु=मधुरम्। एक =एकाकी। सुप्तेषु=अन्येषु सुप्तेषु सत्सु। अर्थान्=चिन्तनीयान् जटिलान् विषयान् ॥ ८७ ॥

कापुरुषः=भीरु। द्वितीयं=सहायभूतश्चेत्। क्षेमकारक =सुखप्रद। जीवितं=

सुवर्णसिद्धिराह—'कथमेतत् ?'। सोऽब्रवीत्,—

१४. पान्थब्राह्मणकर्कटकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म। स च प्रयोजनवशाद्ग्रामं प्रस्थितः स्वमात्राऽभिहितोयत्—'वत्स !, कथमेकाकी व्रजसि ?। तदन्विष्यतां कश्चिद् द्वितीयः सहायः।'

स आह—'अम्ब ! मा भैषीः, निरुपद्रवोऽयं मार्गः, कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि।' अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात्कर्कटमादाय मात्राऽभिहित—'वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेष कर्कटोऽपि सहायो भवतु। तदेनं गृहीत्वा गच्छ।

सोऽपि मातुर्वचनादुभाभ्यां पाणिभ्यां तं संगृह्य कर्पूरपुटिका मध्ये निधाय, पात्रमध्ये संस्थाप्य, शीघ्रं प्रस्थितः।

अथ गच्छन्ग्रीष्मोष्मणा सन्ततः कञ्चिन्मार्गस्थवृक्षमासाद्य तत्रैव प्रसुप्तः। अत्रान्तरे वृक्षकोटरान्निर्गत्य सर्पस्तत्समीपमागतः।

स च कर्पूरसुगन्धसहजप्रियत्वात्तं परित्यज्य वस्त्रं विदार्याभ्यन्तरगतां कर्पूरपुटिकामतिलौल्यादभक्षयत्। सोऽपि कर्कटस्तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणानपाहरत्। ब्राह्मणोऽपि यावत्प्रबुद्धः पश्यति तावत्समीपे मृतः कृष्णसर्पो निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—'कर्कटेनाऽयं हतः' इति।

प्राणा. ॥ ८८ ॥ अधिष्ठाने=नगरे। प्रयोजनवशात्-आवश्यककार्यप्रसङ्गात्। प्रस्थितः=चलित। अन्विष्यताम्=अन्विष्य सहैव नीयताम्। द्वितीय=अपर· सहाय·। समीपस्थवाप्या=निकटवर्त्तिवापीत। मात्रा=जनन्या। कर्कट=कुलीरः। सहायः=द्वितीय. सहचर। तं=कर्कटम्। पुटिका=अल्प· सम्पुट (डिब्बी)।

ग्रीष्मोष्मणा=ग्रीष्मर्त्तुघर्मेण। आसाद्य=लब्ध्वा। वृक्षकोटरात्=वृक्षकुक्षिकुहरात्। स.=सर्प.। कर्पूरसुगन्ध. सहज प्रियो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्=कर्पूरसुगन्धनिसर्गप्रियतया। त==पान्थ ब्रह्मदत्तम्।

अभ्यन्तरगतां=मध्यस्थिताम्। अतिलौल्यात्=अत्यौत्कण्ठ्यात्। तत्रैव=

प्रसन्नो भूत्वाऽब्रवीच्च–'भोः ! सत्यमभिहितं मम मात्रा, यत्पुरुषेण कोऽपि सहाय. कार्यः, नैकाकिना गन्तव्यम्, यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनमनुष्ठितम्, तेनाहं कर्कटेन सर्पव्यापादनाद्रक्षितः। अथवा साध्विदमुच्यते—

'क्षीणः श्रयति शशी रविमृद्धो वर्धयति पाथसां नाथम्।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥ ८९ ॥

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' ॥ ९० ॥

एवमुक्त्वाऽसौ ब्राह्मणो यथाभिप्रेतं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'अपि कापुरुषो मार्गे' इति। ❀

कर्पूरपुटिकायाम्। प्रबुद्ध =सुप्तोत्थित । कोऽपि=कश्चिदपि। श्रद्धया पूरितम्–समन्वितं चेतो यस्यासौ तेन श्रद्धापूरितचेतसा=श्रद्धालुना। सर्पव्यापादनात्=सर्पमारणात्।

क्षीण.=अमावास्याया नष्टकलो भूत्वा। शशी=चन्द्र । रवि श्रयति=सूर्यमाश्रयते। परन्तु–ऋद्ध =पूर्णकलो यदा भवति (पूर्णिमाया)–तदा। पाथसाम्-जलानाम्। नाथ=समुद्रम्। वर्द्धयति=प्रवर्द्धयति, हर्षयति–न रविम्, इत्यहो ! कृतघ्नता चन्द्रस्य। तदाह–अन्य इति। धनिना विपदि सहाया. खलु अन्ये भवन्ति, परन्तु–समृद्धिकाले श्रियमन्येऽनुभवन्ति। समृद्धिसमये ये सन्निहितास्ते न विपदि सहायता कुर्वन्ति। ये च खलु विपदि सहायास्ते धनिभि स्वसमृद्धौ न स्मर्यन्ते। एवञ्च विपदि सहायभूतो जन सर्वथा स्मरणीयो रक्षणीयश्चेत्याशय. ॥ ८९ ॥ मन्त्रे=तान्त्रिके वैदिके वा मन्त्रे। तीर्थे=गङ्गादितीर्थे। द्विजे=ब्राह्मणे। दैवज्ञे=मौहूर्त्तिके। भेषजे=औषधे। यस्य पुंस यादृशी भावना=विश्वास, तस्य खलु तादृशी=तथैव सिद्धिर्भवति। देवद्विजगुर्वादीन् देवादिबुद्ध्या आस्तिक्येन विश्वसन् सिद्धिमृच्छति। अतो गुर्वादीनां वचनं सर्वदा पालनीयं, तद्वचसि च दृढो विश्वासो हि फलदायको भवतीत्यर्थ ॥ ९० ॥

---

१ 'स्मरति'। २ 'रविवृद्धौ'।

एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिस्तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः ।

❀ इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रेऽपरीक्षितकारकम् ❀

अनुज्ञाप्य=तं प्रार्थ्य, तदाज्ञां च लब्ध्वेत्यर्थः । श्रीहरिः ।

इति जगद्विदितमाहात्म्य-षट्शास्त्रवाचस्पति-मरुमण्डलमार्त्तण्ड-पण्डितराज-
कैलासवासि-श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, 'प्रतिवादिभयङ्करभयङ्कर-
विद्यावाचस्पति-न्यायशास्त्राचार्य-कैलासवासि-श्रीशिवनारायण-
शास्त्रिणां पुत्रेण, सतिसार्वभौमश्री 'राजलक्ष्मी'गर्भसम्भवेन
साकेतपुरवासि सेठश्रीराधाकृष्णजीपोद्दारलब्ध-
साहाय्येन, श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विर-
चितायां पञ्चतन्त्राऽभिनवराज-
लक्ष्म्यामपरीक्षितकारिता
नाम पञ्चमं तन्त्रम् ।

समाप्तञ्चेदं पञ्चतन्त्रं नाम नीतिशास्त्रम्

सर्वविधपुस्तकप्राप्तिस्थानम्—
भार्गव पुस्तकालय,
गायघाट बनारस सिटी ।